महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

भारतीय काव्यशास्त्र

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
प्रथम सेमेस्टर
तृतीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 03

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

भारतीय काव्यशास्त्र

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग एवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : जुलाई 2017

पाठ-रचना

प्रो॰ बहादुर मिश्र
प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, तिलकामाझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार

खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2, एवं 3
खण्ड – 2 : इकाई – 1
खण्ड – 3 : इकाई – 1
खण्ड – 4 : इकाई – 1

प्रो॰ बालेन्दु शेखर तिवारी
पूर्व प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड

खण्ड – 5 : इकाई – 1
खण्ड – 6 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ॰ कर्मानंद आर्य
सहायक प्राध्यापक
भारतीय भाषा केंद्र, हिंदी, दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया, बिहार

खण्ड – 7 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ॰ मीनेश जैन
असिस्टेंट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, सनराइज विश्वविद्यालय, अलवर, राजस्थान

खण्ड – 8 : इकाई – 1 एवं 2

प्रो॰ तपेश्वरनाथ
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (सेवानिवृत्त)
हिन्दी विभाग, तिलकामाझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

खण्ड – 9 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ० उमेश कुमार पाठक
सहायक प्रोफेसर
संचार एवं पत्रकारिता विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय क्षेत्रीय केंद्र, खान्यारा, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

खण्ड – 9 : इकाई – 3 एवं 4

डॉ० हरीश कुमार
सहायक प्रोफेसर
हिंदी अनुभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

खण्ड – 10 : इकाई – 1

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पहला प्रूफ़

श्री महेन्द्र प्रसाद
सम्पादकीय सहायक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किये गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

प्रथम सेमेस्टर
तृतीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 03
पाठ्यचर्या का शीर्षक : भारतीय काव्यशास्त्र

क्रेडिट – 04

खण्ड – 01 : काव्य का स्वरूप
- इकाई – 1 : काव्य-लक्षण
- इकाई – 2 : काव्य-हेतु
- इकाई – 3 : काव्य-प्रयोजन

खण्ड – 02 : काव्य के भेद
- इकाई – 1 : काव्य के भेद

खण्ड – 03 : शब्द-शक्तियाँ
- इकाई – 1 : शब्द-शक्तियाँ : अर्थ और भेद

खण्ड – 04 : अलंकार सिद्धान्त
- इकाई – 1 : अलंकारों का वर्गीकरण, मूल स्थापनाएँ और मूल्यांकन

खण्ड – 05 : गुण सिद्धान्त
- इकाई – 1 : गुण : स्वरूप-विवेचन, काव्य-गुण और मूल्यांकन

खण्ड – 06 : रीति सिद्धान्त
- इकाई – 1 : रीति : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
- इकाई – 2 : रीति के भेद या प्रकार, रीति एवं शैली (स्टाइल)

खण्ड – 07 : वक्रोक्ति सिद्धान्त
- इकाई – 1 : वक्रोक्ति की अवधारणा, अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
- इकाई – 2 : वक्रोक्ति के भेद, वक्रोत्ति एवं अभिव्यंजनावाद

खण्ड – 08 : ध्वनि सिद्धान्त
- इकाई – 1 : ध्वनि का अर्थ, लक्षण और स्वरूप, काव्यात्मा के रूप में ध्वनि, ध्वनि तथा रस सिद्धान्त का सम्बन्ध
- इकाई – 2 : ध्वनि-काव्य और उसके भेद, गुणीभूत व्यंग्य और उसके भेद, अधम काव्य (चित्रकाव्य)

खण्ड – 09 :

इकाई – 1 : रस : अर्थ एवं परिभाषा, भाव : स्वरूप और महत्त्व, रस तथा भाव का सम्बन्ध, रस के अवयव, रस का स्वरूप

इकाई – 2 : भरत के रस सूत्र की व्याख्या, रस-निष्पति : उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद

इकाई – 3 : रस और साधारणीकरण, सहृदय की अवधारणा

इकाई – 4 : काव्य की आत्मा और रस, रस की सुख-दुःखात्मकता

खण्ड – 10 : औचित्य सिद्धान्त

इकाई – 1 : औचित्य : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप, औचित्य के भेद

सहायक पुस्तकें :

01. औचित्य विमर्श, सत्यप्रकाश मिश्र
02. औचित्य विचार चर्चा, क्षेमेन्द्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
03. काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
04. काव्य के तत्त्व, देवेन्द्रनाथ शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
05. काव्यप्रकाशः, मम्मट, ज्ञानमण्डल, वाराणसी
06. काव्यमीमांसा, राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
07. काव्य में अभिव्यंजनावाद, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
08. काव्यादर्शः, दण्डी, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
09. काव्यालंकार, भामह, देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
10. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः, वामन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
11. कुवलयानन्दः, अप्पयदीक्षित, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
12. चन्द्रालोकः, जयदेव, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
13. दशरूपकम्, धनंजय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
14. ध्वन्यालोकः, आनन्दवर्धन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
15. नाट्यशास्त्र, भरत, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
16. नाट्यदर्पण, रामचन्द्र गुणचन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
17. प्राचीन भारतीय साहित्य मीमांसा : एक आकलन, अशोक रा. केलकर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
18. भारतीय काव्यशास्त्र, सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली
19. भारतीय काव्यशास्त्र, योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
20. भारतीय काव्यशास्त्र, सं. : उदयभानु सिंह, राजकेश प्रकाशन, नई दिल्ली
21. भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
22. भारतीय काव्य विमर्श, राममूर्ति त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
23. भारतीय साहित्यशास्त्र, गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, पॉपुलर बुक डिपो, मुंबई

24. भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, वाराणसी
25. भारतीय साहित्यशास्त्र, राजवंश सहाय 'हीरा', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
26. रसगंगाधरः, पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
27. रस-मीमांसा, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
28. रस-सिद्धान्त, नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
29. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, आनन्दप्रकाश दीक्षित
30. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
31. रसों की संख्या, वी. राघवन्, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
32. वक्रोक्तिजीवितम्, कुन्तक, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
33. सहृदय, विद्यानिवास मिश्र, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
34. साहित्यालोचन, श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
35. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पी. वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
36. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
37. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, भगीरथ मिश्र

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 01	इकाई – 1	10 – 32
02.	खण्ड – 01	इकाई – 2	33 – 44
03.	खण्ड – 01	इकाई – 3	45 – 60
04.	खण्ड – 02	इकाई – 1	61 – 82
05.	खण्ड – 03	इकाई – 1	83 – 114
06.	खण्ड – 04	इकाई – 1	115 – 143
07.	खण्ड – 05	इकाई – 1	144 – 161
08.	खण्ड – 06	इकाई – 1	162 – 179
09.	खण्ड – 06	इकाई – 2	180 – 201
10.	खण्ड – 07	इकाई – 1	202 – 214
11.	खण्ड – 07	इकाई – 2	215 – 233
12.	खण्ड – 08	इकाई – 1	234 – 246
13.	खण्ड – 08	इकाई – 2	247 – 266
14.	खण्ड – 09	इकाई – 1	267 – 283
15.	खण्ड – 09	इकाई – 2	284 – 300
16.	खण्ड – 09	इकाई – 3	301 – 313
17.	खण्ड – 09	इकाई – 4	314 – 325
18.	खण्ड – 10	इकाई – 1	326 – 337

खण्ड – 1 : काव्य का स्वरूप

इकाई – 1 : काव्य-लक्षण

इकाई की रूपरेखा

1.1.0 उद्देश्य कथन
1.1.1 प्रस्तावना
1.1.2 विषय-विस्तार
  1.1.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण
  1.1.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण (रीतिकालीन एवं आधुनिक)
1.1.3 समाहार
1.1.4 बोध प्रश्न
1.1.5 कठिन शब्दावली
1.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. बता पाएँगे कि काव्य का लक्षण कैसा होना चाहिए ?
ii. लक्षण और परिभाषा में क्या अन्तर है ?
iii. संस्कृत-काव्यशास्त्रियों ने किस प्रकार के काव्य-लक्षण दिए हैं ?
iv. हिन्दी काव्यशास्त्रियों ने किस प्रकार के काव्य-लक्षण दिए हैं ?
v. काव्य का सर्वोत्तम लक्षण कौन-सा है और क्यों ?

1.1.1 प्रस्तावना

कु (धातु) + ई (प्रत्यय) = कवि के गुणों से युक्त अथवा कर्म को काव्य कहते हैं। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार भट्टगोपाल के शब्दों में – "क इति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः । तस्य कर्म काव्यम् ।" आनन्दवर्धन, राजशेखर और विद्याधर भी लगभग यही बात कहते हैं। उनके मत द्रष्टव्य हैं –

<u>आनन्दवर्धन</u> : "कवनीयम् इति काव्यम्", अर्थात् (कवि का) रचना-व्यापार ही काव्य है।

<u>राजशेखर</u> : "कवृ वर्णे इत्यस्य धातोः । काव्य कर्मणारूपम् ।" अर्थात् 'कवृ' धातु से निष्पन्न 'कवि' का कर्म-रूप ही काव्य है।

विद्याधर : "कवयतीति कविः, तस्य कर्म काव्यम् ।" अर्थात् काव्य-कर्म करने वाला कवि कहलाता है और उसका कर्म काव्य ।

लक्ष् (धातु) + ल्युट् (प्रत्यय) = लक्षण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है, 'काव्य का वह विशेष धर्म, जो काव्य को वाङ्मय के अन्य प्रकारों या रूपों से अलग करें ।'

प्रायः लक्षण और परिभाषा को समानार्थी / पर्यायवाची समझा जाता है किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों में किंचित् अन्तर है । डॉ० निशा अग्रवाल का वक्तव्य देखा जाए – "वस्तुतः परिभाषा में तो काव्य के विशेष धर्म को इस प्रकार शब्दबद्ध किया जाता है कि वह अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोषों से दूर रहकर सुबोध और संक्षिप्त ढंग से काव्य के स्वरूप को स्पष्ट कर सके ।" (भारतीय काव्यशास्त्र; पृ.: 38)

जो हो, प्रस्तुत सन्दर्भ में (काव्य) लक्षण का प्रयोग परिभाषा के पर्याय के रूप में किया गया है ।

1.1.2 विषय-विस्तार

1.1.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण

1. आदि काव्यशास्त्री आचार्य भरत के अनुसार काव्य-लक्षण (विक्रम की प्रथम शती) :

संस्कृत साहित्य में प्राचीनतम आचार्य भरत ने काव्य को लक्षित करते हुए लिखा – "अर्थक्रियोपेतम् काव्यम्", अर्थात् अर्थ-क्रिया से युक्त काव्य है ।

प्रारम्भिक काल में काव्य नाट्य का ही अंग था । नाट्य में काव्यार्थ अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है जबकि काव्य में शब्दों के माध्यम से । इसीलिए नाट्य में अर्थ और क्रिया का संयोग रहता है जबकि काव्य में शब्द व अर्थ का ।

एक स्थल पर भरत ने काव्य का लक्षण तो नहीं, अपितु स्वरूप का वर्णन किया है । जो इस प्रकार है –

मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
सर्वजन सुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
स भवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्॥

(नाट्यशास्त्र – 17 / 123)

अर्थात् कोमल तथा मनोहर पदयुक्त, गूढ़ शब्दार्थ रहित सर्वज्ञेय, युक्तियुक्त, नृत्य में उपयोग करने योग्य, सरस, सन्धि-सन्धानयुक्त नाटक को वे उत्तम मानते हैं ।

यह दृश्यकाव्य का लक्षण न होकर स्वरूपांकन है। इससे सिद्ध होता है कि भरत नाटक या काव्य को लक्षण की सीमा में न बाँधकर स्वरूपांकन मात्र करते हैं।

2. 'अग्निपुराणम्' के अनुसार काव्य-लक्षण (अनुमानतः चौथी-पाँचवीं शती) :

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली ॥6॥
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥7॥

(अग्निपुराणम् – 337 / 6 – 7)

अर्थात् इष्ट अर्थ से युक्त पदों के समूह का नाम वाक्य है। जिस वाक्य-समूह में अलंकार स्पष्टतः दिखाई दें तथा जो गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त हो, उसे काव्य कहते हैं।

इस लक्षण में इष्ट, अर्थ, पद, अलंकार, गुण को काव्य के लिए वांछित तत्त्व माना गया है। वाक्य-समूह में अलंकार और गुण तो हों, लेकिन दोष बिल्कुल नहीं। यह लक्षण भरत के काव्य-लक्षण से तो निश्चयतः अच्छा है।

3. आचार्य भामह के अनुसार काव्य-लक्षण (ईसा की छठी शती) :

आचार्य भामह ने इन शब्दों में काव्य-लक्षण दिया है –

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद्विधा।

(काव्यालंकार – 1 / 16)

अर्थात् शब्द और अर्थ की संहति (सुमेल) काव्य है। जिस तरह भामह ने काव्य के लिए शब्दार्थ के सुमेल को अपेक्षित माना, उसी तरह भरत ने नाट्य के लिए अभिनय-साहित्य को। किन्तु प्रश्न उठता है कि शब्द और अर्थ का सुमेल तो काव्येतर वाङ्मय; जैसे – इतिहास, अर्थशास्त्र आदि में भी होता है, तब फिर उसे काव्य क्यों कहा जाए ? 'सहितौ' का विवक्षितार्थ क्या है, यह 'काव्यालंकार' में अस्पष्ट रह गया। बाद चलकर कुन्तक ने इसकी व्याख्या अवश्य की। उनके अनुसार, शब्द और अर्थ के बीच प्रतिस्पर्धा का ऐसा भाव होना चाहिए कि दोनों में से कौन अधिक सौन्दर्ययुक्त है।

इस प्रकार, भामह का काव्य-लक्षण अतिव्याप्ति-दोष से ग्रस्त होने के बावजूद तीन बातों की ओर संकेत करता है –

1. भामह से पूर्व शब्दवादी और अर्थवादी नामक विद्वानों के दो वर्ग थे।
2. शब्दवादी आचार्य काव्य को शब्द-रूप मानते थे जबकि अर्थवादी काव्य में अर्थ को प्रधान मानते थे।
3. शब्दवादी काव्य में शब्दालंकार को महत्त्व देते थे जबकि अर्थवादी अर्थालंकार को।

4. आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य-लक्षण (ईसा की छठी शती) :

तैः शरीरं च काव्यानाम् अलंकाराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥

(काव्यादर्श)

अर्थात् इष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली तो (काव्य का) शरीर मात्र है।

दण्डी ने इस तरह 'अग्निपुराण' का ही अनुसरण किया है। 'इष्टार्थ' से उनका क्या आशय है, इसे उन्होंने अव्याख्यायित ही छोड़ दिया। चूँकि उन्होंने काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार की संज्ञा दी है, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका इष्टार्थ अलंकारजन्य आह्लाद हो। दण्डी का यह काव्य-लक्षण सामान्य होते हुए भी इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यहीं से 'काव्यपुरुष' का रूप उदित हुआ। फलस्वरूप, काव्य की आत्मा की खोज प्रारम्भ हुई।

5. आचार्य वामन (8वीं शती) :

आचार्य वामन ने काव्य का स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है किन्तु उन्होंने काव्य की मान्यताओं व स्वरूप का निर्देश इस प्रकार किया है –

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। गग सौन्दर्यमलंकारः। गग स दोषगुणाऽलंकारहानादानाभ्याम्। गग काव्यशब्दोऽयं गुणाऽलंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।

(काव्यालंकार सूत्रवृत्ति – 1 / 1 / 1 – 2 – 3)

अर्थात् काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है। गग सौन्दर्य ही अलंकार है। काव्य में यह सौन्दर्य दोषों के परित्याग तथा गुणों व अलंकारों के प्रयोग से आता है।

वामन के इस कथन से काव्य का स्वरूप ही प्रकाशित होता है। अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मानकर, फिर दोष-त्यागपूर्वक गुणालंकार को ग्रहण कर वामन ने परवर्ती लाक्षणिकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। एक अन्य सूत्र में 'रीति को काव्य की आत्मा' ('रीतिरात्माकाव्यस्य' – का.सू.वृ. – 1 / 2/ 6) घोषित कर उन्होंने दण्डी-निर्दिष्ट निर्जीव काव्य-शरीर में प्राण डालने का काम किया।

वामन के उपरिनिर्दिष्ट सूत्रों में दो बार 'अलंकार' पद का प्रयोग हुआ है – एक, काव्य के समग्र सौन्दर्य के अर्थ में और दूसरा, सौन्दर्योपकरण के अर्थ में। अगर सौन्दर्य अलंकार है, साथ ही, उसके अन्तर्गत दोषों का त्याग तथा गुण व अलंकार का समावेश है तो भी दोनों अलंकारपद एक-दूसरे से अलग हैं। इन्होंने दण्डी की तरह

अलंकार को धर्म न मानकर गुण मात्र माना है और कहा कि अलंकार काव्य के गुणोत्कर्षक कारणस्वरूप हैं। परवर्ती आचार्यों में इसी प्रसंग को लेकर मतभेद रहा।

6. आचार्य रुद्रट (9वीं शती) :

"ननु शब्दार्थौ काव्यम्" (काव्यालंकार) कहकर आचार्य रुद्रट ने भामह के काव्य-लक्षण की ही आवृत्ति की। भामह ने तो शब्द और अर्थ के बीच 'सहितौ' – सहित-भाव की अनिवार्यता बतायी, जबकि रुद्रट ने इतना भर कहा कि निश्चयतः शब्द और अर्थ ही काव्य है।

7. आचार्य आनन्दवर्धन (9वीं शती) :

आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः काव्य-लक्षण नहीं दिया तथापि शब्दार्थगत लक्षण करने वालों के वे समर्थक थे। देखिए –

तत्र केचिदाक्षीरन्-शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्, तत्र च शब्दगताश्चारुत्व हेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव।

(ध्वन्यालोकः / प्रथमः उद्योतः)

अर्थात् कुछ लोग कहें कि काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है तथा उसमें शब्दगत चारुता हेतु अनुप्रास आदि प्रसिद्ध ही हैं। इसकी ठीक पीठ पर वे कहते हैं –"सहृदयहृदयाह्लादि-शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्" (प्रथमः उद्योतः), अर्थात् सहृदय हृदयाह्लादि-शब्दार्थमयता ही काव्य का लक्षण है।

आचार्य काव्यत्व हेतु दो तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं – (i) सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाली ध्वनि तथा (ii) शब्दार्थमयता। प्रकारान्तर से वे प्रथम को काव्य तथा दूसरे को उसका परिणाम बताते हैं। इसके पूर्व "काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।" (प्रथमः उद्योतः / 2) कहकर आनन्दवर्धन ने काव्य-शरीर में प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। काव्य-पुरुष आत्मावान् हो गया किन्तु इनके 'शब्दार्थ'-प्रयोग को लेकर लोग एकमत नहीं हैं।

आनन्दवर्धन अर्थ के दो भेद करते हैं – (i) वाच्य और (ii) प्रतीयमान। अर्थ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं – "जिस तरह किसी नवीन वस्तु, स्तम्भ, भवन इत्यादि के निर्माण से पूर्व सुदृढ़ नींव डाली जाती है, उसी तरह प्रतीयमान अर्थ के लिए भी वाच्यार्थ अथवा आधार के समान ही अर्थ स्थिर रहता है।"

ज्ञातव्य है कि आनन्दवर्धन प्रतीयमान अर्थ को ही ध्वन्यर्थ मानते हैं।

8. आचार्य कुन्तक (10वीं शती का उत्तरार्द्ध) :

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक ने इन शब्दों में काव्य-लक्षण दिया है –

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

(वक्रोक्तिजीवितम् : 1 / 7)

अर्थात् वक्र कवि-व्यापार से शोभित होने वाला तथा बुधजनों को आह्लादित करनेवाला शब्दार्थ-रहित व्यवस्थित बंध काव्य कहलाता है।

कुन्तक ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य को 'कवि-व्यापार' कहा। उन्होंने 'वक्र' पद का प्रयोग कर इस कवि-व्यापार का वैशिष्ट्य सूचित किया। इस तरह उन्होंने काव्य की अपेक्षा कवि को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया। उन्होंने कवि-शक्ति को जन्मजात तथा अर्जित संस्कारों का परिपाक बताते हुए कवि-व्यापार की वक्रता को काव्य का प्राण घोषित किया – 'वक्रोक्ति काव्यस्य जीवितम्'।

इस काव्य-लक्षण की एक अन्य विशेषता इस बात में निहित है कि कुन्तक ने 'तद्वदजन' (मर्मज्ञ) के आह्लाद को काव्य-सौन्दर्य का मानदण्ड माना। कुन्तक ने 'शब्दार्थौ सहितौ' के 'सहितौ' पद की विस्तृत और साफ-सुथरी व्याख्या भी की।

'वक्रोक्ति' को काव्यात्मा के रूप में परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। आचार्य विश्वनाथ ने आपत्ति खड़ी करते हुए कहा कि 'वक्रोक्ति' तो अलंकार है। वह काव्य का 'जीवितम्' अर्थात् प्राण कैसे हो सकता है? कुछ अन्य आचार्यों ने कुन्तक का बचाव करते हुए विश्वनाथ की आपत्ति को अनावश्यक माना और कहा कि 'वक्रोक्ति' को मात्र अलंकार मानकर कुन्तक की स्थापना को खारिज करना युक्तिसंगत नहींहै। स्वयं कुन्तक के शब्दों में – यह सामान्य अलंकार न होकर अपूर्व अलंकारहै।

लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धये। काव्यस्याऽयमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।

(वक्रोक्तिजीवितम् : 1 / 8)

आगे वे कहते हैं कि यह विचित्र अभिधा भी है, जो ध्वनि की तरह ही महत्त्वपूर्ण है।

वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रेवाभिधा।

(वक्रोक्तिजीवितम् : 1 / 10)

9. आचार्य भोजराज (11वीं शती का पूर्वार्द्ध) :

भोजराज ने निम्नलिखित शब्दों में काव्य-लक्षण दिया है –

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

(सरस्वती कण्ठाभरणम् : 1 / 2)

अर्थात् दोष-मुक्त, गुण-युक्त, अलंकारों से अलंकृत रसपूर्ण काव्य का निर्माण कर कवि कीर्ति और प्रीति प्राप्त करता है। इस लक्षण के अनुसार काव्य के तीन आवश्यक उपकरण हैं – (i) गुण, (ii) अलंकार, (iii) रस। इन तीनों की उपस्थिति और दोष की अनुपस्थिति से ही कीर्ति और प्रीतिप्रद (आह्लादप्रद) काव्य की रचना सम्भव है।

यह लक्षण पूर्व के लक्षणों से भिन्न नहीं है।

10. आचार्य क्षेमेन्द्र (11वीं शती का उत्तरार्द्ध) :

आचार्य अभिनव गुप्त के ध्वनिवादी शिष्य क्षेमेन्द्र को 'औचित्य' का उद्भावक आचार्य माना जाता है। वस्तुतः इसके उद्भावक आनन्दवर्धन हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को व्यवस्थित रूप दिया और उसे काव्य की आत्मा घोषित किया – "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्यजीवितम्" (औचित्य विचारचर्चा), अर्थात् रससिद्ध काव्य का स्थायी जीवन औचित्य है। इसमें काव्य को रससिद्ध बताया गया है। उनके अनुसार, औचित्य के अभाव में रस की धारा प्रवाहित नहीं हो पाती। अनौचित्य रसभंग का सबसे बड़ा कारण है।

11. आचार्य मम्मट (11वीं शती का उत्तरार्द्ध) :

आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-हेतु के बाद तीसरे क्रम पर उनके विश्रुत ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के प्रथम उल्लास में आता है। देखा जाए –

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि।

(काव्यप्रकाश : 1 / 4)

अर्थात् वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं, जो दोष-रहित हों, गुण-युक्त हों तथा (यदि रसाभिव्यंजक हों तो) अलंकार हों या न हों।

इस लक्षण में चार बातें उल्लेखनीय व विवेचनीय हैं –

1. मम्मट शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानते हैं, केवल शब्द अथवा अर्थ को नहीं। इन दोनों में आधाराधेय सम्बन्ध है – शब्द आधार है तथा अर्थ आधेय।
2. शब्द और अर्थ दोनों को दोष-मुक्त (अदोषौ) होना चाहिए। विवक्षितार्थ यह कि न तो शब्द-दोष होने चाहिए और न ही अर्थ-दोष।
3. शब्द और अर्थ को सगुण, अर्थात् गुण-युक्त (सगुणौ) होना चाहिए।आचार्यों ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद नामक तीन काव्य-गुण माने हैं, जो रसोत्कर्षक या रसाभिव्यंजक कहे जाते हैं।
4. गुणों की उपस्थिति से शब्दार्थ प्रकारान्तर से रसाभिव्यंजक होते हैं, ऐसी मम्मट की धारणा है। उस स्थिति में अलंकार अनिवार्य नहीं रह जाते। वे शब्दार्थ के साथ रहें अथवा न रहें, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। (अनलंकृति पुनः क्वापि)

परवर्ती आचार्यों जयदेव, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने मम्मट के इस काव्य-लक्षण की तीक्ष्ण आलोचना की।

जयदेव की आपत्ति व आलोचना :

13वीं शती के अलंकारवादी आचार्य जयदेव मम्मट के काव्य-लक्षण के उत्तरार्द्ध 'अनलंकृति पुनः क्वापि' को लेकर मुखर रहे। उनके मतानुसार, शब्दार्थ-स्वरूप काव्य को अलंकार-रहित मानना वैसा ही है, जैसा अग्नि को उष्णता-रहित, अर्थात् शीतल मानना –

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

(चन्द्रालोक : 1 / 12)

जयदेव का यह आक्षेप मम्मट के लगभग डेढ़-दो सौ वर्षों बाद आया है। उनके आक्षेप को देखने से प्रतीत होता है कि उन्होंने मम्मट के मन्तव्य को समझा ही नहीं। मम्मट ने साफ-साफ लिखा है कि स्पष्ट अलंकार के अभाव में काव्य की हानि नहीं होती –

क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालंकारौ, क्वचित्तु स्फुटालंकार विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।

(काव्यप्रकाश-वृत्ति)

अर्थात् 'कहीं भी' (क्वापि) कहने से मेरा अभिप्राय यह है कि प्रायः सर्वत्र अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं किन्तु यदि कहीं स्पष्ट अलंकार न भी हो तो वहाँ काव्यत्व की हानि नहीं होती। अपनी बात को सुस्पष्ट करने के लिए उन्होंने यह श्लोक उद्धृत किया –

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलित मालती सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीलाविधौ।
रेवारोधसि वेतसतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥1॥

अर्थात् मेरा प्रियतम वहीं है जिसने मेरे कौमार्य का हरण किया था, वे रात्रियाँ भी वहीं हैं, विकसित-मालती की सुगन्ध वाली, कदम्ब के वृक्षों से बहने वाली उन्मादकारी हवाएँ भी वहीं हैं और मैं भी वहीं हूँ। फिर भी नर्मदा-तट पर बेंत की लता के नीचे सुरति-व्यापार (रति-क्रिया) के लिए मेरा चित्त उत्कंठित हो रहा है।

इस छन्द में स्पष्टतः कोई अलंकार नहीं है, फिर भी इसे सुन्दर काव्य का उदाहरण कहा जा सका है – "अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता।" यहाँ विप्रलंभ शृंगार की प्रधानता होने के कारण 'रसवत्' अलंकार भी नहीं है। यदि कोई चाहे तो खींचतान कर इसमें अलंकार सिद्ध किये जा सकते हैं लेकिन वे अलंकार 'भावमुखेन' (भाव-मुख से) न होकर 'अभावमुखेन' (अभाव-मुख से) ही होंगे।

कुल मिलाकर, मम्मट ने यही कहना चाहा है कि अलंकार के बिना भी काव्य बन सकता है।

आचार्य विश्वनाथ की आपत्ति व आलोचना :

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' इन दो विशेषण पदों को लेकर कई आपत्तियाँ खड़ी की हैं। 'अदोषौ' के प्रयोग को लेकर उन्होंने निम्नलिखित चार आक्षेप किए –

1. उत्तम ध्वनिकाव्य का उदाहरण होने के बावजूद क्या दोष-पूर्ण काव्य सदा अस्वीकृत होगा ? यदि हाँ, तो ध्वनि-काव्य के उदाहरणों में भी दोष पाए जाने पर क्या वे काव्यत्व के उदाहरण होंगे ? उदाहरणार्थ – 'न्यक्कारो ह्यमेव मे यदरयः' ध्वनि-प्रधान होने के बावजूद उत्तम काव्य का उदाहरण माना गया है किन्तु उसमें भी 'विधेया-विमर्श' – दोष होने के कारण उसे उत्तम काव्य में स्थान नहीं मिलना चाहिए।
2. न यही स्वीकार किया जा सकता है कि किसी रचना का जो अंश दोषपूर्ण हो, उसे अकाव्य और शेष निर्दोष अंश को श्रेष्ठ काव्य कहना चाहिए; क्योंकि उस स्थिति में काव्यत्व एवं अकाव्यत्व के चक्कर में पड़कर वह रचना अपना महत्त्व खो बैठेगी – "यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः इत्यांशाभ्यामुभयतः आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं किमपि न(स्यात्)"।
3. यदि निर्दोषता को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व माना जाए तो काव्य मिलना ही कठिन हो जाएगा; क्योंकि ऐसी कोई रचना नहीं, जिसमें कोई-न-कोई दोष न मिलता हो – "एवं काव्यं प्रविरल विषयं निविषयं वा स्यात्।" और यदि 'अदोषो' पद के नञ् ('अ') को 'ईषद्' (थोड़ा) अर्थ मानकर कहा जाए कि स्वल्प दोषयुक्त शब्दार्थ है तो 'ईषदु ष्टता' काव्य का अनिवार्य तत्त्व बनकर महान् कवियों के दोषमुक्त काव्य को काव्य-कोटि से बाहर कर देगी। यदि 'अदोषौ' का अर्थ 'सति सम्भवे ईषद्दोषौ' मान लिया जाए तो यह विशेषण निरर्थक है।

4. 'अदोषौ' विशेषण इसलिए भी व्यर्थ है; क्योंकि दोषों का अस्तित्व रसापकर्ष पर आश्रित है क्योंकि कुछ दोष अनित्य होते हैं तो कुछ नित्य। यदि इस विशेषण को स्वीकार कर लिया जाए तो श्रुतिकटु-जैसे अनित्य दोष जहाँ दोष नहीं रहते अथवा गुण-रूप हो जाते हैं, वहाँ भी उनकी स्थिति अनुपयुक्त हो जाएगी।

विश्वनाथ सूक्ष्म तार्किक क्षमता के आचार्य हैं लेकिन उनके तर्क पाण्डित्य-प्रदर्शनमूलक अधिक, वास्तविकता-बोधक कम हैं। वे इस बात से अच्छी तरह अवगत हैं कि मम्मट का दोष से आशय 'रसापकर्ष' से है – "मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः हतिरपकर्षः" (काव्यप्रकाश : 7)। साधारण दोष से काव्य की हानि नहीं होती, इसे आचार्य विश्वनाथ ने स्वयं स्वीकार किया है –

कीटाणुविद्धरत्नानि साधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

अर्थात् जैसे कीड़ों से खाया हुआ रत्न भी रत्न ही कहलाता है, उसी प्रकार रसानुभूति के स्पष्ट होने पर सामान्य दोष के रहते हुए भी काव्यत्व की हानि नहीं होती इसलिए रसविधायक प्रबल दोषों के अभाव में निर्बल दुःश्रवत्वादि दोषों से युक्त होने पर भी काव्यत्व की क्षति नहीं होती।

'सगुणौ' पद को लेकर भी विश्वनाथ को आपत्ति है। उनके अनुसार, जब मम्मट स्वयं गुणों को रस का धर्म मानते हैं, तब फिर काव्य-लक्षण में शब्दार्थ का 'सगुणौ' को विशेषण क्यों बनाया ? वास्तव में गुण शब्दार्थ के धर्म नहीं, इसलिए शब्दार्थ को सगुण नहीं कहा जा सकता।

विश्वनाथ की यह आपत्ति भी उचित नहीं, क्योंकि मम्मट ने स्पष्टतः लिखा –

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

(का.प्र. – 8 / 66)

अर्थात् जैसे शूरता आदि आत्मा के अर्थ हैं, वैसे ही काव्य में जो आत्मवत् स्थित रस के धर्म हैं। ऐसे रसोत्कर्षक धर्म ही गुण कहलाते हैं। इस तरह, मम्मट गुणों को रस का धर्म मानते हैं, न कि शब्दार्थ का। आगे उन्होंने लिखा भी है –

"... गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयो मता॥"

(वही : 8 / 11)

अर्थात् गौण वृत्ति से ही शब्दार्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया।

मम्मट के परवर्ती समर्थकों ने भी विश्वनाथ के इस आक्षेप के निराकरण के उत्तर में लिखा कि 'सगुणौ' शब्द का अर्थ 'सरसौ' तथा 'गुणाभिव्यंजकौ' है। उनका 'सगुणौ' व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित है।

पण्डितराज जगन्नाथ की आपत्ति व आलोचना :

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट के काव्य-लक्षण में प्रयुक्त विशेष्य 'शब्दार्थौ' की आलोचना की है। उनके अनुसार काव्य न तो शब्दार्थ में रहता है और न ही व्यष्टिगत शब्द और अर्थ में अलग-अलग, बल्कि 'शब्द' में रहता है –

काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम् ? प्रत्येकपर्याप्तं वा नाद्यः? एको न इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यम् इति व्यवहारस्यापत्तेः । न द्वितीयः, एकस्मिन् काव्ये काव्यस्य काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः ।

(रसगंगाधर/ प्रथम आननम्)

रसगंगाधरकार कहते हैं कि इस मान्यता के पीछे एकमात्र कारण यह है कि शब्दार्थ-युगल काव्य मानने में कोई प्रभाण नहीं है। प्रस्तुत काव्य उच्च स्वर से पढ़ा जा रहा है। काव्य से अर्थ समझा जाता है – 'काव्य सुना, अर्थ ज्ञात न हो सका' आदि। सार्वजनिक व्यवहार से विशिष्ट प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं –

शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्द वाच्यं मानाभावत्। काव्यमुच्चैः पठ्यते काव्यादर्थोऽवगम्यते काव्यं श्रुतं अर्थो न ज्ञातः, इत्यादि विश्वजनीन व्यवहारतः ।

(वही)

'रसगंगाधर' के प्रमुख टीकाकार नागेश भट्ट ने जगन्नाथ के मत का खण्डन करते हुए कहा कि वास्तव में पण्डितराज जगन्नाथ के दोनों तर्क सामान्य हैं; क्योंकि भाषा के रचनावयव वाक्य हैं, न कि शब्द मात्र। शब्द से रससिद्धि सम्भव नहीं है। अतः, 'शब्दार्थौ' का प्रयोग उचित ही है। 'काव्य सुना' आदि वाक्यों में काव्य शब्द का वाचक है, तो 'काव्य समझा' में अर्थ का भी वाचक है। शेष रहा दूसरा तर्क तो शब्द या अर्थ में किसी एक के लिए रूढ़ा लक्षणा द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। अतएव शब्दार्थ को ही काव्य मानना युक्तिसंगत है।

'शब्दार्थौ' पद का व्यवहार अकेले मम्मट ने नहीं अपितु भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, प्रतापरुद्र, विद्याधर प्रभृति सोलह काव्यशास्त्रियों ने किया है। इसलिए बहुमान्य 'शब्दार्थौ' पद का प्रयोग उचित ही है।

मम्मट के काव्य-लक्षण की विशेषताएँ :

मम्मट के काव्य-लक्षण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं –

1. मम्मट का काव्य-लक्षण पूर्व के लाक्षणिकों द्वारा दिये गये काव्य-लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है।
2. कुन्तक के लक्षण की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त है।
3. 'अदोषौ' और 'सगुणौ' – पदों का प्रयोग भी सार्थक है।
4. 'अनलंकृती पुनः क्वापि' से अलंकारों की नितान्त आवश्यकता सिद्ध नहीं होती और उनके अभाव में भी काव्यत्व अक्षुण्ण रहता है।
5. मम्मट के काव्य-लक्षण ने परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के लाक्षणिकों को प्रभावित किया।
6. मम्मट के काव्य-लक्षण पर आक्षेपों की भरमार इसकी लोकप्रियता की परिचायिका है।
7. मम्मट का काव्य-लक्षण परम्परापुष्ट है।
8. मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों – भोज और क्षेमेन्द्र ने जो काव्य-लक्षण दिये, उनमें मम्मट के काव्य-लक्षण के लिए 'पर्याप्त' विचार-सामग्री थी।

इस प्रकार मम्मट का काव्य-लक्षण सभी विशेषताओं (काव्य-तत्त्वों) का प्रथम विश्लेषण है। यह लक्षण न केवल काव्य-भाषा को काव्य का निकष मानता है अपितु काव्यानुभूतियों में काव्य की रूपरेखा भी रचता है।

12. आचार्य हेमचन्द्र (12वीं शती) :

काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने काव्य को लक्षित करते हुए कहा –

अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

(काव्यानुशासन)

अर्थात् दोष-मुक्त, गुण-युक्त तथा अलंकार-युक्त शब्द-अर्थ (की संहति) को काव्य कहते हैं।

हेमचन्द्र का यह लक्षण पूर्ववर्ती काव्य-लक्षणों से भिन्न नहीं है।

13. आचार्य विश्वनाथ (14वीं शती) :

आचार्य विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट प्रभृति के काव्य-लक्षणों का खण्डन करते हुए निम्नलिखित काव्य लक्षण दिया –

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

(साहित्यदर्पण : प्रथमः परिच्छेदः)

अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य है।

विश्वनाथ का यह काव्य-लक्षण रस को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए शब्दार्थ के स्थान पर 'वाक्यम्' पद का प्रयोग करता है। यहाँ 'वाक्य' पद अग्निपुराणकार तथा दण्डी द्वारा दिये गये काव्य-लक्षणों में प्रयुक्त 'पदावली' का ही बेहतर प्रयोग है। अब तक काव्य को या तो शब्दार्थ कहा गया अथवा पदावली। विश्वनाथ ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने 'वाक्य' का प्रयोग किया है।

पूर्ववर्ती आचार्यों जैसे – भरत, भोज, क्षेमेन्द्र ने भी अपने-अपने काव्य-लक्षण में 'रस' का उल्लेख किया है, किन्तु विश्वनाथ ने अलंकार, गुण आदि को छोड़ते हुए एकमात्र रस को काव्य का स्थायी और अनिवार्य तत्त्व माना है। ऐसा करने से यह लक्षण एकांगी व संकीर्ण हो जाएगा। फलस्वरूप, अव्याप्ति-दोष से ग्रस्त हो जाएगा।

मम्मट के काव्य-लक्षण की तुलना में विश्वनाथ के इस लक्षण में आन्तरिकता का आग्रह अधिक है।

पण्डितराज जगन्नाथ समेत अन्य आचार्यों ने विश्वनाथ के इस काव्य-लक्षण में कई दोषों का अनुसन्धान किया है; यथा –

1. क्या रस काव्य के समस्त स्वरूपों – वस्तुगत ध्वनि, अलंकारगत ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, चित्रकाव्य तथा रसवदादि अलंकारों को आत्मसात् कर सकता है ? अर्थात् नहीं।
2. इस काव्य-लक्षण को स्वीकारने पर उपर्युक्त ध्वनि-विभाजन निरर्थक हो जाएगा।
3. वस्तु तथा अलंकारादि का महत्त्व काव्य में नगण्य हो जाएगा।
4. रस को काव्य की आत्मा मान लेने से गुणीभूतव्यंग्य, चित्रकाव्य तथा रसवदादि के लिए काव्य में कोई स्थान नहीं रहेगा। पुनः रस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।
5. 'वाक्य पदोच्चय' का दूसरा नाम है। इस आधार पर विश्वनाथ शब्दार्थ की अपेक्षा शब्द को ही काव्य-शरीर मानते हैं।

इसके बावजूद विश्वनाथ का यह काव्य-लक्षण अन्य लक्षणों की अपेक्षा मौलिक है।

14. पण्डितराज जगन्नाथ (17वीं शती) :

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने इन शब्दों में काव्य-लक्षण दिया है –

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

(रसगंगाधर : 1 / 1)

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है।

उपरिविवेचित काव्य-लक्षणों की तुलना में पण्डितराज के इस काव्य-लक्षण में मात्र दो पारिभाषिक (व्याख्येय) शब्द आए हैं –

1. रमणीयार्थ: पण्डितराज का 'रमणीयार्थ' से क्या तात्पर्य है। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि आह्लाद का दूसरा नाम 'रमणीय' है तथा वह चमत्कारी भी है – "रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।" (वही) अर्थात् जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द सुलभ हो, वह अर्थ रमणीय है।
2. अब प्रश्न है लोकोत्तर आनन्द किसे कहेंगे ? लोकोत्तर आनन्द को यदि सातिशय (जिससे बड़ा आनन्द अन्य हो सकता है) विवक्षित मानेंगे तो अव्यवस्था बनी रहेगी; क्योंकि व्यक्ति-भेद तथा रुचि-भेद से भिन्न-भिन्न आनन्द लोकोत्तर सिद्ध हो जाएगा। यदि आनन्द के लोकोत्तरत्व को निरतिशय (जिससे बड़ा कोई दूसरा आनन्द न हो) विवक्षित कहेंगे तो ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त आनन्द (ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द से भी भिन्न) संगृहीत नहीं हो सकेगा, जिसका संग्रहण इसका मुख्य प्रयोजन है। इसलिए इन दोनों से भी विलक्षण लोकोत्तरत्व का निर्वचन है – 'लोकोत्तरत्वञ्च'। तात्पर्य यह कि यहाँ का लोकोत्तरत्व सातिशय, निरतिशय कुछ भी नहीं। घटत्व-पटत्व-जैसे आनन्द में रहने वाला चमत्कारत्व या जाति विशेष / सहृदयों का अनुभव ही इस जाति-सत्ता में प्रमाण है, अर्थात् जिस-जिस आनन्द में सहृदय को 'लोकोत्तरः लोकोत्तरः' ऐसा अनुभव हो, वहीं आनन्द लोकोत्तर है। दूसरे शब्दों में, जिसके बार-बार अनुसन्धान करने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे 'रमणीय' कहते हैं। ऐसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

इस रमणीयता का भाव ही वामन के सौन्दर्य, दण्डी के इष्टार्थ, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक के लोकोत्तर आह्लाद् – जैसे शब्दों से व्यंजित हुआ है। विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त 'रस' एवं काव्यशास्त्र में बार-बार प्रयुक्त होने वाला शब्द 'चमत्कार' भी इसके पर्याय हैं किन्तु रमणीयता अर्थ में शब्द आचार्य विश्वनाथ के विपरीत पण्डितराज जगन्नाथ ने भामह, रुद्रट, मम्मट प्रभृति की परम्परा का अनुगमन करते हुए 'शब्दम्' का प्रयोग किया है।

भाषा का चरम अवयव वाक्य है, न कि शब्द। केवल शब्द से रससिद्धि असम्भव है; क्योंकि शब्द में सदैव रमणीयता नहीं होती। पण्डितराज ने अर्थ की रमणीयता पर सारा ध्यान केन्द्रित करते हुए शब्द की रमणीयता की उपेक्षा कर दी और यह युक्तिसंगत नहीं। काव्य के अन्तर्गत एक हिस्सा ऐसा भी होता है जो शब्द की रमणीयता से सम्बद्ध होता है। ऐसी स्थिति में शब्द का चमत्कार ही उसमें कवित्व की सृष्टि करता है। शब्दालंकार से लेकर वृत्तियों के उदाहरण इसी तरह के हैं। वह चमत्कार चाहे जिस कोटि का हो, पर है वह शब्द-चमत्कार। काव्य का कलात्मक पक्ष ऐसे ही शब्द-चमत्कार से जुड़ा होता है। उदाहरणार्थ देव का यह कवित्त देखिए –

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोल,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।

झहर-झहर झुकी झीनी झरिलायौ 'देव'
छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया ॥
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिंडोरे चढ़ी
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम का पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया ॥

इस छन्द के शब्दों से ही वायु का मन्द संचरण, बादलों का घहराना, वर्षा की झड़ी का झर्झर शब्द, छोटी-छोटी बूँदों का छहरना, भारी पीत पट का फहरना, बारीक लहरिया का लहराना जैसे प्राकृतिक व्यापार सम्पादित हो रहे हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता 'यमुना वर्णन' (तरनि तनुजा तट तमाल तरुवर) तथा निराला की 'वर दे, वीणावादिनी' (नवगति, नव लय, ताल-छन्द-नव, / नवल कण्ठ, नव जलद मंद्र रव; / नव नभ के नव विहग-वृन्द को / नव पर नव स्वर दे) भी इसके उदाहरण माने जा सकते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट के काव्य-लक्षण पर जो आरोप मढ़ा था, न्यूनाधिक रूप में वहीं आरोप इनके काव्य-लक्षण पर भी मढ़ा जा सकता है किन्तु वास्तविकता यह है कि रसास्वाद-व्यंजकता शब्दार्थगत उभयत्र एक समान है। यहाँ 'काव्य' पद शब्द और अर्थ दोनों के लिए प्रयुक्त हैं, जैसे – 'काव्यं पठितं काव्यं श्रुतं बुद्धमिति।'

इसके बावजूद विद्वानों ने पण्डितराज के काव्य-लक्षण को सर्वोत्कृष्ट माना है; क्योंकि उन्होंने काव्य-लक्षण की अन्तहीन परम्परा पर लगभग पूर्णविराम लगा दिया।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हुए, जिन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण को सर्वाधिक उपयुक्त माना। हिन्दी के कुछ रीतिकालीन कवि-आचार्यों ने मम्मट का ही अनुसरण किया है।

1.1.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण (रीतिकालीन एवं आधुनिक)

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी के कुछ रीतिकालीन कवि-आचार्यों ने काव्यप्रकाशकार मम्मट को आदर्श मानकर काव्य-लक्षण दिये। उनमें चिन्तामणि, कुलपति मिश्र तथा सोमनाथ के नाम उल्लेखनीय हैं।

1. केशवदास का काव्य-लक्षण

केशव ने दोष-रहितगुण-सहित, अलंकार-युक्त तथा रसमयी रचना को काव्य की संज्ञा दी है। देखिए –

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥

राजत रंच न दोष युत, कविता बनिता मित्र।
बुन्दक हाला परत ज्यों, गंगाघट अपवित्र॥

2. चिन्तामणि का काव्य-लक्षण

'कविकुलकल्पतरु' के रचयिता चिन्तामणि ने इन शब्दों में काव्य-लक्षण दिया है –

सगु अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ।
सब्द अर्थ वारौ कवित, बिबुध कहत सब कोइ॥

अर्थात् गुण-युक्त, अलंकार-युक्त तथा दोष-रहित शब्दार्थ को विद्वज्जन काव्य कहकर पुकारते हैं।

मम्मट ने अलंकार को काव्य का वैकल्पिक अंग माना था जबकि चिन्तामणि ने अनिवार्य अंग। इस बात को छोड़कर सारी बातें मम्मट के काव्य-लक्षण से मिलती हैं।

3. देव का काव्य-लक्षण

अपनी पुस्तक 'शब्दरसायन' में देव ने काव्य को यों परिभाषित किया है –

शब्द सुमति मुख ते कहै, लै पद वचननि अर्थ।
छन्द भाव भूषन सरस, सो कहि काव्य समर्थ॥

इस लक्षण में देव ने छन्द, भाव, अलंकार, रस तथा शब्द (पद-वचन) को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है। इस काव्य-लक्षण में छन्द को छोड़कर सारी बातें पुरानी हैं।

5. कुलपति मिश्र का काव्य-लक्षण

कुलपति मिश्र ने अपनी पुस्तक 'रसरहस्य' में काव्य को परिभाषित करते हुए लिखा –

दोषरहित अरु गुन सहित, कछुक अल्प अलंकार।
सबद अरथ सो कबित है, ताको करो विचार॥

इस काव्य-लक्षण में अलंकारों के अल्प प्रयोग की बात कही गयी है। इसे भी मम्मट की काव्य-लक्षण-परम्परा का बढ़ाव माना जा सकता है।

6. सूरति मिश्र का काव्य-लक्षण

सूरति मिश्र ने अपनी काव्यशास्त्रीय पुस्तक 'काव्य-सिद्धान्त' में काव्य-लक्षण इस प्रकार दिया है –

बरनन मनरंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहिं, काव्य कहत सब कोइ॥

अर्थात् सूरति मिश्र के अलौकिक रीति से मनोरंजक वर्णन को काव्य की संज्ञा दीहै। यह लक्षण भी अस्पष्ट है।

7. सोमनाथ का काव्य-लक्षण

गुण-युक्त, अलंकार-युक्त, अविरुद्ध पिंगल (छन्द)-युक्त तथा दोष-मुक्त पदार्थ को काव्य कहते हैं। उसमें छन्द को छोड़कर सारी बातें मम्मट के काव्य-लक्षण की आवृत्ति मात्र हैं। देखिए –

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहिं सुद्ध॥

8. श्रीपति मिश्र का काव्य-लक्षण

श्रीपति मिश्र ने अपनी पुस्तक 'काव्य-सरोज में इन शब्दों में काव्य को परिभाषित किया है –

शब्द अर्थ बिन दोष गुन, अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिए, श्रीपति परम सुजान॥

संस्कृत आचार्यों की काव्य-लक्षण-परम्परा से यह लक्षण अलग नहीं है।

9. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का काव्य-लक्षण

आचार्य द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'रसज्ञ-रंजन' में काव्य को परिभाषित करते हुए लिखा– "अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।" सम्भवतः, आचार्य ने 'कविता' को काव्य का पर्याय मानते हुए उसे अन्तर्वृत्ति का 'चित्र' कहा। यह लक्षण भी अस्पष्ट है।

10. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-लक्षण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में संकलित अपने एक निबन्ध 'कविता क्या है ?' में काव्य को इन शब्दों में परिभाषित किया है – "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कह सकते हैं।"

इस परिभाषा में चार बातें ध्यातव्य हैं –

1. हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।
2. हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए (मनुष्य की वाणी द्वारा) शब्द-विधान किया जाना।
3. यही शब्द-विधान कविता है।
4. यह साधना भाव-योग कहलाती है।

कुल मिलाकर, इसके दो पहलू बनते हैं – पहला, 'रस-दशा' या 'भाव-योग' जो कविता का अंतरंग है; दूसरा, मनुष्य की वाणी द्वारा शब्द-विधान किया जाना, जो कविता का बहिरंग है।

प्रकारान्तर से शुक्लजी पण्डित विश्वनाथ का ही समर्थन करते दिखते हैं। उनके लक्षण 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' का पूर्व पक्ष शुक्लजी की 'रस-दशा' (भाव-योग) है जबकि विश्वनाथ का 'वाक्यम्' शुक्लजी के काव्य-लक्षण में शब्द-विधान बनकर आया है। यहाँ वे भामह, उद्भट, मम्मट प्रभृति के निकट ठहरते हैं लेकिन काव्य में सिर्फ रसदशा या भावयोग की अभिव्यक्ति नहीं होती, बुद्धितत्त्व या विचार-पक्ष भी अभिव्यंजित होता है। इस दृष्टि से शुक्लजी का यह काव्य-लक्षण अव्याप्ति-दोष से ग्रस्त है।

11. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का काव्य-लक्षण

'साहित्य सहचर' नामक पुस्तक के छठे प्रकरण 'कविता' में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काव्य को इन शब्दों में परिभाषित करने का प्रयास किया –

"... भावावेग, कल्पना और पद-लालित्य को कविता कहा जाता है।" (पृ. - 47)

आचार्य द्विवेदी ने काव्य के ऐसे तीन उपादानों का उल्लेख किया है जिनसे कविता की सृष्टि होती है – (i) भावावेग (ii) कल्पना और (iii) पद-लालित्य। प्रथम दो उपादान कविता के अंतरंग की रचना करते हैं जबकि तीसरा (पद-लालित्य) कविता के बहिरंग की। वास्तव में ये तीनों काव्य के तत्त्व माने गए हैं। एक आवश्यक तत्त्व 'बुद्धि या विचार' आचार्य द्विवेदी की दृष्टि से ओझल है, अन्यथा यह काव्य की पूर्ण परिभाषा हो जाती। अतः यह काव्य-लक्षण भी अपूर्ण है।

12. जयशंकर प्रसाद का काव्य-लक्षण

प्रसाद ने अपने निबन्ध 'काव्य और कला' में काव्य को यों लक्षित किया है – "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।" (प्रसाद ग्रन्थावली : 4; पृ. - 458)

प्रसाद ने काव्य को आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति मानते हुए उसे श्रेयमयी प्रेय की रचनात्मक ज्ञानधारा की संज्ञा दी है, जो विज्ञान आदि से पृथक् है।

सच पूछिए तो संकल्पन और विकल्पन – ये दोनों मन के व्यापार हैं, न कि आत्मा के। इसी निबन्ध में उन्होंने ऐसा माना भी है परन्तु पता नहीं क्यों उन्होंने मन की जगह आत्मा को बिठा दिया। मन की विकल्पन-क्रिया से काव्येतर विधाओं; यथा – विज्ञान, दर्शन आदि का जन्म होता है। इसका सम्बन्ध तर्क-वितर्क, विश्लेषण आदि से होता है। दूसरी ओर मन की संकल्पन-क्रिया से काव्य का जन्म होता है जिसका तर्क-वितर्क से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

प्रसाद की यह काव्य-परिभाषा परम्परित काव्य-लक्षणों से हटकर है, फिर भी अस्वीकार्य।

13. सुमित्रानन्दन पन्त का काव्य-लक्षण

पन्त ने 'पल्लव' के 'निवेदन' के अन्तर्गत कविता को परिपूर्ण क्षणों की अभिव्यक्ति कहा। देखिए– "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की अभिव्यक्ति है।" (सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली : 1)

यह परिभाषा कहानी, उपन्यासादि पर भी लागू हो सकती है। 'परिपूर्ण' से कवि का क्या तात्पर्य है – यह विचारणीय है। कवि का आशय सम्भवतः पके हुए क्षणों से है। अधपके या कच्चे क्षणों की उपज कविता में वह प्रभविष्णुता नहीं होती जो पूर्ण और पके हुए क्षणों की कोख से निकली कविता में होती है। पन्त का काव्य-लक्षण अस्पष्ट एवं अपर्याप्त है।

14. डॉ॰ भगीरथ मिश्र का काव्य-लक्षण

'काव्यशास्त्र' नामक पुस्तक के लेखक डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने निम्नलिखित शब्दों में काव्य-लक्षण दिया है – "शब्द, अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य-रचना को काव्य कहते हैं।" (काव्यशास्त्र; पृ. - 11) यह काव्य-लक्षण पण्डितराज जगन्नाथ का किंचित् परिवर्धित-संशोधित रूप है। पण्डितराज ने मात्र 'रमणीयार्थ' की बात कही थी जबकि डॉ॰ मिश्र ने अर्थ के साथ-साथ शब्द की रमणीयता की भी बात की है।

प्रश्न है, उपरिविवेचित काव्य-लक्षणों में कौन सर्वाधिक पूर्ण एवं सटीक लक्षण है ? वैसे अधिकांश लोगों ने पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण को सर्वोत्कृष्ट माना है। कई ऐसे भी विद्वान् हुए जिन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण को सर्वाधिक समावेशी स्पष्ट और समीचीन माना। विद्वानों का एक तीसरा वर्ग भी है जो काव्य को लक्षण या परिभाषा की सीमा में बाँधने के विरुद्ध रहा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही आचार्य हैं। एतद्विषयक उनका अभिमत देखा जाए – "पण्डितों ने नाना भाव से कविता की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है पर ऐसा बराबर हुआ है कि परवर्ती काल के पण्डित उन परिभाषाओं को काट कर नयी परिभाषाएँ बनाते रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि काव्य अनुभव करने की चीज है, परिभाषा में उसे बाँधना कठिन है। पुराने आचार्यों ने गद्य और पद्य दोनों में काव्यत्व माना है, किसी-किसी ने तो गद्य को ही कवियों की कसौटी कहा है।" (साहित्य सहचर; पृ. – 47)

1.1.3 समाहार

पाठ के समाहारात्मक वैशिष्ट्य इस प्रकार हैं –

1. काव्य को लक्षण में बाँधने का प्रयास लगभग दो हजार वर्ष पुराना है।
2. काव्य शब्द में निहित है या अर्थ में अथवा दोनों में, इस वाद-विवाद में अधिकांश आचार्यों ने अपनी पक्षधरता शब्द के प्रति दिखाई है।
3. अधिकांश आचार्यों ने दोष-रहित, गुण-सहित, रस-सहित एवं अलंकारसहित शब्दार्थ को काव्य माना है।
4. मम्मट ने अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म माना है।
5. जैसे-जैसे जीवन जटिल होता गया, काव्यानुभूति भी जटिल होती गयी । फलस्वरूप, 'कवि-कर्म' भी प्रभावित हुआ इसलिए काव्यानुभूति पर विचार करना श्रेयस्कर माना गया।
6. हिन्दी के मध्यकालीन (रीतिकालीन) आचार्यों ने संस्कृत-परम्परा का ही अनुगमन किया है । उनमें मौलिकता का अभाव-सा है।
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हृदय की मुक्ति की साधना के लिए किये गए शब्द-विधान को कविता की संज्ञा दी है किन्तु आज का सच यह है कि कविता हृदय की अपेक्षा बुद्धि से कहीं अधिक प्रेरित है। इसे बुद्धि की मुक्तावस्था कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं।
8. पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, कविता रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करती है परन्तु सचाई यह है कि आज की कविता ऐसा कुछ नहीं करती है। अलबत्ता वह खिझाती है।

1.1.4 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'कवि' शब्द में किस धातु का प्रयोग हुआ है ?
   (क) कु
   (ख) कू
   (ग) क्व
   (घ) कोई नहीं

2. 'लक्षण' शब्द में कौन धातु प्रयुक्त हुई है ?
   (क) लक्ष्
   (ख) अक्ष्
   (ग) लक्षण्

(घ) कोई नहीं

3. ‘अर्थक्रियोपेतम् काव्यम्’ – यह काव्य-लक्षण किसका है ?
   (क) अग्निपुराणम् का
   (ख) नाट्यशास्त्रम् का
   (ग) काव्यालंकार का
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. ‘काव्यात्मा ध्वनिः’ – यह किसका कथन है ?
   (क) भामह का
   (ख) आनन्दवर्धन का
   (ग) कुन्तक का
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. मम्मट के काव्य-लक्षण पर सर्वाधिक आपत्तियाँ किसने खड़ी कीं ?
   (क) जयदेव ने
   (ख) विश्वनाथ ने
   (ग) जगन्नाथ ने
   (घ) किसी ने नहीं

6. ‘कविकुल कल्पतरु’ के रचयिता हैं –
   (क) केशव
   (ख) मतिराम
   (ग) चिन्तामणि
   (घ) सूरति मिश्र

7. ‘शब्दरसायन’ के प्रणेता हैं –
   (क) देव
   (ख) दास
   (ग) श्रीपति मिश्र
   (घ) कोई नहीं

8. ‘पल्लव’ के कवि हैं –

(क) प्रसाद
(ख) पन्त
(ग) हजारीप्रसाद
(घ) कोई नहीं

टिप्पणी लिखिए –

1. लक्षण और परिभाषा में अन्तर
2. अनलंकृति पुनः क्वापि
3. काव्य में रमणीयार्थ
4. भाव-योग
5. काव्य में रसात्मकता
6. काव्य में श्रेय और प्रेय

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आपकी दृष्टि में सर्वोत्तम काव्य-लक्षण क्या है और क्यों ?
2. आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण की विचिकित्सा कीजिए।
3. आचार्य विश्वनाथ के काव्य-लक्षण पर विचार कीजिए।
4. पण्डित जगन्नाथ के काव्य-लक्षण के गुणावगुण पर विचार कीजिए।
5. रीतिकालीन आचार्यों द्वारा किये गए काव्य-लक्षणों पर विचार करते हुए सर्वोत्तम लक्षण का उल्लेख कीजिए।
6. आचार्य शुक्ल के काव्य-लक्षण की विचिकित्सा कीजिए।
7. "काव्य को लक्षण की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है।" – इस कथन की युक्तियुक्तता पर विचार कीजिए।

1.1.5 कठिन शब्दावली

शब्द		**अर्थ**
संहति	:	सुमेल
प्रतीयमान	:	व्यंग्यार्थ
विवक्षित	:	अभीष्ट / वांछित
श्रुतिकटु	:	कानों को कठोर लगने वाला
दुःश्रवत्व	:	कठिनाई से सुनाई पड़ने का भाव

1.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. वेदव्यास, कृ. द्वै. (2007). अग्निपुराणम्. प्रयाग. हिन्दी साहित्य सम्मेलन. पृ. क्र. : 1038
2. मम्मटाचार्य (2001). काव्यप्रकाश. वाराणसी. चौखम्भा विद्याभवन. पृ. क्र. : 10.
3. सिंह, रा. (2027 वि.सं.). आचार्य मम्मट और काव्यप्रकाश. लखनऊ प्रकाशन केन्द्र. पृ. क्र. : 17-27.
4. सिंह, यो. प्र. (2006). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन. पृ. क्र. : 112-117.
5. अग्रवाल, नि. (2006). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन. पृ. क्र. : 38-44.
6. मिश्र, रा. (1998). काव्यदर्पण. पटना भारती भवन. पृ. क्र. : 9-10
7. सिंह, वि. (1999). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद, जयभारती प्रकाशन. ISBN : 81.8595.24-X. पृ. क्र. : 22-32.
8. प्रसाद, जयशंकर (1988). प्रसाद ग्रन्थावली. खण्ड 4. नई दिल्ली. भारतीय ग्रन्थ निकेतन. पृ. क्र. : 458
9. तिवारी, र. ना. / लू. गु. ला. (1985). आचार्य रामचन्द्र शुक्ल. नई दिल्ली. प्रकाशन विभाग. पृ. क्र. : 121.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : काव्य का स्वरूप

इकाई – 2 : काव्य-हेतु

इकाई की रूपरेखा

1.2.0 उद्देश्य कथन
1.2.1 प्रस्तावना
1.2.2 विषय-विस्तार
1.2.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-हेतु
1.2.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-हेतु
1.2.3 समाहार
1.2.4 बोध प्रश्न
1.2.5 कठिन शब्दावली
1.2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.2.0 उद्देश्य कथन

कवि मूलतः द्रष्टा होता है । वह दिव्य कल्पना के बल पर इन्द्रियातीत वस्तुओं-भावों का साक्षात्कार करता है । तदुपरान्त वह सृष्टि करता है । उसकी सृष्टि कुछ और नहीं, काव्य है । काव्यार्जन के लिए कुछ कारक (फ़ैक्टर) अपेक्षित होते हैं । इन्हें काव्य-हेतु कहा गया है । न केवल कवि, बल्कि भावक का भी उनसे परिचित होना आवश्यक है । प्रस्तुत पाठ में इन्हीं काव्य-कारकों, अर्थात् हेतुओं की जानकारी दी गई है । इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त पाठक न केवल संस्कृत-काव्यशास्त्रमत आगत काव्य-हेतुओं से परिचित हो पाएँगे बल्कि हिन्दी-काव्यशास्त्र में आगत काव्य-हेतुओं से भी । यही इस इकाई का उद्देश्य है ।

1.2.1 प्रस्तावना

काव्य-हेतु का शाब्दिक अर्थ होता है – काव्य-निर्माण का कारण । दूसरे शब्दों में, जिन तत्त्वों के सहारे काव्य-रचना सम्भव हो पाती है, उन्हें शास्त्रीय शब्दावली में 'काव्य-हेतु' कहते हैं ।

आज से लगभग 1500 वर्ष पूर्व काव्य-हेतु पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ तो आज भी यह क्रम किसी-न-किसी रूप में जारी है । काव्य-हेतु को लेकर न केवल भारतीय आचार्यों ने सार्थक विमर्श किया अपितु पाश्चात्य आचार्यों ने भी । चूँकि इकाई का नाम भारतीय काव्यशास्त्र है इसलिए पाश्चात्य विचारकों के मतों व स्थापनाओं का उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं होगा ।

भारतीय विचार-विमर्श को संस्कृत काव्यशास्त्र तक ही सीमित रखना विवेक-सम्मत नहीं होगा । इसे हिन्दी-काव्यशास्त्र तक प्रसरित करना युक्तिसंगत होगा।

1.2.2 विषय-विस्तार

1.2.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-हेतु

अधिकांश संस्कृतकाव्यशास्त्रियों ने काव्य-प्रयोजन के पश्चात् ही काव्य-हेतु का विवेचन किया है। इस शृंखला में पहला नाम आचार्य भामह का आता है किन्तु काव्यशास्त्री एवं संस्कृत साहित्येतिहासकार कन्हैयालाल पोद्दार ने अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य के सम्यक् परीक्षण के उपरान्त स्थापना दी है कि "अग्निपुराण के काव्य-प्रकरण का ध्यान देकर अध्ययन करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि वह वर्णन भामह, दण्डी, उद्भट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण हैं और वह काव्य के विकास-क्रम के आधार पर नाट्यशस्त्र के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है।" (संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग –1; पृ. : 74 – 98) इस प्रकार इसकी रचना ईसा की पहली सदी के बाद और छठी सदी के पहले हुई जान पड़ती है।

1. 'अग्निपुराणम् में काव्य-हेतु

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा॥3॥
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभातत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥4॥

अर्थात् संसार में मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। मनुष्य-जन्म पाने के बाद भी विद्या प्राप्ति सुदुर्लभ है। विद्या मिल भी जाए तो कवित्व दुर्लभ है। कवित्व प्राप्त भी हो जाए तो शक्ति कठिनाई से मिलती है। इतना ही नहीं, ये सब मिल भी जाएँ तो व्युत्पत्ति और विवेक दुर्लभ हैं।

इन पंक्तियों में 'शक्ति', 'व्युत्पत्ति' तथा 'विवेक' नामक तीन काव्य-हेतुओं का उल्लेख हुआ है। यदि अग्निपुराणकार ने विवेक, व्युत्पत्ति और शक्ति का क्रम रखा होता तो कहीं अधिक न्यायसंगत होता। उनके क्रम से तो ज्ञात होता है कि इन तीन काव्य-हेतुओं में सर्वाधिक दुर्लभ विवेक है, फिर व्युत्पत्ति तथा शक्ति।

2. भामह के अनुसार काव्य-हेतु

'काव्यालंकार' के यशस्वी लेखक भामह ने काव्य-हेतुओं पर विचार करते हुए इस प्रकार लिखा –

गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥5॥
शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थाः इतिहासाश्रया कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैह्य यमी॥9॥
शब्दाऽभिधेये विज्ञाय कृत्वा द्विदुपासनाम्।
विलोक्याऽन्यातनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥10॥

अर्थात् गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन कर लेते हैं किन्तु काव्य किसी प्रतिभाशाली में ही यदा-कदा स्फुरित होता है । व्याकरण, छन्द, कोश-अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र तथा कलाओं का काव्य-रचना हेतु मनन करना चाहिए। शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर काव्यज्ञों की उपासना कर तथा अन्य रचनाओं को देखकर काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए।

इस प्रकार भामह के अनुसार, काव्यार्जन के लिए प्रतिभा, बहुज्ञता (शास्त्रज्ञान / निपुणता) तथा अभ्यास अपेक्षित हैं। इन तीनों में उन्होंने 'प्रतिभा' पर विशेष बल दिया।

3. आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य-हेतु

दण्डी ने अपनी पुस्तक 'काव्यादर्श' में प्रतिभा, अध्ययन तथा अभ्यास नामक तीन काव्य-हेतुओं का उल्लेख किया है। देखा जाए –

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
आनन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥
न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना गुणानुर्वान्धप्रतिभातमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः॥

अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कारों से समृद्ध, ईश्वर-प्रदत्त, सहज प्रतिभा, प्रज्ञा, बहुविध विशुद्ध ज्ञान से युक्त अनेक शास्त्रविद् तथा अत्यन्त दृढ़ अभ्यास – ये सब एकत्र होकर काव्य-सम्पदा के कारण बनते हैं। यद्यपि वह अलौकिक पूर्व संस्कारों के गुणों से सम्बद्ध सहज प्रतिभा नहीं है, फिर भी काव्य आदि के अनुशीलन तथा अभ्यासादि से वागीश्वरी सरस्वती निश्चय ही कोई अलभ्य अनुग्रह करती है । इसलिए कवित्वजनित यश चाहनेवाले के लिए आलस्यरहित होकर श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना करनी चाहिए ।

इस प्रकार, आचार्य दण्डी प्रतिभा, बहुज्ञता तथा कठोर अभ्यास को कविता का हेतु मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिभा के अभाव में बहुज्ञता और अभ्यास से काव्य सम्भव है। इसलिए, आलस्य छोड़कर अभ्यास में लग जाना चाहिए। वे प्रतिभा तथा निपुणता को स्वीकार करते हुए भी 'अभ्यास' नामक तीसरे काव्य-हेतु पर बल देते हैं।

4. आचार्य वामन का काव्य-हेतु

'काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः' के ख्यातिलब्ध रचयिता आचार्य वामन काव्य-हेतु को दो कोटियों में विभक्त करते हैं – (i) बहुज्ञता, (ii) प्रकीर्णक । उनके अनुसार व्याकरण, अभिधान-कोश, छन्दशास्त्र, कलाशास्त्र, कामशास्त्र तथा दण्डनीति, बहुज्ञता, अर्थात् निपुणता के साधन हैं, जिनसे काव्यार्जन हेतु क्रमशः शब्दशुद्धि, पदार्थ-निर्णय, संशयोच्छेदन, कलातत्त्व-ज्ञान, कामोचित व्यावहारिक ज्ञान तथा नय-अपनय-ज्ञान प्राप्त होते हैं। आचार्य

वामन का अभिमत है कि यही बहुज्ञता काव्य का मूल हेतु है। इसी से काव्य-पुरुष का शरीर निर्मित होता है। देखिए –

शब्दस्मृत्यभिधानकोशाच्छन्दोविचिति कला कामशास्त्रदण्डनीति पूर्वाविद्या।

वे प्रतिभा के महत्त्व को स्वीकारते हुए उसे 'कवित्व-बीज' तथा 'जन्मजन्मान्तर का संस्कार विशेष कहकर अभिहित करते हैं –

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम् । जन्ममान्तरागत संस्कार विशेषः कश्चित् । यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते । निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात्।

लेकिन विडम्बना यह है कि इसे वे काव्यार्जन हेतु उपयोगी छह प्रकीर्णकों में पाँचवें क्रम पर रखते हैं, यथा –

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।

ये छह प्रकीर्ण इस तरह हैं –

i. लक्ष्यज्ञत्व : इसका अर्थ होता है – दूसरे कवियों की रचनाओं का बार-बार अवलोकन। इससे व्युत्पत्ति आती है – "अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यत्वम्। ततो हि काव्यबंधस्य व्युत्पत्तिर्भवति।"

ii. अभियोग : यहाँ इसका अर्थ उद्यम से है – "तत्रोद्यमोऽभियोगः।"

iii. वृद्ध-सेवा : काव्योपदेश देने वाले गुरुओं की सेवा वृद्ध-सेवा है – "काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा।"

iv. अवेक्षण : पदन्यास के प्रति सतर्कता को अवेक्षण कहते हैं, जिसका मूल तत्त्व पाकसिद्धि है।

v. प्रतिभा : काव्य का बीज तत्त्व प्रतिभा है।

vi. अवधान : चित्त की एकाग्रता, अर्थात् समाधि ही अवधान है। इसकी प्राप्ति हेतु एकान्त तथा 'ब्राह्ममुहूर्त-काल वांछित हैं।

5. आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार काव्य-हेतु

काव्यानुशासनालंकार वाग्भट्ट काव्य के मात्र दो हेतु मानते हैं – (i) प्रतिभा और (ii) बहुज्ञता। वामन की तरह ही वे साहित्य, छन्दशास्त्र, श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, आगम, नाटक, कोश, अर्थशास्त्र, योग इत्यादि को बहुज्ञता के स्रोत मानते हैं किन्तु महत्त्व देते हैं प्रतिभा को ही – "स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी।"

6. आचार्य रुद्रट के अनुसार काव्य-हेतु

रुद्रट भी काव्यार्जन के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को काव्य-हेतु मानते हैं। इनकी बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने निपुणता के लिए पहली बार 'व्युत्पन्नता' शब्द का प्रयोग किया, साथ ही प्रतिभा की दो श्रेणियाँ बनायी – (i) सहजा तथा (ii) उत्पाद्या। काव्य-कर्म की जन्मजात प्रतिभा सहजा कहलाती है जबकि अर्जित शक्ति उत्पाद्या।

7. राजशेखर के अनुसार काव्य-हेतु

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को काव्य-हेतु माना है जिसे अन्य आचार्यों ने 'प्रतिभा' नाम दिया, उसे राजशेखर ने शक्ति कहा है। उनके अनुसार, अभ्यास एवं समाधि का संयोग शक्ति है जिसके कारण कवि के एकाग्र मन में अनेक प्रकार के अर्थों का स्फुरण होता है, साथ ही सरल-सुन्दर पद दृष्टिगत होते हैं। लगे हाथ वे या शक्ति या प्रतिभा के दो भेद भी करते हैं – (i) कारयित्री और (ii) भावयित्री। पहली का सम्बन्ध कवि से होता है, जबकि दूसरी का भावक (पाठक / श्रोता) से। कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होती है। राजशेखर इसको तीन कोटियों में विभक्त करना नहीं भूलते; जैसे – (क) सहजा (ख) आहार्या (ग) औपदेशिकी। सहजा जन्मजात होती है, आहार्या अध्ययनजात और औपदेशिकी मंत्र आदि की शक्ति से उत्पन्न मानी जाती है। देखिए –

तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्चारूणः ग्रहणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यास॥
मनसि सदा समाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भक्तिः।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥

प्रतिभा विशेष अर्थ में प्रज्ञा का पर्याय है। इसके अतिरिक्त स्मृति और मति का भी महत्त्व है किन्तु प्रज्ञा महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसे भविष्य बुद्धि से जोड़ा गया। विद्याधर चक्रवर्ती इसे त्रैकालिकी कहते हैं।

8. हेमचन्द्र के अनुसार काव्य-हेतु

काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र के अनुसार भी काव्य-हेतु तीन हैं जिनमें प्रतिभा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

9. अभिनव गुप्त के अनसार काव्य-हेतु

अभिनव गुप्त ने भी प्रतिभा को सर्वोपरि मानते हुए उसे आख्या (कारयित्री) और उपाख्या (भावयित्री) में विभाजित किया है।

10. आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य-हेतु

काव्यप्रकाशकार मम्मट भी काव्य हेतु की संख्या तीन ही मानते हैं। तीनों के नाम भी वहीं हैं – (i) शक्ति (ii) निपुणता और (iii) अभ्यास। देखिए –

शक्ति निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुदभवे॥

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा), लोकव्यवहार तथा शास्त्रों एवं काव्यादि के विमर्श से उत्पन्न निपुणता (व्युत्पत्ति) और काव्यज्ञ की शिक्षा का अभ्यास – ये काव्य के तीन हेतु हैं।

11. जयदेव के अनुसार काव्य-हेतु

चन्द्रालोककार जयदेव के अनुसार भी काव्य-हेतु तीन ही हैं – (i) प्रतिभा, (ii) निपुणता तथा (iii) अभ्यास। देखिए –

प्रतिभैव श्रुताभ्यास सहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धः बीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥

12. पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य-हेतु

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रतिभा को सर्वोच्च स्थान दिया है – "तस्य च कारणं कविगता केवलं प्रतिभा।"

संस्कृताचार्यों के काव्य-हेतु विषयक कथनों के आलोक में यह मत स्थिर होता है कि काव्य-हेतु की संख्या तीन है – (i) प्रतिभा (ii) निपुणता, व्युत्पत्ति या बहुज्ञता (iii) अभ्यास।

1.2.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-हेतु

1. आचार्य कुलपति मिश्र के अनुसार काव्य-हेतु

रस-रहस्य के रचयिता कुलपति ने काव्य-हेतु की संख्या तीन (i) शक्ति, (ii) व्युत्पत्ति और (iii) अभ्यास करते हुए उनमें से प्रत्येक को स्वतन्त्रतया काव्यार्जन का हेतु माना है –

शब्द अर्थ जिन ते बने, नीकी भाँति कवित्त।
सुधि द्यावन समरथ्य तिन, कारण कवि को चित्त ॥

2. आचार्य भिखारीदास के अनुसार काव्य-हेतु

आचार्य भिखारीदास के अनुसार, "काव्य-हेतु तीन हैं – (i) शक्ति या प्रतिभा (ii) सुकवियों द्वारा काव्य-रीति का अध्ययन तथा (iii) लोकानुभव ।" शक्ति को वे जन्मजात मानते हैं – "सक्ति कवित्त बनाइबे की, जिन जन्म नछत्र में दीनी विधाता। "

3. आचार्य श्रीपति मिश्र का काव्य-हेतु

श्रीपति काव्य-हेतु की संख्या पाँच मानते हैं। देखिए –

सक्ति निपुनता लोकमत, वित्पति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत है, ताको ललित प्रकास॥

अर्थात् शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति और अभ्यास। आचार्य मिश्र भूल गए कि निपुणता ही 'व्युत्पत्ति' है, जिसमें लोकमत का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ॰ नगेन्द्र, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर प्रभृति ने प्रतिभा, शक्ति या चेतना को सर्वोपरि मानते हुए काव्य-हेतु की संख्या तीन मानी है।

इस समग्र विमर्श का निष्कर्ष यह निकला कि काव्य-हेतु तीन हैं। आचार्य वामन द्वारा संकेतित 'अवधान' को शामिल कर लिया जाए तो यह संख्या तीन से बढ़कर चार हो जाएगी; यथा – (i) प्रतिभा (शक्ति) (ii) निपुणता (व्युत्पत्ति / बहुज्ञता), (iii) अभ्यास (iv) अवधान (समाधि)।

(i) प्रतिभा

'प्रतिभायते जनयेति प्रतिभा' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होता है – काव्योपयोगी तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाली शक्ति। प्रतिभा का अर्थ है – प्रकाश या स्फुरण। यह सायास नहीं बल्कि स्वतःस्फूर्त और प्रत्यग्र होती है। अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत का कथन है –

बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता / प्रज्ञां नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभां विदुः

अर्थात् प्रतिभा वह प्रज्ञा है जो नया-नया उन्मेष करती है।

अभिनव गुप्त का मत इसे विस्तार देता है –

प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेशवैशधसौन्दर्य काव्यनिर्माण क्षमत्वम्।

ध्यातव्य है कि मात्र अपूर्व वस्तु की निर्मिति ही प्रतिभा नहीं है। अपूर्व वस्तुएँ तो मदारी निर्मित कर लेता है। काव्य-रचना की अपूर्वता में दो वस्तुएँ और शामिल होती हैं – रसावेश की विशदता और सौन्दर्य। इनके अभाव में काव्यरूप की अद्वितीयता / अपूर्वता अकल्पनीय है। इसीलिए इसे आचार्यों ने कवित्व-बीज की संज्ञा दी है।

आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा को 'सहजा' और 'उत्पाद्या' नामक दो कोटियों में विभक्त करते हुए 'सहजा' को जन्मजात बताया, जबकि 'उत्पाद्या' को अर्जित। राजशेखर ने प्रतिभा के 'कारयित्री' तथा 'भावयित्री' नामक दो भेद किये। फिर, कारयित्री के तीन उपभेद किये गए – सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। अभिनव गुप्त ने कारयित्री को 'आख्या' नाम दिया तो भावयित्री को 'उपाख्या'। हिन्दी काव्यशास्त्री डॉ॰ नगेन्द्र ने 'प्रतिभा' को 'चेतना' (दिव्य) कहकर अभिहित किया है। इस तरह, वामन को छोड़ सारे आचार्यों ने 'प्रतिभा को सर्वोच्च स्थान दिया है।

निष्कर्षतः प्रतिभा निम्नलिखित कार्य करती है – (i) प्रतिभा कवि में नवीन कल्पना को जाग्रत् करती है। (ii) कवि को भावलीन होने तथा सौन्दर्यानुभूति की क्षमता से लैस करती है। (iii) प्रतिभा कल्याण को गोचर रूप देने के लिए चित्रविधान करती है। (iv) प्रतिभा उल्लेखन / चित्रण को संवेद्य बनाने के लिए कई उपकरण जुटाती है; जैसे – शब्द, अर्थ, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य इत्यादि।

(ii) व्युत्पत्ति (निपुणता / बहुज्ञता)

व्युत्पत्ति या व्युत्पन्नता का अर्थ है – संस्कार-मार्जन। काव्य-रचना हेतु कवि के लिए संस्कार-मार्जन अपरिहार्य है; क्योंकि इसके अभाव में प्रज्ञा मलिन रहती है। आचार्य दण्डी द्वारा प्रयुक्त निर्मल प्रज्ञा का पूर्व पद 'निर्मल' इसी ओर तर्जनी-संकेत करता है। विभिन्न शास्त्रों, इतिहास, कला इत्यादि के अध्ययन से पिछले जन्म के संस्कार के रूप में प्राप्त प्रतिभा में निखार आता है। आचार्य वामन व्युत्पत्ति के स्रोतों में शब्दस्मृति अभिधान, कोश, छन्दशास्त्र, चित्रकला, कामशास्त्र तथा दण्डनीति का उल्लेख करते हैं। इनके अनुसार, व्युत्पत्ति का अर्थ होता है – सर्वज्ञता। कुछ आचार्यों को 'सर्वज्ञता' का प्रयोग आपत्तिजनक लगता है। इसीलिए, उन्होंने इसके स्थान पर बहुज्ञता का प्रयोग किया है –

बहुज्ञता व्युत्पत्तिः इत्याचार्याः।

राजशेखर के अभिमत में उचित-अनुचित का विवेक व्युत्पत्ति है –

उचितानुचित विवेको व्युत्पत्तिः।

राजशेखर व्युत्पत्ति या बहुज्ञता के दो रूप बताते हैं – (i) शास्त्र एवं लोक के बहुविध ज्ञान के साथ-साथ कवि, देशकाल की परम्पराओं का सम्यक् अध्ययन तथा अनुभव। (ii) ज्ञात तत्त्वों का सम्यक् प्रयोग एवं

परीक्षण। लौकिक व्युत्पत्ति से काव्य का विषय प्राप्त होता है जबकि शास्त्रीय व्युत्पत्ति से अभिव्यंजना की पद्धति। एक व्युत्पत्ति यह बताती है कि कवि 'क्या' कहे और दूसरी व्युत्पत्ति यह बताती है कि कवि 'कैसे' कहे।

यही कारण है कि लगभग सारे आचार्यों ने प्रतिभा के बाद व्युत्पत्ति या बहुज्ञता को ही महत्त्व दिया है।

(iii) अभ्यास

अभ्यास का शाब्दिक अर्थ होता है – बार-बार बाण फेंकना। धनुर्विद्या के प्रशिक्षु गुरु के निर्देशन में एक ही लक्ष्य पर बार-बार बाण फेंककर उसमें कुशलता प्राप्त करते थे। बाद चलकर, अर्थवैज्ञानिक दृष्टि से इसमें अर्थ-विस्तार हुआ। अब इसका अर्थ होता है – किसी काम को बार-बार करना। काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्राकरणिक अर्थ होगा – बहुत काल तक काव्य-शिक्षक के पास रहकर उनकी देख-रेख में काव्य-कर्म सीखना।

आचार्य भामह ने अभ्यास के लिए 'यत्न' का प्रयोग किया जबकि दण्डी ने 'एकनिष्ठ श्रम' का। राजशेखर ने इसे 'एकनिष्ठ अध्यवसाय' कहकर अभिहित किया है।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति के साथ अभ्यास के मिलने से काव्य-रचना सुकर हो जाती है। संस्कृत में कहावत है कि – 'दैवानि यान्ति वैफल्यं नाभ्यासस्तु कदाचन', अर्थात् भाग्य धोखा दे सकता है, लेकिन अभ्यास कदापि नहीं। यही बात रहीम ने भी कही है –

करत-करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान॥

(iv) अवधान / समाधि

आचार्य वामन ने ही इसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। वे 'अवधान' का अर्थ 'चित्त की एकाग्रता' बताते हैं। अर्थ-साक्षात्कार हेतु यह कवियों का विशेष योगाभ्यास ही है। आचार्य श्यामदेव इसे 'समाधि' नाम देते हैं – 'मनसि एकाग्रता समाधिः'। 'शुक्रनीति-सार' में इसके लिए 'चित्तासन्नता' शब्द मिलता है। यह वह साधन है, जिसके अभाव में कोई भी सर्जनात्मक कार्य सम्भव नहीं।

1.2.3 समाहार

1. प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य-हेतु की संख्या तीन मानी है– प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इन तीनों के बीच क्रमशः उत्पाद्य-उत्पादक तथा पोष्य-पोषक सम्बन्ध है।
2. व्युत्पत्ति और अभ्यास न भी हों तो मात्र प्रतिभा के बल पर काव्यार्जन सम्भव है।
3. आचार्य वामन और श्यामदेव ने 'समाधि' नामक चौथे काव्य-हेतु की सत्ता स्वीकारी है।
4. भारत में काव्य-हेतु विषयक विमर्श लगभग डेढ़ हजार वर्ष पुराना है।

5. हिन्दी-काव्यशास्त्र में यह विमर्श अपर्याप्त एवं अस्पष्ट है।

1.2.4 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संस्कृत-वाङ्मय में पहला काव्य-हेतु-विमर्श कहाँ मिलता है ?
   (क) भामह की पुस्तक में
   (ख) अग्निपुराण में
   (ग) वामन की पुस्तक में
   (घ) इनमें से कहीं नहीं

2. 'कवित्व का बीज' किसे कहा गया है ?
   (क) प्रतिभा को
   (ख) व्युत्पत्ति को
   (ग) समाधि को
   (घ) किसी को भी नहीं

3. 'भावयित्री' प्रतिभा का निवास माना गया है –
   (क) कवि में
   (ख) सहृदय में
   (ग) आलोचक में
   (घ) सहृदय-आलोचक - दोनों में

4. कारयित्री प्रतिभा को 'आख्या' कहकर किसने अभिहित किया है ?
   (क) राजशेखर ने
   (ख) अभिनव गुप्त ने
   (ग) आनन्दवर्धन ने
   (घ) किसी ने नहीं

5. 'हेतु' का क्या अर्थ होता है ?
   (क) उद्देश्य
   (ख) कारण
   (ग) कार्य

(घ) सम्बन्ध

6. डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रतिभा को क्या कहकर, अभिहित किया है ?
   (क) कल्पना
   (ख) मेधा
   (ग) चेतना
   (घ) बुद्धि

टिप्पणी लिखिए –

1. काव्य-हेतुओं में प्रतिभा का महत्त्व
2. निपुणता
3. अभ्यास
4. राजशेखर
5. वाग्भट्ट द्वितीय
6. अवधान

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. काव्य-हेतु से क्या समझते हैं ? काव्य-हेतु के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालिए।
2. काव्यार्जन में काव्य-हेतु के महत्त्व पर नातिदीर्घ निबन्ध लिखिए।
3. प्रतिभा से क्या समझते हैं ? काव्य-रचना में इसकी भूमिका का आकलन कीजिए।
4. काव्य-निर्माण की दृष्टि से व्युत्पत्ति के स्वरूप और महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

1.2.5 कठिन शब्दावली

शब्द	-	अर्थ
कारक	-	कार्य-सिद्धि करने-कराने वाला
निर्विवाद	-	विवाद-रहित, अर्थात् जिसमें कोई विवाद न हो
बहुज्ञता	-	बहुत सारी विधाओं का ज्ञान
सर्वज्ञता	-	सब कुछ जानने की योग्यता
प्राकरणिक	-	प्रकरण, अर्थात् प्रसंग से सम्बद्ध
प्रशिक्षु	-	सीखने की इच्छा रखने वाला या सीखने वाला
एकनिष्ठ	-	सिर्फ एक के प्रति निष्ठा रखने वाला
बहुविध	-	बहुत प्रकार का

उत्पाद्य-उत्पादक	-	जिसका उत्पादन किया जाए वह उत्पाद्य कहलाता है, जबकि उत्पादन करने वाला उत्पादक।
पोष्य-पोषक	-	पोषण के योग्य पोष्य कहलाता है, जबकि पोषण करने वाला पोषक।
चित्तासन्नता	-	चित्त के पास होने का भाव
अभिहित	-	सम्बोधित, कहा हुआ

1.2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. वेदव्यास, कृ. द्वै. (2007 ई.). अग्निपुराणम्. प्रयाग. हिन्दी साहित्य सम्मेलन. पृ. क्र. : 1038
2. गैरोला, वा. (2003 ई.). संस्कृत साहित्य का इतिहास. वाराणसी. चौखम्भा विद्याभवन. पृ. क्र. : 258
3. सिंह, ब. (1983 ई.). आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द. नई दिल्ली. राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. क्र. : 59 – 61
4. मिश्र, भ. (2012 ई.). काव्यशास्त्र. वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन. ISBN : 978.871.7124. 900.8. पृ. क्र. : 25 – 27
5. सिंह, यो. (2006 ई.); भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन, पृ. क्र. : 90 – 99
6. सिंह, वि. (1999 ई.). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. जयभारती प्रकाशन. ISBN : 81.8595.24 X. पृ. क्र. : 48-55

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : काव्य का स्वरूप

इकाई – 3 : काव्य-प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

1.3.0 उद्देश्य कथन
1.3.1 प्रस्तावना
1.3.2 विषय-विस्तार
1.3.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन
1.3.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन
1.3.2.2.1 मध्यकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन
1.3.2.2.2 रीतिकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन
1.3.2.2.3 आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन
1.3.3 समाहार
1.3.4 बोध-प्रश्न
1.3.5 कठिन शब्दावली
1.3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.3.0 उद्देश्य कथन

इस पाठ का उद्देश्य पाठकों को संस्कृत एवं हिन्दी-काव्यशास्त्र में आगत काव्य की प्रयोजनीयता से अवगत कराना है। मम्मट-सहित अधिकांश आचार्यों ने काव्य-हेतु, काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद इत्यादि की तुलना में काव्य-प्रयोजन को प्रथम वरीयता दी है। इसी से पता चलता है कि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से प्रयोजन की जानकारी कितनी महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत इकाई इसी दृष्टिकोण से स्वरूपित की गई है।

1.3.1 प्रस्तावना

मनुष्य-जीवन का कोई भी व्यापार निष्प्रयोजन नहीं होता। मन्दबुद्धि मनुष्य भी बिना किसी प्रयोजन के कार्य-प्रवृत्त नहीं होता – "प्रयोजनमुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।" फिर उस मानव के बारे में क्या कहना, जिसे हम कवि कहकर पुकारते हैं। अग्निपुराणकार उसे 'प्रजापति' से उपमित कर सर्वशक्तिमान् बताता है। देखिए –

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

एवंविध, काव्य का भी निश्चित प्रयोजन होता है और यह प्रयोजन बहुविध होता है। पहले यह प्रयोजन 'स्वान्तःसुखाय' हुआ करता था, बाद में राज्याश्रय पाकर 'मनोविनोदाय' हुआ और अब जनतान्त्रिक व्यवस्था में 'जनहिताय' हो गया। इसमें यदा-कदा और यत्र-तत्र परिवर्तन भी हुआ।

काव्य कोरी कवि-कल्पना नहीं, बल्कि कर्त्तव्य-कर्म है। इसका उद्देश्य मानव-जीवन की पूर्णता है। दूसरी मान्यता के अनुसार यह लोकोत्तर कर्म है। भारत में काव्य-प्रयोजन-विमर्श कम-से-कम दो हजार वर्ष पुराना है। तब से लेकर अब तक एतद्विषयक विमर्श जारी है। देशकालानुसार कोई नया प्रयोजन जुड़ा तो कोई निरर्थक भी साबित हुआ। नवीन युग के आलोक में नवीन दृष्टिकोण से उन पर विचार हुआ, टीका-टिप्पणी हुई, आलोचना-प्रत्यालोचना की गई।

1.3.2 विषय-विस्तार

1.3.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन

1. आचार्य भरत-कृत नाट्यशास्त्रम् में काव्य-प्रयोजन

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में प्रथम काव्य-प्रयोजन-विचार नाट्यशास्त्रकार भरत हैं जिन्होंने नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में ही नाटक का उद्देश्य 'दुःखार्त, श्रमार्त और शोकार्त' लोगों का मनोविनोद एवं मनःविश्रान्ति बताया –

वेदविद्येतिहासानामाख्यान परिकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

'ननु नच' करने वाले कहेंगे कि यह तो नाट्य-प्रयोजन है, न कि काव्य-प्रयोजन। इसका उत्तर होगा कि प्रारम्भ में काव्य का प्रयोग विस्तृत अर्थ में श्रव्य और दृश्य – दोनों के लिए होता था। चूँकि, नाट्य और काव्य में अभिनय के बहिरंग तथा अंतरंग-प्रकाशन मात्र का भेद है इसलिए दोनों में बहुत अन्तर नहीं माना जाना चाहिए। एक बात और तब काव्य-रूप का वर्गीकरण भी नहीं हुआ था। इसलिए नाटक के सन्दर्भ में आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन को काव्य के सन्दर्भ में भी लिया जाना चाहिए।

2. 'अग्निपुराणम्' में काव्य-प्रयोजन

'अग्निपुराणम्' के 338वें अध्याय के 7वें छन्द में 'नाटकनिरूपण' के सन्दर्भ में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को नाटक (विस्तृत अर्थ में काव्य) का प्रयोजन बताया गया है –

त्रिवर्ग साधनं नाट्यमित्याहु: करणं च यद्।

3. भामह के 'काव्यालंकार' में काव्य-प्रयोजन

आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित नाट्य-प्रयोजन ही प्रथम आलंकारिक आचार्य भामह की दृष्टि में काव्य-प्रयोजन के रूप में उपस्थित होता है। उनका यह काव्य-प्रयोजन उनकी पुस्तक 'काव्यालंकार' (1.2) में इस तरह आया है –

धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबंधनम्॥

अर्थात् सत्काव्य के निर्माण से ('साधुकाव्यनिषेवणम्' पाठानुसार सत्काव्य के अनुशीलन से) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-नामक चतुर्वर्ग-विषयक शास्त्रों तथा कलाओं में विचक्षणता (व्युत्पन्नता), यश और प्रीति (आनन्दानुभूति) की प्राप्ति होती है।

यशोलाभ को छोड़ सारी बातें प्रकारान्तर से 'नाट्यशास्त्र' में कही जा चुकी हैं। यशः प्राप्ति मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में एक है। मनोविज्ञान भी यही कहता है। भामह द्वारा कथित 'प्रीति' (आनन्द) ही वास्तविक काव्य-प्रयोजन है।

4. आचार्य वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः' में काव्य-प्रयोजन

भामह के बाद काव्य-प्रयोजन के विचारक आचार्यों में वामन का नाम उल्लेखनीय है। वे काव्य-प्रयोजन को पहले 'दृष्ट' और 'अदृष्ट' नामक दो वर्गों में विभक्त करते हैं, फिर 'प्रीति' (आनन्द) को 'दृष्ट' के अन्तर्गत तथा 'कीर्ति' को 'अदृष्ट' के अन्तर्गत रखते हैं। देखिए –

काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्॥

वामन ने चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति तथा कला-व्युत्पत्ति को काव्येतर अन्य विद्याओं-उपविद्याओं का भी प्रयोजन मानकर उन्हें काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत नहीं रखा। चूँकि वामन 'रीति' को काव्यात्मा मानते हैं इसलिए कवि और काव्य-रसिक काव्य से 'प्रीति' (आनन्द) अवश्य पा सकते हैं। जो जितना प्रीति-लाभ करेगा, स्वभावतः उसे कीर्ति-लाभ भी उतना ही होगा।

5. दण्डी के 'काव्यादर्श' में काव्य-प्रयोजन

आचार्य दण्डी ने (महाकाव्य के सन्दर्भ में चर्चा करते समय) प्रयोजन के तौर पर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, अर्थात् चतुर्वर्ग के अतिरिक्त कलाजन्य आनन्द तथा कीर्तिलाभ का 'उल्लेख' किया है; यथा –

चतुर्वर्ग फलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्।

* * *

वाग्भिः कृताभिरणो मदिरेक्षणाभि
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्॥

6. कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितम्' में काव्य-प्रयोजन

आचार्य कुन्तक ने अपनी पुस्तक 'वक्रोक्तिजीवितम्' में तीन काव्य-प्रयोजन बताए हैं – (i) चतुर्वर्ग की प्राप्ति, (ii) व्यवहार तथा औचित्य का परिज्ञान (iii) अप्रतिम अन्तश्चमत्कार की प्राप्ति। देखिए –

धर्मादि साधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
चतुर्वर्ग फलास्वादमनतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

कुन्तक के पूर्व भरत, भामह, वामन तथा दण्डी – सभी आचार्यों ने काव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग की प्राप्ति बताया। कुन्तक इस अर्थ में भिन्न हैं कि काव्य से चतुर्वर्ग आदि का लाभ कोमल मति के लोग भी आसानी से उठा सकते हैं।

7. रुद्रट के 'काव्यालंकार' में काव्य-प्रयोजन

रुद्रट के अनुसार काव्य के प्रयोजन इस प्रकार हैं – युगान्त तक रहने वाला यश, स्तुत्यादि द्वारा धन-प्राप्ति, विपत्ति-नाश, आनन्द की प्राप्ति, आप्त कामना तथा पुरुषार्थ चतुष्टय(धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) –

ज्वलदुज्ज्वल वाक्प्रसरः सरस कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटया कल्पमनल्प प्रतनोति यशः परस्यापि॥

8. आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में काव्य-प्रयोजन

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के अनुसार, 'प्रीति' काव्य का प्रयोजन है लेकिन यह 'प्रीति' अलंकारवादी आचार्यों के सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न 'प्रीति' नहीं है और न ही रीतिवादी आचार्यों की 'प्रीति' बल्कि काव्यार्थ तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले सहृदय जन के हृदय की स्वाभाविक आनन्दाभक्ति है –

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।

(ध्वन्यालोक : 1 – 2)

काव्य के इस परम प्रयोजन का विश्लेषण करते हुए ध्वन्यावलोक-लोचनकार अभिनव गुप्त लिखते हैं – "चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति के लिए साधारण कवि भले ही काव्य में प्रवृत्त हुआ करें अथवा साधारण काव्य-पाठक भले ही काव्य-पाठ किया करें किन्तु जो महाकवि हैं, वे तो रसानुभूति के लिए ही काव्य रचा करते हैं और जो काव्य के सहृदय सामाजिक हैं, वे भी रसास्वाद के ही लिए काव्यानुशीलन की ओर उन्मुख हुआ करते हैं –

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् ।

(ध्वन्यालोकचेतन : पृ. : 39 – 40)

काव्य से कीर्ति भी उसी को प्राप्त होती है, जो रससिद्ध हो । इस तरह, कीर्ति का भी फल आनन्द ही है, जिसे स्वर्ग कहा गया है ।

9. भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' में काव्य-प्रयोजन

रस-तात्पर्यवादी काव्याचार्य भोज के अनुसार, 'कीर्ति' और 'प्रीति' काव्य के तात्त्विक प्रयोजन हैं –

कविः ... कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।

प्रीति का अर्थ यहाँ आनन्द है ।

10. राजशेखर के 'काव्यमीमांसा' में काव्य-प्रयोजन

काव्यमीमांसाकार राजशेखर के अनुसार, अन्य विधाओं की तरह साहित्य का प्रयोजन धर्म, अर्थ, कीर्ति, आनन्द-प्राप्ति है । वे काव्य के बहुपक्षीय प्रयोजनों की व्यावहारिक निष्पत्ति करते हैं । द्रष्टव्य है –

पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतुसर्णामपि विद्यानां निष्यन्दः अभिधर्मर्थौ यद्विद्यात्तद्विधानां विद्यात्वम् ।

11. आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में काव्य-प्रयोजन

मम्मट ने काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुए 'काव्य-प्रकाश' के प्रथम उल्लास में लिखा –

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे॥

सम्भवतः मम्मट पहले आलंकारिक हैं जिन्होंने 'प्रयोजन-षटक्' का निर्देश-निरूपण किया है, जो इस प्रकार है –

(1) यश-प्राप्ति

काव्य से यश-प्राप्ति के निदर्शन के रूप में महाकवि कालिदास का नाम लिया गया है। वस्तुतः काव्य से यश-प्राप्ति का रहस्य वहीं है, जिसे भर्तृहरि ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है –

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

यश-रूप प्रयोजन का मूल रस की ही साधना है। महाकवि की कीर्ति उसी का वरण करती है, जो रससिद्ध हो तथा सहृदय की भी कीर्ति उसी का अनुसरण करती है, जो रससिद्ध हो। काव्य से यश-प्राप्ति के प्रयोजन की निष्पत्ति कवि और सहृय के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर संकेत करती है। दूसरे शब्दों में, किसी काव्य की अधिकाधिक रसचर्वणा ही उसकी कीर्ति है –

ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविविर्दधाति केवलं काव्यम्।

(2) अर्थलाभ

काव्य से धन-प्राप्ति भी होती है। यह काव्य का भौतिक प्रयोजन है। काश्मीरी महाकवि विल्हण की 'राजतरंगिणी' में महाकवि मातृगुप्त (कालिदास) का चरित्र चित्रित हुआ है जिसमें काव्य और धन-सम्पत्ति में साध्य-साधन मात्र का सम्बन्ध दिखाया गया है। अर्थलाभ ऐसी काव्य-प्रयोजनात्मक प्ररोचना है जो बिल्कुल व्यावहारिक है। मम्मट ने श्रीहर्ष द्वारा धावक कवि को प्रचुर धन दिये जाने, भारवि के एक श्लोक पर एक लाख मुद्राओं का पुरस्कार दिये जाने के उदाहरण दिए हैं।

(3) लोकव्यवहार-ज्ञान

इतिहास और लोकवृत्त द्वारा होने वाले लोक-व्यावहारिक ज्ञान में वह बात नहीं जो काव्य से होनेवाले व्यावहारिक ज्ञान में है। इसका भी कारण काव्य की सरसता ही है। कवि द्वारा वर्णित लोकव्यवहार विभावादि में अन्तर्भूत होकर रसानुभूति की प्रेरणा बनता है। इस तरह, काव्य से व्यवहारज्ञान का आशय है रसमग्न हृदय से लेकर जीवन का साक्षात्कार। जवानी और बुढ़ापा – दोनों अवस्थाओं में काव्य उपयोगी है। सुख में संतोष और दुःख में सांत्वना काव्य की ही देन है। कविता जीवन-पथ पर चलते मनुष्य का सदैव साथ देती है।

(4) अनिष्ट-निवारण

कवि के जीवन में आए अनिष्ट या अमंगल के निवारण में भी काव्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह अनिष्ट प्रायः शारीरिक कष्ट के रूप में आता है; जैसे – कुष्ट रोग से ग्रस्त होने पर संस्कृत के कवि मयूर सूर्य की स्तुति में 'सूर्यशतक' लिखकर स्वस्थ हुए तो तुलसीदास ने 'हनुमानबाहुक' लिखकर बाहु-पीड़ा से मुक्ति पाई।

'शिवेतरक्षतये' का सम्बन्ध प्रायः स्तोत्र-काव्यों से होता है और संस्कृत में इसकी अच्छी परम्परा रही है। यह परम्परा हमें वैदिक संहिताओं से ही प्राप्त होने लगती है। अतएव, अनिष्ट या अमंगल-निवारण को काव्य का एक प्रयोजन मानकर एक तरह से संस्कृत काव्य-साहित्य के बड़े भाग के साथ न्याय किया गया है।

(5) सद्यःपरनिर्वृति (रस अथवा आनन्द)

'सद्यःपरनिर्वृति' का अर्थ करते हुए मम्मट ने कहा है – 'सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं ...' अर्थात् वह अलौकिक काव्य-संभूत आनन्द है जो काव्य का परम प्रयोजन है। रसास्वाद-रूप अलौकिक आनन्द इसलिए है कि इसका साधन भी एक अलौकिक वस्तु है। यह आनन्द न तो वेदशास्त्रादि से सम्भव है और न ही पुराण, इतिहासादि से; क्योंकि काव्य से प्राप्त आनन्द में न तो काल का व्यवधान होता है और न ही स्थान का। काव्य से रस-प्रतीति और रस-प्रतीति में जीवनादर्श की ओर प्रगति एक ही प्रयोजन के दृष्टि-भेद से विश्लेषणात्मक भेद है।

नाट्यशास्त्रकार भरत की यह घोषणा कि दुःखार्त, श्रमार्त और शोकार्त लोगों के लिए नाटक (विस्तृत अर्थ में काव्य) विश्रान्ति पहुँचाने वाला है, इसी बात की पुष्टि करती है।

(6) कान्तासम्मित उपदेश

काव्य का उपरिनिर्दिष्ट अनूठापन कान्तासम्मित उपदेश-योग है। इसके लिए मम्मट को अभिनव गुप्त का आभारी होना चाहिए; क्योंकि सबसे पहले उन्होंने ही 'जायासम्मिततत्त्वलक्षण विशेष' का उल्लेख किया। मम्मट ने 'जायासम्मित को 'कान्तासम्मित' बनाकर उपस्थित किया। 'जाया' और 'कान्ता' एक ही नारी के दो रूप व दो भावनाएँ हैं। 'जाया' में जो अनुराग सम्भव है, उसमें फल-भावना की भी चिन्ता छिपी है किन्तु 'कान्ता' की भावना एकमात्र हृदयानुरक्ति की पुष्टि और अभिव्यक्ति है। अनुरक्ति में एक तो फल की चिन्ता होती नहीं, यदि होती भी है तो उसकी अपूर्णता का अभिप्राय रखती है। काव्यसम्मित उपदेश की व्याख्या करते हुए मम्मट ने लिखा – काव्य राजा व स्वामी के समान आदेशात्मक वेदादि शास्त्रों से भिन्न, मित्र के समान तात्पर्य रखने वाले पुराण एवं इतिहास आदि से विलक्षण है। यह तो रस के सहायक विभावादि से युक्त लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराने वाले निपुण कवि की कृति है। अतः प्रिया के समान सरसता उत्पन्न कर श्रोता और पाठक को अपने उद्देश्य की ओर प्रेरित कर 'राम के समान आचरण करना चाहिए, न कि रावण के समान' – यही उपदेश देता है। यहाँ भी ध्वनिवाद का प्रभाव लक्षित है। मम्मट ने उसे सुरक्षित ही नहीं रखा अपितु परिष्कृत भी किया।

'कान्तासम्मित उपदेश' का अर्थ अधिकांश काव्यशास्त्री और पाठक यों लेते हैं – कविता कान्ता (प्रिय पत्नी) की तरह मृदु-मधुर वाणी में उपदेश करती है – आघात पहुँचाए बगैर।

उपरिविवेचित इन छह प्रयोजनों को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है – (i) कवि से सम्बद्ध तथा (ii) सहृदय / भावक से सम्बद्ध। यश, अर्थ-लाभ तथा अनिष्ट-निवारण कवि से सम्बद्ध हैं। ऐसा इसीलिए कि ये

तीनों उसी को प्राप्त होते हैं, जबकि 'सद्यःपरिनिर्वृति' (आनन्द), 'लोकव्यवहार' एवं 'कान्तासम्मित उपदेश' सहृदय (श्रोता / पाठक / भावक) को प्राप्त होते हैं।

12. आचार्य विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में काव्य-प्रयोजन

भामह की ही तरह विश्वनाथ ने भी चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को काव्य का प्रयोजन माना है –

चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखादल्पधि यामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

बिना किसी कष्ट-साधना के अल्पबुद्धि मनुष्य को भी काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होतीहै।

13. केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' में काव्य-प्रयोजन

अलंकारवादी केशव मिश्र के अनुसार, प्रीति, कीर्ति, लोकहित, त्रिवर्ग-प्राप्ति इत्यादि काव्य-प्रयोजन हैं; यथा –

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् प्रीतिं कीर्तिं च विन्दति॥

* * *

हिताय सुकविः कुर्यात्।

* * *

लाभ पूजा ख्यातिर्धर्मः कामश्च मोक्षश्च।
इष्टानिष्ट प्राप्ति त्यागौ ज्ञानं फलानि काव्यस्य॥

14. पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' में काव्य-प्रयोजन

पण्डितराज ने यश, लोकोत्तर आनन्द, गुरु-राजा-देवता की प्रसन्नता को काव्य-प्रयोजन माना।

संस्कृत-काव्यशास्त्र की अविच्छिन्न धारा पण्डितराज जगन्नाथ तक आकर समाप्त हो जाती है। इन काव्यशास्त्रियों में मम्मट का काव्य प्रयोजन-विमर्श, अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और युक्तिसंगत बन पड़ा है। उनकी 'षट्प्रयोजनी' में सभी काव्यशास्त्रियों के मत सन्निविष्ट हो गए हैं। इनमें से तीन-चार काव्य-प्रयोजनों की बार-बार आवृत्ति हुई है; यथा – (i) त्रिवर्ग / चतुर्वर्ग, (ii) प्रीति, (iii) कीर्ति तथा (iv) लोकहित। इनमें से कुछ का

सम्बन्ध कवि से है; यथा – अर्थ-लाभ और कीर्ति तो कुछ का सम्बन्ध श्रोता या पाठक (सहृदय) से; जैसे – प्रीति तथा लोकहित। स्वान्तःसुखाय के आधार पर प्रीति का सम्बन्ध कवि से भी होता है।

1.3.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन

हिन्दी काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन को तीन उपखण्डों में विभक्त कर अध्ययन करेंगे – (i) मध्यकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन, (ii) रीतिकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन, (iii) आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन।

1.3.2.2.1 मध्यकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन

1. तुलसीदास के अनुसार काव्य-प्रयोजन

साधारणतः मध्यकालीन काव्यशास्त्र का तात्पर्य रीतिकालीन कवि-आचार्यों द्वारा निर्मित काव्यशास्त्र से है किन्तु इसकी पूर्वपीठिका का काम भक्तिकाल करता है। तब हमारी दृष्टि सीधे तुलसीदास पर ठहरती है जिन्होंने अपने काव्य-विषयक मत 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में विन्यस्त कर रखे हैं। उनके अनुसार काव्य-प्रयोजन तीन हैं –

i. स्वान्तःसुखाय

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषानिबंधमति मंजुलमातनोति।

अर्थात् तुलसीदास अपने अन्तःकरण के सुख के लिए मनोहारी भाषा-रचना में रघुनाथ की निर्मल गाथा को निबद्ध करता – उसे प्रसारित करता है।

ii. प्रीति

जे पर भनिति सुनत हरषाही। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥

अर्थात् जो दूसरों की रचना सुनकर हर्षित होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष (श्रोता) संसार में बहुत नहीं हैं। यहाँ महाकवि ने दो बातें कही हैं – (क) रचनाओं का प्रीतिकर होना तथा (ख) योग्य / सहृदय श्रोता या पाठक का अभाव।

iii. लोकहित

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकहँ हित होई।

अर्थात् कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वहीं भली होती है, जो गंगा नदी की तरह सबका कल्याण करने वाली हो।

प्रश्न है, क्या 'स्वान्तःसुखाय' और 'सबकहँ हित' परस्पर-विरोधी नहीं ? जो 'काव्य स्वान्तःसुखाय' होगा, वह लोकहितकर कैसे होगा ? उत्तर यह होगा कि वस्तुतः सन्तकवि का स्वान्तःसुख भी परहित से जुड़ा होता है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य-रचना तो कवि अपने अन्तःकरण की तृप्ति के लिए करता है लेकिन परहित को ध्यान में रखकर।

1.3.2.2.2 रीतिकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन

1. कवि-आचार्य कुलपति के अनुसार काव्य-प्रयोजन

कवि-आचार्य कुलपति ने मम्मट की तर्ज पर निम्नलिखित काव्य-प्रयोजन सुनिश्चित किए हैं –

जस सम्पति आनन्द अति, दुखि न डारे सोइ।
होत कवित ते चतुरई, जगत्राम बरन होइ॥

प्रथम दृष्ट्या यह मम्मट के 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे' का यथावत् रूपान्तरण है।

2. आचार्य देव के अनुसार काव्य-प्रयोजन

देव के मतानुसार आनन्द और यश काव्य के दो प्रयोजन हैं। देखिए –

ऊँच नीच अरु कर्म बस, चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवन्त जस, भव्य काव्य सुखमार॥

3. आचार्य सोमनाथ के अनुसार काव्य-प्रयोजन

कवि आचार्य सोमनाथ ने कीर्ति, धन, मनोविनोद, अनिष्ट-नाश तथा उपदेश – ये पाँच काव्य-प्रयोजन माने हैं; जैसे –

कीरति बिना विनोद अस, अति मंगल को देति।
करै भलौ उपदेस नित, यह कवित्त चित चेति॥

4. आचार्य भिखारीदास के अनुसार काव्य-प्रयोजन

कवि आचार्य भिखारीदास ने चार प्रयोजनों का उल्लेख किया है; जैसे – चतुर्वर्ग का फल, धन-लाभ, यशोलाभ तथा लोकोत्तर आनन्द। देखिए –

एक लहै तपपुंजन के फल, त्यों तुलसी और सूर गुसाई
एक लहै बहु संपति केशव, भूषन ज्यों बनवीर बताई।
एकन्ह को जस ही यों प्रयोजन, है रसखानि रहीम की नाई
दास कवितन्ह की चरचा, बुधिवनान को मुख दै सब ठाई॥

रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों में मौलिकता कम दृष्टिगत होती है जबकि संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुकरण अधिक हुआ है।

1.3.2.2.3 आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन

1. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का अभिमत

अपनी पुस्तक 'साहित्य विचार' में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में यों लिखते हैं – "कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता ही के लिए कविता करना एक तमाशा है। कविता में मनोरंजन और उपदेश के तत्त्व तो होने चाहिए, लेकिन गौण रूप में। 'ऊँचा उद्देश्य' से उनका तात्पर्य सामान्य जनजीवन से अपने को जोड़कर बेहतर मनुष्य के निर्माण से है।"

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत

'चिन्तामणि' में संगृहीत निबन्ध 'कविता क्या है' में आचार्य शुक्ल लिखते हैं – "कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय की सामंजस्य-स्थापना है। इतने गम्भीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते ही में रह जाने वाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरान्त कुछ और भी होता है और 'वहीं और' सब कुछ है।" (पृ. : 116)

शुक्लजी की दृष्टि में मनोरंजन कविता का साधन मात्र है, साध्य है – जगत् से मनुष्य-हृदय का सामंजस्य।

3. मैथिलीशरण गुप्त का अभिमत

कुछ ऐसी ही बात राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी कही है –

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए
उसमें उचित उपदेश का भी कर्म होना चाहिए।

दोनों में अन्तर इतना ही है कि शुक्लजी ने जगत् और कवि तथा कविता के माध्यम से श्रोता / पाठक के हृदय-सामंजस्य पर बल दिया है जबकि गुप्तजी ने उपदेश पर। शुक्लजी की तुलना में गुप्तजी का मत हल्का है।

4. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत

आचार्य द्विवेदी ने अपनी आलोचना-पुस्तक 'साहित्य सहचर' के कविता-प्रकरण में 'काव्य-प्रयोजन' विषयक अभिमत इन शब्दों में प्रकट किया है – "मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थ-बुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित करना, परदुःखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत् के भीतर चिरस्तब्ध 'एक' की अनुभूति के द्वारा प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य का कवि है। " (पृ. : 69)

प्रश्न है, जब से काव्य-रचना प्रारम्भ हुई है, तब से अब तक कितने लोग देवता बने हैं ? उत्तर होगा – देवता से उनका आशय मनुष्येतर दिव्य प्राणी से नहीं अपितु निःस्वार्थ, परोपकारी, दयालु, संवेदनशील मनुष्य से है। काव्य-पढ़ सुनकर लोगों का हृदय-परिवर्तन तो होता रहा है।

5. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का अभिमत

आचार्य वाजपेयी साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति को मानते हैं। उनके यहाँ प्रयोजन कभी कारण के अर्थ में आता है तो कभी उद्देश्य के अर्थ में। वे पूछते हैं कि क्या सृष्टि की अनुभूति से रहित काव्य-रचना की कल्पना की जा सकती है ?

6. डॉ॰ नगेन्द्र का अभिमत

रसवादी आचार्य डॉ॰ नगेन्द्र ने "आत्माभिव्यक्ति को साहित्य का प्रयोजन माना है।" दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने 'आत्म' और 'अनात्म' की चर्चा करते हुए 'अद्वैतवाद' और 'भौतिकवाद' पर विचार किया। "अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है और भौतिकवाद 'आत्म' को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। ... व्यावहारिक तल पर दोनों ही इस द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। ... साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है।" उनका यह मत अतिव्याप्ति-दोष से ग्रस्त है। साहित्य का प्रायः हर रूप आत्मानुभूति का ही प्रकाशन है। इसमें नव्यता कहाँ है ?

7. डॉ॰ रामविलास शर्मा का अभिमत

डॉ॰ शर्मा के मतानुसार, "साहित्य स्वायत्त नहीं होता, जनता के प्रति जवाबदेह होता है।" वे काव्य ही नहीं, समस्त साहित्य को मनुष्य-जीवन, विशेषतः दलित-शोषित के प्रति जवाबदेह बताते हैं।

8. डॉ॰ भगीरथ मिश्र का अभिमत

डॉ॰ मिश्र ने अपनी पुस्तक 'काव्यशास्त्र' में विश्व भर के विभिन्न काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए अन्त में आत्माभिव्यक्ति को काव्य (साहित्य) का परम प्रयोजन बताया। उन्होंने जिन प्रयोजनों की चर्चा की है, वे

इस प्रकार हैं – कला कला के लिए, कला जीवन के लिए, जीवन से पलायन के लिए, मनोरंजन अथवा आनन्द के लिए, सेवा के अर्थ में, आत्मसाक्षात्कार के अर्थ में, (काव्य) सृजनात्मक आवश्यकता तथा आत्माभिव्यक्ति के लिए।

इन आधुनिक आचार्यों ने आधुनिक युगके आलोक में परिस्थितियों को देखते हुए प्रयोजनों का उल्लेख किया है। इन सबके केन्द्र में मनुष्य और उसका जीवन है, भेदभाव-रहित समाज का निर्माण है। मध्यकालीन आचार्यों के काव्य-प्रयोजनों – कीर्ति, प्रीति आदि के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है।

1.3.3 समाहार

1. भारतीय काव्य-प्रयोजन का मूल आधार अलंकार, ध्वनि, रस और वक्रोक्ति-विषयक चिन्तन है।
1. काव्य-प्रयोजन के प्रथम विमर्शकार अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह रहे हैं।
2. मम्मट का काव्य-प्रयोजन-विमर्श अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और युक्तिसंगत है। फलस्वरूप, मान्य भी।
3. इन काव्य-प्रयोजनों को कवि-केन्द्रित तथा श्रोता-पाठक / श्रोता-केन्द्रित – इन दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है; यथा – अर्थ व कीर्ति की प्राप्ति तथा अनिष्ट-निवारण कवि-केन्द्रित काव्य-प्रयोजन है तो 'प्रीति' श्रोता-पाठक (भावक)-केन्द्रित।
4. परवर्ती आचार्यों के मत 'मम्मट' की ही आवृत्ति हैं।
5. हिन्दी काव्यशास्त्रियों में रीतिकालीन मत संस्कृताचार्यों का ही चर्वित चर्वण हैं।
6. हिन्दी के आधुनिक आचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत मौलिक प्रतीत होते हैं।

1.3.4 बोध-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वामन की पुस्तक का क्या नाम है ?
   (क) काव्यलंकार
   (ख) नाट्यशास्त्रम्
   (ग) अलंकार सूत्रवृत्तिः
   (घ) साहित्यदर्पण

2. 'काव्यादर्श' के प्रणेता कौन हैं ?
   (क) भरत
   (ख) वामन
   (ग) दण्डी
   (घ) भामह

3. 'त्रिवर्ग' का क्या अर्थ है ?
   (क) धर्म-अर्थ-काम
   (ख) धर्म-अर्थ-मोक्ष
   (ग) धर्म-अर्थ-मनोविनोद
   (घ) इनमें से कोई भी नहीं

4. 'ध्वन्यालोक-लोचन के लेखक कौन हैं ?
   (क) आनन्दवर्धन
   (ख) कुन्तक
   (ग) अभिनव गुप्त
   (घ) विश्वनाथ

5. 'अलौकिक काव्य-संभूत आनन्द' के लिए मम्मट ने कौन-सा शब्द प्रयुक्त किया है ?
   (क) सद्यःपरनिर्वृतये
   (ख) शिवेतरक्षतये
   (ग) कान्तासम्मित उपदेश
   (घ) कोई नहीं

6. 'स्वान्तःसुखाय' का प्रयोजन-विषयक मत किस कवि-आचार्य का है ?
   (क) कुलपति का
   (ख) तुलसीदास का
   (ग) भिखारीदास का
   (घ) मतिराम का

7. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का काव्य-प्रयोजन-विषयक मत किस पुस्तक में है ?
   (क) चिन्तामणि में
   (ख) हिन्दी काव्यशास्त्र में
   (ग) साहित्य सहचर में
   (घ) हिन्दी साहित्य की भूमिका में

टिप्पणी लिखिए –

1. ध्वन्यालोक
2. काव्यप्रकाश
3. तुलसीदास का काव्य-मत
4. डॉ० नगेन्द्र
5. डॉ० भगीरथ मिश्र का काव्य-प्रयोजन

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. काव्य-प्रयोजन से क्या समझते हैं ? नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि द्वारा सुझाए गए प्रयोजनों पर विचार कीजिए।
2. मम्मट के काव्य-प्रयोजनों का विश्लेषण कीजिए।
3. हिन्दी के आचार्यों में आपको किनका मत अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है ?
4. "हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों के प्रयोजन-विषयक मत संस्कृताचार्यों के मतों की छाया मात्र हैं।" – इस कथन की युक्तियुक्तता पर विचार कीजिए।

1.3.5 कठिन शब्दावली

शब्दावली	**:**	**अर्थ**
ननु-नच	:	अगर-मगर
प्ररोचना	:	उत्तेजना, उद्दीपन, निदर्शन, प्रतिस्थापना, रोचक वर्णन
जाया	:	पत्नी (संतान उत्पन्न करने वाली)
लोकवृत्त	:	लोक में प्रचलित किस्सा-कहानी
स्वायत्त	:	अपने में / तक सीमित

1.3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. वेदव्यास, कृ. द्वै. (2007). अग्निपुराणम्, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन. पृ. क्र. : 42
02. मम्मटाचार्य (2001). काव्यप्रकाश, वाराणसी चौखम्भा विद्या भवन. पृ. क्र. : 5
03. सिंह. डॉ० विजयपाल (1999). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. जयभारती प्रकाशन. ISBN : 81.8595.24-X. पृ. क्र. : 41 – 47
04. सिंह, यो. (2006). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन. पृ. क्र. : 100 – 111.
05. मिश्र, भ. (2012). काव्यशास्त्र. वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन. ISBN : 978.81.7124.900.8. पृ. क्र. : 27 – 40.

06. मिश्र, रा. (1998). काव्य-दर्पण. पटना भारतीय भवन. पृ. क्र. : 16 – 17.
07. प्रेमी, गं., श्रीवास्तव, डॉ॰ त्रिलोकीनाथ. भारतीय काव्यशास्त्र. आगरा. हरीश प्रकाशन मन्दिर. पृ. क्र. : 23 – 28.
08. तुलसीदास, गो. . रामचरितमानस. गोरखपुर. गीताप्रेस. पृ. क्र. : 17
09. शुक्ल, रा. (1985). चिन्तामणि. इलाहाबाद. इण्डियन प्रेस प्रा.लि. . पृ. क्र. : 116
10. द्विवेदी, ह. . साहित्य सहचर. पृ. क्र. : 69
11. सिंह, रा. (1970). आचार्य मम्मट और काव्य-प्रकाश, लखनऊ, प्रकाशन केन्द्र. पृ. क्र. : 6 – 33

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : काव्य के भेद

इकाई – 1 : काव्य के भेद

इकाई की रूपरेखा

2.1.0 उद्देश्य कथन
2.1.1 प्रस्तावना
2.1.2 विषय-विस्तार
2.1.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य के भेद
2.1.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य के भेद
2.1.3 समाहार
2.1.4 बोध-प्रश्न
2.1.5 कठिन शब्दावली
2.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के लेखन का उद्देश्य पाठकों (शिक्षार्थियों) को काव्य के परम्परित एवं नवीन भेदों से अवगत कराना है। काव्य के ये विविध भेद, संस्कृत एवं हिन्दी-काव्यशास्त्रों पर आधारित होंगे। पाठकों की बेहतर काव्यशास्त्रीय समझदारी के लिए यह आवश्यक भी है।

2.1.1 प्रस्तावना

'भिन्न रुचिर्हि लोकाः' अर्थात् लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यह बात कवियों के बारे में भी कही जा सकती है। अपनी रुचि, प्रकृति और क्षमता के अनुसार ही कवि काव्य-रूप का चयन करते हैं। किसी को प्रबन्ध काव्य-लेखन में विशेष दक्षता होती है तो किसी को मुक्तक-काव्य-लेखन में, किसी को गीत-लेखन में विशेष योग्यता रहती है तो किसी को चम्पू-लेखन में।

रुचि के अतिरिक्त देशकाल भी एक कारक है जो कवियों को अलग-अलग काव्य-रूप अपनाने के लिए प्रेरित करता है। उदाहरणार्थ, आज की परिस्थिति महाकाव्य-लेखन के लिए बहुत उपयुक्त नहीं है। फलस्वरूप, महाकाव्य-लेखन कम हो रहा है।

2.1.2 विषय-विस्तार

2.1.2.1 संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य के भेद

1. 'अग्निपुराणम्' में काव्य-भेद

अग्निपुराणकार ने 'काव्यादिलक्षणम्' नामक 337वें अध्याय के 8वें छन्द में त्रिविध काव्य-भेद का उल्लेख किया है – "गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्" अर्थात् काव्य तीन प्रकार का कहा गया है – गद्य, पद्य और चम्पू। पुनः अगले कई छन्दों में काव्य के उपभेदों पर विचार किया गया है – "अपदः पदसंतानो गद्यं तदपि गद्यते। चूर्णकोत्कलिकावृत्तसन्धि भेदात् त्रिरूपकम्॥" पद-रहित (चरण-रहित) पद-समूह गद्य कहलाता है। चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तसन्धि – भाषा के आधार पर गद्य के ये तीन रूप होते हैं। गद्य-काव्य के पाँच प्रकार होते हैं – आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा तथा कथानिका।

पद-सहित (चरण-सहित) पद-समूह पद्य कहलाता है। इसके सात भेद होते हैं – महाकाव्य, कलाप, पर्याबंध, विशेषक, कुलक, मुक्तक तथा कोष। द्रष्टव्य है – "पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा। महाकाव्यं कलापश्च कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम्।" सर्गबद्ध, ऐतिहासिक कथा से सम्बद्ध, शक्वरी, अतिजगती, त्रिष्टुप् आदि छन्दों से युक्त, सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन के नियम से बद्ध, वस्तुवर्णन, वृत्ति, रीति, रस, अलंकार-युक्त, पद्य महाकाव्य कहलाता है। कौशिकी वृत्तियुक्त कोमल रचना 'कलापक' कहलाती है। संस्कृत या अन्य भाषा में निबद्ध काव्य-सामग्री वाली रचना 'सविशेषक', विभिन्न छन्दों से युक्त रचना 'कुलक' और 'सन्दानितक' को कहते हैं। जिसका प्रत्येक श्लोक सहृदयों को प्रभावित करने में सक्षम हो, वह रचना तथा कवियों की प्रभावी सूक्तियों का संग्रह वाली रचना 'कोष' कहलाती है। इसमें रस का प्रवाह असीम रूप में होता है।

अग्निपुराणकार ने 'चम्पू' के बारे में कुछ नहीं लिखा। काव्य के ये भेद और लक्षण आंशिक रूप से ही स्वीकार्य हैं; यथा – महाकाव्य तथा मुक्तक। कलाप, पर्याबंध आदि भेदों को लोगों ने अस्वीकृत कर दिया।

2. आचार्य भामह के मतानुसार काव्य-भेद

श्रव्यकाव्य-परम्परा के प्रथम प्रामाणिक आचार्य भामह के ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में काव्य-लक्षण के साथ-साथ काव्य-भेद पर भी विचार किया गया है। देखिए –

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंशं इति त्रिधा॥

अर्थात् शब्दार्थ के सुमेल से निर्मित काव्य दो प्रकार का होता है – गद्य और पद्य। पुनः भाषा के आधार पर इसके तीन भेद होते हैं – संस्कृत काव्य, प्राकृत-काव्य तथा अपभ्रंश काव्य।

काव्य को गद्य तथा पद्य में विभक्त करने के पीछे भामह की दृष्टि तथा चेष्टा अवृत्तबंध और वृत्तबंध की रचना-परम्परा में समन्वय लाने की है। उनके पूर्व संस्कृत-वाङ्मय में छन्दोमुक्त तथा छन्दोबद्ध – दोनों प्रकार के काव्य रचे जा चुके थे। छन्द को काव्य का अनिवार्य अंग नहीं माना गया था। यही कारण है कि छन्दोमुक्त काव्यात्मक रचनाओं को भी काव्य मान लिया गया। वामन ने तो गद्य-लेखन को कवियों का निकष ही मान लिया – "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।"

3. आचार्य दण्डी के मतानुसार काव्य-भेद

अलंकार और रीति – इन दो सिद्धान्तों के बीच खड़े 'काव्यादर्श' के लेखक आचार्य दण्डी ने काव्य के तीन भेद किये – (i) गद्य (ii) पद्य तथा (iii) गद्य-पद्य-मिश्रित, अर्थात् चम्पू काव्य। नाटक को काव्य-भेद के रूप में स्वीकार करने का और कोई उपाय भी नहीं था। स्वयं आचार्य भरत ने नाटक को काव्य कहा था। नाटक में गद्य-पद्य-मिश्रित रचना के कारण काव्य का 'मिश्र' नामक तीसरा भेद उचित ही है।

4. आचार्य वामन के अनुसार काव्य-भेद

आचार्य वामन ने पहले काव्य को गद्य तथा पद्य – इन दो स्थूल वर्गों में विभक्त किया। पुनः, गद्य को वृत्तगंधि व उत्कलिकाचूर्ण में तथा पद्य को निबद्ध (प्रबन्ध) एवं अनिबद्ध (मुक्तक) में वर्गीकृत किया। देखिए –

पद्यमनेकभेदम्॥ तदनिबद्धं निबद्धं च॥

व्याख्याकार गोपेन्द्र तिप्यभूपाल के अनुसार –

अनिबद्ध मुक्तकं निबद्धं प्रबंधरूपमिति प्रसिद्धिः॥

5. आचार्य रुद्रट के मतानुसार काव्य-भेद

आचार्य रुद्रट ने उपरिलिखित भेदों (गद्य, पद्य तथा मिश्र) के अतिरिक्त भाषिक आधार पर तीन प्रकार किये – (i) मागधकाव्य (मागधी अपभ्रंश में रचित) (ii) पैशाचकाव्य (पैशाची अपभ्रंश में रचित) तथा (iii) शौरसेनकाव्य (शौरसेनी अपभ्रंश में रचित)। कालान्तर में इसी शौरसेनी से ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि का विकास हुआ। वर्ण्य वस्तु के आधार पर रुद्रट ने देवचरितशंसि उत्पाद्य, कलाश्रय, शास्त्राश्रय – जैसे भेदों का भी निरूपण किया है।

6. आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार काव्य-भेद

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में काव्य के तेरह भेद दिखाए हैं – मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबंध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबंध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाटक), आख्यायिका तथा कथा। द्रष्टव्य है –

काव्यस्य प्रभेदाः मुक्तकं संस्कृत प्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्; सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि; पर्यायबन्धः परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे, इत्येवमादयः।

– (ध्वन्यालोक, 3 उद्योत)

अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में इसका भाष्य किया है।

इनमें से कुछ भेदों का उल्लेख अग्निपुराणकार ने भी कर रखा है। आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत काव्य-कोटीकरण एक तरह से संस्कृत काव्य-साहित्य के ऐतिहासिक जीवन का विवरण है। ज्ञातव्य है कि यह काव्य-भेद काव्य-तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से नहीं, बल्कि काव्य-निर्माण के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से स्वीकृत किया गया है। आलोचकों ने इसे 'ध्वनिसंज्ञित' काव्य-प्रकार की संज्ञा दी है लेकिन इन तेरह प्रकारों को उन्होंने सिर्फ तीन ध्वनिकाव्य, गुणीभूतकाव्य तथा चित्रकाव्य में समेट लिया।

समासतः, आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने, वास्तव में, काव्य के दो ही भेद बताए हैं – (i) सरस या ध्वनिकाव्य, जिसमें 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूतव्यंग्य' का विभाजन रस-प्रतीति की दृष्टि से नहीं, वरन् व्युत्पत्ति की दृष्टि से किया गया है। (ii) नीरस अथवा चित्रकाव्य, जिसमें रस गौण होता है। इसमें शाब्दिक चमत्कार मात्र का प्रदर्शन होता है।

7. आचार्य मम्मट के मतानुसार काव्य-भेद

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के प्रथम उल्लास में आनन्दवर्धन की तर्ज पर काव्य के तीन भेद निश्चित किये हैं – (i) उत्तम काव्य अथवा ध्वनिकाव्य (ii) मध्यम काव्य अथवा गुणीभूतव्यंग्यकाव्य (iii) अवर काव्य अथवा चित्रकाव्य। देखिए –

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्। शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्॥

(i) उत्तम काव्य अथवा ध्वनिकाव्य

उत्तम या ध्वनि काव्य वह होता है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है।

(ii) मध्यम काव्य अथवा गुणीभूतव्यंग्यकाव्य:

मध्यम काव्य वह होता है जिसमें व्यंग्यार्थ की तुलना में वाच्यार्थ प्रभावशाली (चमत्कारी) होता है। मम्मट ने इसे गुणीभूतव्यंग्य की संज्ञा दी है; क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ गौण पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में, व्यंग्य का गौण हो जाना ही गुणीभूत व्यंग्य है।

मम्मट मध्यमकाव्य को भले ही चमत्कारी न मानते हों परन्तु आनन्दवर्धन इसे कम चमत्कारी नहीं मानते हैं। उनके अनुसार, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य का सौन्दर्य काव्यमात्र का व्यापक सौन्दर्य होता है। तात्पर्य यह कि जिसे ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य की संज्ञा दी है, उसे मम्मट ने उत्तम काव्य कहकर अभिहित किया है और जिसे आनन्दवर्धन ने 'गुणीभूतव्यंग्य कहा, उसे मम्मट ने मध्यम काव्य नाम दिया है।

मम्मट ने मध्यम काव्य (गुणीभूतव्यंग्य) को निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है –

ग्रामतरुणं तरुण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

– (काव्यप्रकाश-13)

अर्थात् बेंत की तत्क्षण तोड़ी हुई मंजरी को हाथ में लिये गाँव के तरुण को देख तरुणी के मुख की छाया मलिन पड़ रही है।

नायिका अभिसार-स्थल 'वंजुल-निकुंज' में मिलने का संकेत देकर भी वहाँ नहीं गई। इस पद्य में व्यंग्यार्थ यहीं है। किन्तु उसकी मुखच्छाया का मलिन होना कहीं अधिक रमणीय बन पड़ा है। इसलिए, व्यंग्यार्थ की तुलना में वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है – "अत्र वंजुललतागृहे दत्त संकेता नागतेति व्यंग्यंगुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।" इसलिए, यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य का उदाहरणहै।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक (3/35) में एक स्थान पर ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के बीच के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुए लिखा –

प्रकारोऽन्योगुणीभूतव्यंग्याः काव्यस्य दृश्यते, यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥

अर्थात् ध्वनिकाव्य में व्यंग्यार्थ की अनुभूति पर्याप्त मात्रा में होती है, जबकि गुणीभूतव्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थगर्भित वाच्यार्थ की अनुभूति होती है।

(iii) अवरकाव्य अथवा चित्रकाव्य

अवरकाव्य में व्यंग्यार्थ की अपेक्षा शब्द एवं वाच्य चित्रों की ही प्रधानता होतीहै इसीलिए इसे चित्रकाव्य कहते हैं। इसमें व्यंग्यार्थ का पूर्णतः अभाव रहता है। मम्मट के अनुसार, अवरकोटिक काव्य शाब्दिक चमत्कार की विद्युत्छटा से पाठकों या श्रोताओं को चमत्कृत करता है।

शब्द और अर्थ-भेद से अवरकाव्य दो प्रकार का होता है –

(क)शब्दचित्र : इसमें शब्द-चमत्कार प्रमुख होता है।
(ख)अर्थचित्र : इसमें अर्थ-चमत्कार की प्रधानता होती है।

आनन्दवर्धन ने मम्मट के अवरकाव्य को चित्रकाव्य की संज्ञा देते हुए इसे काव्य का अनुकरण या आभास मात्र माना है –

न तन्मुख्यं काव्यं। काव्यानुकारोह्यसौ।

– (ध्वन्यालोक-3/42)

मम्मट ने दोनों भेदों को क्रमशः यों समझाया है –

(क)शब्दचित्र का उदाहरण :

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्च्छनमोहमहर्षिहर्ष विहितस्नानाह्निकाह्वाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदुर्दरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्॥

इसमें कवि ने स्वच्छन्द रूप से उछलते जल का चित्र 'छ' वर्ण की योजना से, लहरों की भयंकर प्रतीति को 'द' तथा 'र' की ध्वनि-योजना से दिखाया है। इसे भक्तिरस का भी उदाहरण माना जा सकता है। परन्तु, यहाँ शब्दचित्र की प्रधानता दिखाना कवि का उद्देश्य है।

(ख)अर्थचित्र का उदाहरण :

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गलानिमीलिताक्षीव भित्राऽमरावती॥

अर्थात् दैत्यराज हयग्रीव के भय से देवेन्द्र अमरावती के द्वार पर अर्गला डालकर उसका मार्ग अवरुद्ध कर देता है। उस समय अमरावती की दशा ऐसी हो जाती है, मानो भयविक्लवा नेत्रनिमीलिता नारी खड़ी हो।

यहाँ वीररसाभास के साथ-साथ उत्प्रेक्षा द्वारा अर्थ-चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहाँ कोई व्यंग्यार्थ नहीं है।

अवर या चित्रकाव्य प्रारम्भिक कवियों द्वारा रचा गया प्रतीत होता है। आनन्दवर्धन भी इसे अभ्यासार्थी प्राथमिक कवियों की ही रचना मानते हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में मम्मटाचार्य के उपरिविवेचित काव्य-भेद ने उल्लेखनीय कार्य यह किया कि पूर्व में काव्य के जो अनेक रूप प्रचलित थे, उन्हें एकरूपता व स्पष्टता देते हुए तीन तक सीमित कर दिया किन्तु इसके लिए वे आनन्दवर्धन के विशेष ऋणी हैं।

8. आचार्य विश्वनाथ के अनुसार काव्य-भेद

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के दो भेद किये – (i) दृश्य और (ii) श्रव्य। चक्षुओं से ग्रहण करने योग्य काव्य को 'दृश्य' की संज्ञा दी तो श्रोत्रेन्द्रिय (काव्य) से ग्राह्य काव्य को श्रव्य। पुनः दृश्य के भी उन्होंने दो प्रकार बताए – रूपक तथा उपरूपक। रूपक की संख्या उन्होंने दस बतायी, जबकि उपरूपक की अट्ठारह।

श्रव्यकाव्य को उन्होंने रचना-शैली की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया – (क) पद्य (ख) गद्य तथा (ग) पद्यगद्योभय (मिश्र)। वर्ण, मात्रा, यति, गति, अर्थात् छन्दों के अनुशासन में बँधे काव्य को उन्होंने पद्य कहकर अभिहित किया जिसके महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक नामक तीन भेद किये।

गद्यकाव्य को भी उन्होंने दो कोटियों में विभक्त किया – (i) कथा तथा (ii) आख्यायिका। कवि-कल्पना प्रसूत कथा वाले गद्यकाव्य को उन्होंने कथा कहकर अभिहित किया तो ऐतिहासिक कथावस्तु वाले गद्यकाव्य को आख्यायिका। हर्ष-चरित, शिवराजविजय आदि आख्यायिका के उदाहरण बताए गए हैं। पद्य और गद्य – दोनों के मिश्रण से लिखित काव्य को उन्होंने पद्यगद्योभय काव्य की संज्ञा दी। इसे हम चम्पू कहकर अभिहित करते हैं। नलचम्पू, रामायणचम्पू, देशराजचरितम् इत्यादि इसके उदाहरण हैं। द्रष्टव्य है –

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं विधा।
छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तन मुक्तकम्॥
द्वाभ्यां तु युग्मकं सदान्तिकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मृतम्॥

अर्थात् श्रोतव्य काव्य श्रव्य कहलाता है। गद्य और पद्य इसके दो भेद हैं। छन्दोबद्ध पद को पद्य तथा छन्दोमुक्त को मुक्तक कहते हैं। दो चरणों वाले मुक्तक को 'मुक्तक', तीन वाले को 'सदान्तिक', चार वाले को 'कलापक' तथा पाँच वाले को 'कुलक' कहा जाता है।

9. पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य-भेद

रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद किये हैं – (i) उत्तमोत्तम, (ii) उत्तम (iii) मध्यम तथा (iv) अधम।

तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।

– रसगंगाधर / प्रथमाननम्।

(i) उत्तमोत्तम

जिसमें शब्द व अर्थ – दोनों अपने को गौण बनाकर किसी अर्थ को अभिव्यक्त करें, अर्थात् व्यंजना वृत्ति द्वारा समझाएँ, उसे उत्तमोत्तम काव्य कहते हैं। उदाहरण (प्रो॰ बहादुर मिश्र द्वारा रचित) –

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते॥

अर्थात् नववधू अपने पति के समीप लेटी हुई है परन्तु आश्चर्य है कि वह अपने मनोरथ को सफल करने में असमर्थ है – लज्जा और भय से न तो प्रिय का चुम्बन ले रही है और न ही आलिंगन। वह चुपचाप देख रही है। यहाँ नायिका-निष्ठ रति व्यंग्य है जो अत्यन्त चमत्कारी है। शब्द गौण हैं। फलस्वरूप, उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण बन पड़ा है। इसे ही ध्वनिकाव्य कहा गया है।

(ii) उत्तम

जिसमें व्यंग्य अप्रधान (गौण) होकर ही चमत्कार का कारण बने, उसे उत्तम काव्य कहते हैं (यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कार कारणं तद् द्वितीयम्।) उदाहरण देखिए –

राघवविरह-ज्वाला-संतापितसह्य-शैलशिखरेषु। शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवन तनयाय॥

अर्थात् रामचन्द्र के विरह की ज्वालाओं से तप्त बनाये गए 'सह्य' नामक पर्व के शिखरों पर शीत ऋतु के समय में सुखपूर्वक सोने वाले बन्दर पवन-पुत्र हनुमान पर क्रोध करते हैं। इसका व्यंग्यार्थ यह है कि हनुमान ने सीता की कुशल सुनाकर रामचन्द्र को शीतल कर दिया, यानी उनका विरह-ताप शीतल हो गया परन्तु हनुमान पर बन्दरों का कोप बढ़ गया; क्योंकि पर्वत इतना शीतल हो गया कि बन्दर थर-थर करने लगे। उनकी नींद बाधित हो गई। व्यंग्य है, राम के विरह-ताप का शमित होना और वाच्य है बन्दरों का कुपित होना।

(iii) मध्यम

जिसमें व्यंग्यार्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्यार्थ के चमत्कार में अन्तर्मुक्त हो जाने से स्पष्टतः अनुभूत न हो, वह मध्यम काव्य कहलाता है । (यत्र व्यंग्य चमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम्) उदाहरण देखिए –

तनय मैनाकगवेषणलम्बीकृत-जलधिजठरप्रविष्ट-हिमगिरि भुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी

अर्थात् वह यमुना उस गंगा की सखी है, जो मानो अपने पुत्र मैनाक को खोजने हेतु लम्बी की हुई तथा समुद्र के उदर में पैठी हुई हिमालय की भुजा है। यहाँ उत्प्रेक्षा का दूसरा रूप उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा है। आरम्भ में उपमा, बाद में संभावना की प्रतीति होती है। गंगा में हिमालय की भुजा से गंगाजल की श्वेतिमा तथा समुद्र के उदर में पैठने से पाताल की तह तक पहुँचने का व्यंग्यार्थ वाच्योत्प्रेक्षा के भीतर छिपा हुआ है।

(iv) अधम

जिसमें वाच्यार्थ के चमत्कार से परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो, उसे अधम काव्य कहते हैं। इसमें कुछ-न-कुछ व्यंग्य अवश्य रहता है परन्तु चमत्कारजनक न होने से अविवक्षित रहता है। (यत्रार्थ चमत्कृत्युपस्कृता शब्द चमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम्) । इसका उदाहरण देखिए–

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवशत्रवे।
गोत्रारिगोत्रजत्राय, गोत्रात्रे ते नमोनमः॥

अर्थात् कोई भक्त भगवान् की स्तुति करता हुआ कहता है कि मित्र (सूर्य) और अभिपुत्र चन्द्र जिनके नेत्र हैं, त्रयी वेदों के शत्रुओं (असुरों) के जो शत्रु हैं तथा गोत्र-पर्वत के शत्रु (इन्द्र) के गोत्रजों (देवताओं) के त्राता (रक्षक) हैं, उन गोत्राता गोपालकृष्ण अथवा वृषभवाहन शिव आपको बार-बार नमस्कार है।

इसमें भगवद्भक्ति-विषयक भावरूप व्यंग्य का चमत्कार अनुप्रास के शाब्दिक चमत्कार में छिप जाने से अधम काव्य का उदाहरण है।

कुछ लोग 'अधमाधम' नामक पंचम भेद की भी वकालत करते हैं, जिसमें अर्थ-चमत्कार न के बराबर हो और शब्द-चमत्कार प्रमुख; जैसे – एकाक्षरपद्य, अर्धावृत्तियमक, पद्मबंध इत्यादि।

कुछ विद्वान् पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा किये गए काव्य के चार भेदों को उत्तम, मध्यम तथा अधम में समेट लेते हैं। वे उत्तमोत्तम को उत्तम में ही समाहित करना पसन्द करते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के बाद ऐसा कोई आचार्य नहीं हुआ, जिसने काव्य-भेद पर विमर्श किया हो।

2.1.2.2 हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य के भेद

1. आचार्य केशवदास के मतानुसार काव्य-भेद

आचार्य केशव ने कवियों के तीन भेद किये – (i) उत्तम, (ii) मध्यम (iii) अधम। उत्तम कवि वह होता है जो भगवद्भक्ति में लीन रहकर पुरुषार्थ की गाथा कहता है। मध्यम कवि कतिपय मानवीय दुर्बलताओं से ग्रस्त होकर भी उत्तमकोटिक कवि से कुछ नीचे रहता है। अधम कवि दोषों की खान होता है। देखिए –

साँची बात न बरनहिं, झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनै नियम कै, कवि मत त्रिविध बखानि॥

लगता है, केशवदास मम्मटाचार्य की काव्य-भेद-विषयक धारणा से प्रभावित हैं। अन्तर इतना है कि इन्होंने जिसे अधम कवि कहा है, उसे मम्मट ने 'अवर' की संज्ञा दी। अर्थ की दृष्टि से दोनों पद समान हैं।

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार काव्य-भेद

आचार्य शुक्ल मुख्यतः काव्यालोचक हैं। उन्होंने काव्य को कई दृष्टियों से वर्गीकृत किया, यथा – प्रकृति के आधार पर, आनन्द की कोटि के आधार पर, रस के आधार पर और रूप के आधार पर।

(1) प्रकृति के आधार पर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति के आधार पर काव्य को प्रकृत तथा अतिरंजित दो आधारों पर विभक्त किया। कवि की भावुकता की सच्ची झलक प्रथम रूप में ही दिखाई पड़ती है।

(2) आनन्द की कोटि के आधार पर

आचार्य शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में संकलित अपने एक आलोचनात्मक निबन्ध 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' में इस आधार पर काव्य के दो भेद किये हैं –

(क) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य

रामायण, महाभारत, रघुवंशम्, शिशुपालवधम्, रामचरितमानस, पृथ्वीराजरासो, हम्मीररासो इत्यादि 'प्रबन्धकाव्य', भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत इसके उदाहरण हैं। शुक्लजी के अनुसार, साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज-भाव करुणा है और गौण भाव प्रेम।

(ख)आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य

इस कोटि के काव्यों के उदाहरण हैं – आर्यासप्तशती, गाथासप्तशती, अमरूशतक, गीतगोविन्द तथा शृंगाररसप्रधान फुटकल पद्य, हिन्दी में सूरसागर, मीरा आदि की पदावलियाँ, बिहारी सतसई, रीतिकालीन कवियों के शृंगारी पद्य, अधिकांश छायावादी कविताएँ, ग़ज़लें इत्यादि।

प्रथम दृष्ट्या शुक्लजी के प्रथम काव्य-भेद में प्रबन्ध और मुक्तक – दोनों शामिल हैं, जबकि द्वितीय काव्य-भेद में सिर्फ मुक्तक।

करुणा दोनों प्रकार के काव्यों में है। यही बात प्रेम के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

(3) रस के आधार पर

इस आधार पर कवियों को दो कोटियों में विभक्त किया –

(क)जो कवि लोक-सामान्य आलम्बनों का विधान करते हैं और उसमें सफल होते हैं।
(ख)जो कवि आलंकारिक चमत्कार या कोरे उपदेश पर आधारित हैं, उन्हें नीतिकार / सूक्तिकार कहते हैं।

(4) रूप के आधार पर

इस आधार पर काव्य को दो कोटियों में विभक्त किया – (क) प्रबन्ध और (ख) मुक्तक। उन्होंने प्रबन्ध को वनस्थली से उपमित किया है तो मुक्तक को 'गुलदस्ता' से। प्रबन्ध-काव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है, घटनाएँ सुशृंखल होती हैं। मुक्तक घटनाओं की पूर्वापर शृंखला से मुक्त होताहै।

शुक्लजी का यह काव्य-प्रकारीकरण अपनी तरह का प्रथम प्रयास है किन्तु समावेशी और निर्भ्रान्त नहीं। फलस्वरूप, स्वीकार्य भी नहीं।

3. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार काव्य-भेद

आचार्य द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'साहित्य-सहचर' के 'कविता' नामक अध्याय में काव्य को दो विभागों में बाँटा है –

(i) विषय-प्रधान

इसमें कवि बहिर्जगत् में अपने को लीन करके अपने बाहर रहनेवाली वस्तु (विषय) में सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। महाकाव्य, ऐतिहासिक चरित्र, उपन्यास इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(ii) विषयी-प्रधान

इस तरह के काव्य में कवि स्वयं (विषयी) को ही प्रकट करता है। गीत आदि इसके उदाहरण हैं।

यह विभाजन भी अपनी तरह का है। काव्य में इस प्रकार का वर्गीकरण लक्षित नहीं होता। अस्तु, गद्य की कुछ विधाओं में यह लक्षित है।

4. डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार काव्य-भेद

डॉ० मिश्र ने अपनी पुस्तक 'काव्यशास्त्र' में संस्कृत-परम्परा का पालन करते हुए काव्य के दो भेद किये – (i) पद्य तथा (ii) गद्य। छन्दोबद्ध रचना पद्य कहलाती है, जबकि छन्दहीन रचना गद्य। पुनः पद्य (काव्य) को कथानक या क्रमबद्धता के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त किया – (क) प्रबन्ध, (ख) निबन्ध (निबद्ध) और (ग) अनिबद्ध (निर्बन्ध या मुक्तक)।

(क) प्रबन्ध

प्रबन्धकाव्य वह पद्य-रचना है, जिसके छन्द कथा-सूत्र की व्यवस्था से पिरोये रहते हैं तथा उसके छन्दों का क्रम अपरिवर्तनीय रहता है।

डॉ० मिश्र ने प्रबन्धकाव्य को दो भागों में विभक्त किया है – (1) महाप्रबन्ध और (2) खण्डप्रबन्ध या खण्डकाव्य।

(1) महाप्रबन्ध

पूर्णता के साथ जीवन के अंगों तथा घटनाओं का व्यापक और सजीव चित्रण करने वाले उस काव्य को महाप्रबन्ध कहा जाता है जिसके नायक उदात्त चरित्र के होते हैं। डॉ० मिश्र ने इसके तीन प्रकार किये –

1) पुराण : समस्त पुराण एवं उपपुराण।
2) आख्यान : इन्द्रावती, मृगावती, नलोपाख्यान, ढोला मारू रा दूहा इत्यादि प्रेमाख्यानक, नीत्याख्यानक तथा साहसिक आख्यानक काव्य।
3) चरित : वीरसिंहदेव चरित, सुजान चरित, छत्रप्रकाश, शिवा बावनी इत्यादि।

'महाकाव्य' को किस कोटि में रखा जाए, डॉ० मिश्र यह बात भूल गए। उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान दे दिया है। इसे महाप्रबन्ध में ही स्थान मिलना चाहिए था जबकि वीरसिंहदेव चरित, रतन-बावनी, छत्रप्रकाश इत्यादि महाप्रबन्ध की कसौटी पर खरे नहीं उतरने के कारण महाप्रबन्ध की कोटि से अलग रखे जाने चाहिए थे।

(2) खण्डप्रबन्ध या खण्डकाव्य

प्रबन्धकाव्य का दूसरा प्रकार खण्डप्रबन्ध या खण्डकाव्य है जिसमें कथावस्तु सम्पूर्ण न होकर उसका एक अंश मात्र होता है। जयद्रथवध, पंचवटी आदि इसके उदाहरण हैं।

डॉ० मिश्र ने खण्डकाव्य को दो विभागों में करते हुए प्रथम को संघात या एकार्थ खण्डकाव्य कहा तो द्वितीय को अनेकार्थ खण्डकाव्य। संघात या एकार्थ खण्डकाव्य एक ही प्रकार के छन्द में एक घटना या दृश्य को लेकर रचित होता है तो अनेकार्थ खण्डकाव्य एकाधिक छन्दों में विविध भावों के साथ जीवन के एक अंश को लेकर रचा जाता है; जैसे – मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'यशोधरा'।

(ख)निबन्ध (निबद्ध)

निबन्धकाव्य वह पद्य-रचना है, जिसके छन्द किसी विचार-सूत्र या भाव-धारा से व्यवस्थित रहते हैं। तुलसी-कृत विनयपत्रिका, प्रसाद-कृत 'प्रलय की छाया', निराला-कृत 'शिवाजी को पत्र' इत्यादि इसके उदाहरण कहे जा सकते हैं।

(ग) अनिबद्ध (निर्बन्ध या मुक्तक)

अनिबद्ध (निर्बन्ध या मुक्तक) वह पद्य-रचना है, जिसके छन्द स्वयं में पूर्ण तथा स्वतन्त्र रहते हैं। वे क्रम के किसी भी आन्तरिक नियम से बँधे नहीं होते। इसके भी कई भेद किये गए हैं – मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक तथा करहाटक।

एक ही छन्द में रचित और पूर्ण अर्थ देने वाली रचना मुक्तक है। दो छन्दों में रचित काव्य युग्मक, तीन छन्दों वाली पद्य-रचना सन्दानितक, चार छन्दों वाली कलापक, पाँच छन्दों वाली कुलक तथा छह छन्दों में रचित मुक्तक काव्य करहाटक कहलाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने दो छन्दों में रचित मुक्तक को सन्दानितक तथा तीन छन्दों वाली रचना को विशेषक की संज्ञा दी है। काव्यादर्श के टीकाकार तर्कवागीश तीन छन्दों वाली रचना को गुणवती, चार छन्दों वाली को प्रभेदक, पाँच छन्दों वाली को बाणावली तथा छह छन्दों में रचित मुक्तक को करहाटक की संज्ञा देते हैं।

गेयता के आधार पर अनिबद्ध (मुक्तक) के दो भेद किये गए हैं – (1) पाठ्य तथा (2) गेय। पुनः, गेय को भी दो कोटियों में रखा गया है – (1) कलागीत और (2) लोकगीत।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने प्रमुखतः संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर काव्य के भेद-प्रभेद किए। उनमें से कुछ प्रचलन में नहीं है। इस समय प्रचलन में जो काव्य रूप हैं, उन्हें समेकित रूप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है –

I. छन्द के आधार पर काव्य-भेद

छन्द के आधार पर काव्य के तीन भेद किये गए हैं – (क) पद्य, (ख) गद्य तथा (ग) पद्य-गद्योभय (मिश्र / चम्पू)।

छन्द में रचित पद को पद्य कहा जाता है, जबकि छन्दमुक्त रचना को गद्य। पद्य-गद्य के मिश्रण से तैयार काव्य पद्य-गद्योभय मिश्र अथवा चम्पू कहलाता है। उदाहरणार्थ – रघुवंशम् (कालिका), शिशुपालवधम् (माघ), नैषधीयचरितम् (श्रीहर्ष), प्रियप्रवास (हरिऔध), साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), कामायनी (प्रसाद), रश्मिरथी (दिनकर), इत्यादि पद्य के दृष्टान्त हैं तो हर्षचरितम्, कादम्बरी आदि गद्य के। नलचम्पू, यशोधरा आदि मिश्र (चम्पू) के उदाहरण माने जाते हैं।

II. स्वरूप-विधान के आधार पर काव्य-भेद

इस आधार पर काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं – (क) दृश्य और (ख) श्रव्य।

(क) दृश्य काव्य

दृश्य काव्य को रूपक तथा उपरूपक में द्विविभाजित किया गया है। आचार्य भरत ने 'पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं' कहकर रूपक को परिभाषित किया है तो दशरूपककार धनंजय ने 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते। रूपकं तत्समारोपात्' कहकर रूपक (नाट्य) की संख्या दस तो उपरूपक की संख्या अट्ठारह मानी है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं –

रूपक : नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक तथा ईहामृग।

उपरूपक : नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिता, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश तथा भणिका।

(ख) श्रव्य काव्य

श्रव्य काव्य को भी 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' के नाम से द्विविभाजित किया गया है।

(अ) प्रबन्ध काव्य

अपरिवर्तनीय छन्दक्रम में रचित उस पद्यात्मक रचना को प्रबन्ध कहते हैं, जिसके छन्द निश्चित कथा-क्रम से आबद्ध होते हैं।

आचार्यों ने इसके दो भेद किये – (1) महाकाव्य और (2) खण्डकाव्य।

(1) महाकाव्य

'महत्' और 'काव्य' इन दो शब्दों से मिलकर बने महाकाव्य का शाब्दिक अर्थ महान् काव्य होता है। इसका प्रथम प्रयोग आदिकाव्य रामायण के इस छन्द में हुआ है –

किम् प्रमाणमिदम् काव्य का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः ॥

लव-कुश के मुख से वाल्मीकि-रचित रामायण को सुनकर श्रीरामचन्द्र ने लव-कुश से पूछा कि इस महान् (महतः) काव्य (काव्यस्य) के रचयिता (कर्त्ता) कौन हैं ?

महाकाव्य को लेकर न केवल संस्कृताचार्यों ने बल्कि हिन्दी के आचार्यों ने भी गहन विचार किया है।

संस्कृत में सर्वप्रथम अग्निपुराणकार ने अग्निपुराण के 337वें अध्याय के 'काव्यादिलक्षणम्' नामक प्रकरण के 24वें से 34वें छन्दों के बीच कुल ग्यारह छन्दों में विचार किया है; यथा –

1. महाकाव्य सर्गबंध रचना है। ये सर्ग विभिन्न वृत्तान्त वाले एवं विस्तृत होते हैं।
   (सर्गबंधो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत्॥24॥)
2. उसका कथानक इतिहास प्रसिद्ध या किसी महात्मा, सज्जन के वास्तविक जीवन पर आश्रित होता है।
   (इतिहास कथोदभूतामितरद्वा सदाश्रयम् ॥25॥)
3. उसमें शक्करी, अतिशक्करी, जगती, अतिजगती, त्रिष्टुप् जाति वाले पुष्पिताग्रादि छन्दों का प्रयोग होता है। सर्ग को न तो बड़ा और न ही छोटा होना चाहिए।
   (शक्कर्याऽतिजगत्याऽतिशक्कर्या त्रिष्टुभा तथा । पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिर्जनैश्चारूभिः समैः । मुक्ता तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्त सर्गकम्॥27॥)
4. उसमें नगर, वन, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, आश्रम, वृक्ष, उपवन, जल-क्रीड़ा, मधुपान-उत्सव, इत्यादि का वर्णन होता है।
   (नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्काश्रमपादपैः ॥29॥ उद्यानसलिलक्रीड़ा मधुपानरतोत्सवैः ॥30॥)
5. उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता होने पर भी उसमें प्राणरूप रस ही विराजता है।
   (वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ॥33॥)
6. उसमें विश्वविख्यात नायक के नाम से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – चतुर्वर्ग की प्राप्ति दिखाई देती है।
   (चतुर्वर्गफलं विश्वविख्यातं नायकाख्याया। समानवृत्ति निर्व्यूढः कैशिकी वृत्ति कोमलः॥34॥)
7. महाकाव्य का प्रारम्भ संस्कृत से किया जाता है। उसमें तद्भव तथा प्राकृतों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

इससे महाकाव्य की कथा, नायकत्व, भाषा, अंग-अंगीरस, छन्द इत्यादि का स्पष्टीकरण होता है। संस्कृत से ही महाकाव्य आरम्भ हो, यह बात उस समय की अनिवार्यता थी।

अग्निपुराण के बाद आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' में महाकाव्य का स्वरूप-वर्णन मिलता है। उन्होंने भी वही सारी विशेषताएँ बतायीं; जैसे – महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए। इसका आकार बड़ा होना चाहिए, इसके चरित्र महान् होने चाहिए, अर्थ सौष्ठव-सम्पन्न तथा अलंकारयुक्त होना चाहिए, इसमें ग्राम्य शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए, उसे मन्त्रणा, दूत-प्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक का अभ्युदय, पंचसन्धि-युक्त होना चाहिए। महाकाव्य में पहले बल, वेग, इत्यादि से संबलित नायक का वर्णन होना चाहिए, तब प्रतिनायक का। नायक का वध नहीं दिखाना चाहिए। जीवन के विविध रूपों, अवस्थाओं, तथा घटनाओं का चित्रण होना चाहिए। व्याख्या की अधिकता नहीं होनी चाहिए। देखिए –

सर्गबद्धो महाकाव्यं महतां च महत्त्व यत्।
अग्राम्य शब्दमर्थ च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मंत्रदूत प्रयाणाजिन नायकाभ्युदयञ्चवत्।
पंचभिसन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येमृद्धियत्॥

भामह में पहली बार प्रतिनायक की कल्पना की गई है, जो इसकी मौलिकता है। आचार्य दण्डी ने भी महाकाव्य-विषयक लगभग वे ही सारे लक्षण बताए हैं, जो अग्निपुराणकार तथा भामह ने गिनाए; यथा –

1. महाकाव्य सर्गबद्ध रचना है, इसका कथावृत्त इतिहास या किसी सज्जन के यथार्थ जीवन पर आधारित होता है।
   (सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्। आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥4॥ इतिहास कथोदभूतमितरद्वा सदाश्रयम्।)
2. इसमें नगर, पर्वत, चन्द्र, सूर्योदय, उपवन, जलक्रीड़ा, मधुपानोत्सव, इत्यादि का वर्णन होता है।
   (नगरार्णव शैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः। उद्यानसलिल क्रीड़ा मधुपानरतोत्सवैः॥16॥)
3. उसमें उदात्त गुणों से युक्त चतुरनायक को चतुर्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन होना चाहिए।
   (चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥15॥)

निम्नलिखित को छोड़कर दण्डी के अधिकांश लक्षण अग्निपुराण से मिलते हैं –

1. महाकाव्य के प्रारम्भ में आशीर्वचन, स्तुति या कथावस्तु का निर्देश।
2. महाकाव्य को विविध वृतान्तों से युक्त, किन्तु लोकरंजक होना चाहिए।
3. उसे दिक्कालजयी होना चाहिए।

किन्तु, सर्गों की संख्या क्या हो, इस बारे में किसी ने संकेत नहीं किया। ईशान संहिता में पहली बार इस पर प्रकाश डाला गया है कि महाकाव्य में आठ से कम सर्ग नहीं होने चाहिए और तीस से अधिक नहीं। (अष्टसर्गान्न तु न्यूनं त्रिशत्सर्गाच्च नाधिकम्।)

आचार्य रुद्रट ने भी महाकाव्य पर विचार किया है परन्तु इनका चिन्तन अन्यों से भिन्न है।

काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने बिल्कुल संक्षेप में महाकाव्य का लक्षण दिया है –

पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्ध भिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वास संध्यवस्कंधबंधं तत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यं।

(काव्यानुशासन, 8/61)

अर्थात् छन्द, सर्गबद्धता, सन्धि - संगठन, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य-वर्णन, भाव, रसादि की विशेषताओं का उल्लेख सूत्र रूप में हुआ है।

इसमें महाकाव्य की धारणा को सूत्र-रूप में पिरोया गया है।

महाकाव्य-सम्बन्धी सर्वांगपूर्ण चिन्तन यदि कहीं व्यक्त हुआ है तो वह आचार्य विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में। देखिए –

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धोरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥
शृंगारवीरशांतानामेकोंऽगी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारः तस्य वर्गास्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्नन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥

(साहित्यदर्पण, 315 – 319)

अर्थात्

01. महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए।
02. नायक, देवता, कुलीन या क्षत्रिय, धीरोदात्त और गुणों से युक्त होना चाहिए।
03. एक वंश में उत्पन्न एकाधिक कुलीन नृप भी हो सकते हैं।
04. शृंगार, वीर, शान्त में से किसी एक को अंगी रस, शेष को अंग रस होना चाहिए।
05. कथावृत्त ऐतिहासिक, मगर सज्जनाश्रित होना चाहिए।
06. महाकाव्य में चतुर्वर्ग का वर्णन होना चाहिए। नायक को उनमें से किसी एक की प्राप्ति होनी चाहिए।
07. महाकाव्य के आरम्भ में नमस्कार, आशीर्वाद या कथावस्तु निर्देश होना चाहिए।

08. महाकाव्य में प्रकृति-वर्णन होना चाहिए; यथा – उसमें संध्या, दोपहर, प्रातः, सूर्य, चन्द्र, आखेट, समुद्र, नदी, पहाड़, वनोपवन इत्यादि।
09. एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन आदि होना चाहिए।
10. महाकाव्य का नामकरण कवि, नायक अथवा कथातत्त्व के आधार पर होना चाहिए।

विश्वनाथ का महाकाव्य-विमर्श 'अग्निपुराण' तथा दण्डी के महाकाव्य-विमर्श का ही विकसित रूप है। उनके समय तक कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष प्रभृति के महाकाव्य प्रकाश में आ चुके थे और उन्हें आदर्श महाकाव्य समझा जाने लगा था। विश्वनाथ के इस महाकाव्य-लक्षण में उस समय की लगभग सारी रूढ़ियाँ आ गई हैं। इसके बावजूद उनका लक्षण महाकाव्य के अंतरंग-पक्ष की अपेक्षा बहिरंग से अधिक सम्बद्ध है। फिर भी विश्वनाथ का महाकाव्य-लक्षण अपेक्षाकृत अधिक समावेशी और लोकप्रिय है। इन लक्षणों को समायोजित कर सात शीर्षकों में रखा जा सकता है।

1. कथावस्तु : महाकाव्य की कथा विस्तृत और पूर्ण जीवनगाथा पर आधारित होनी चाहिए। उसे ऐतिहासिक या लोकप्रिय होना चाहिए। नाटक की सन्धियों के अनुसार आठ से अधिक सर्गों में निबद्ध होना चाहिए। कथारम्भ मंगलाचरण, आशीर्वचन या वस्तु-निर्देश से होना चाहिए।
2. नायक : महाकाव्य का नायक देवता, उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय या एक ही कुल से उत्पन्न राजा और अनेक कुलों में उत्पन्न राजे-महाराजे हो सकते हैं जिसमें धीरोदात्त गुणों का समावेश हो।
3. रस : शृंगार, वीर, शान्त में से किसी एक को अंगी, शेष को अंग रस होना चाहिए।
4. छन्द : कथा एवं रस-प्रवाह के लिए एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए; किन्तु सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन होना चाहिए।
5. वस्तु-वर्णन : महाकाव्य में जीवन की सभी अवस्थाओं के साथ-साथ प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन होना चाहिए। सज्जन की प्रशंसा, दुर्जन की निन्दा का अवकाश होना चाहिए।
6. नामकरण : महाकाव्य का नामकरण कवि, नायक या कथा के आधार पर होना चाहिए। इनके कवि, नायक, मुख्य प्रतिपाद्य, घटनादि की जानकारी मिल सके।
7. उद्देश्य : महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग में से कम-से-कम एक की प्राप्ति होता है।

(2) खण्डकाव्य

आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य को इन शब्दों में परिभाषित किया है –

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

(साहित्यदर्पण / 328-329)

अर्थात् काव्य के एक देश, एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य कहलाता है।

महाकाव्य की तुलना में इसका कलेवर छोटा होता है, जिसमें जीवन का खण्डचित्र होता है। कालिदास-प्रणीत 'मेघदूतम्' को इसका उदाहरण बताया जाता है। हिन्दी में जयद्रथ-वध, पंचवटी, रश्मिरथी इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

खण्डकाव्य को दो कोटियों में विभक्त किया गया है – (क) संघात या एकार्थ (ख) अनेकार्थ।

(क) संघात या एकार्थ खण्डकाव्य

संघात या एकार्थ खण्डकाव्य उसे कहते हैं जिसमें एक ही प्रकार के छन्द में एक घटना अथवा दृश्य का वर्णन किया जाता है –

यत्र कविरेकमर्थम् वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये।
संघातः स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादिः॥

(काव्यादर्श: दण्डी; 1/13)

(ख) अनेकार्थ खण्डकाव्य

अनेकार्थ उस खण्डकाव्य को कहते हैं जिसमें अनेक प्रकार के छन्दों में बहुविध भावों के साथ जीवन के एक अंश का चित्रण होता है; यथा – मैथिलीशरण गुप्त का 'यशोधरा' काव्य।

(आ) मुक्तक या निर्बन्ध-काव्य

काव्य का वह रूप जिसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र हो तथा जिसमें किसी प्रकार की कथा या विचार-शृंखला न हो, मुक्तक या निर्बन्ध काव्य कहलाता है। इसके कई भेद माने गए हैं; जैसे – मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक और करहाटक। प्रचलन में इसके पाठ्य और गेय नाम से दो प्रकार लक्षित हैं। 'बिहारी सतसई' पाठ्य है तो मीरा, कबीर, सूर, प्रभृति के पद गेय। बिहारी सतसई, मतिराम-सतसई, दोहावली (तुलसी) इत्यादि मुक्तक (निर्बन्ध) के उदाहरण माने जा सकते हैं।

III. रमणीयता या शब्दशक्ति के आधार पर काव्य-भेद

इस आधार पर काव्य के तीन भेद किये गए हैं – (क) उत्तम (ख) मध्यम (ग) अधम। व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य उत्तम कहलाता है, गुणीभूतव्यंग्यप्रधान काव्य मध्यम जबकि वाच्यार्थप्रधान काव्य अधम। आचार्य केशवदास की धारणा इससे भिन्न है।

2.1.3 समाहार

1. संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-भेद पर विस्तार से विचार किया गया है। इसमें गद्य और पद्य के साथ-साथ चम्पू को भी सम्मिलित किया गया है।
2. हिन्दी-काव्यशास्त्र में काव्य-भेद को पद्य तक सीमित रखा गया है और यह उचित भी है।
3. पद्य-नाटक या काव्य-रूपक को दृश्य काव्य के अन्तर्गत रखा गया है जो बिल्कुल स्वाभाविक है।
4. श्रव्य काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध पर अपेक्षाकृत अधिक सामग्री मिलती है। प्रबन्ध के अन्तर्गत महाकाव्य को अधिक प्रश्रय दिया गया है।
5. जिसे हम 'मुक्तक' कहते हैं, वास्तव में, वह संस्कृत-काव्यशास्त्र में वर्णित अनिबद्ध या निर्बन्ध का प्रथम प्रकार है।
6. दृश्य काव्यान्तर्गत 'रूपक' का सही पर्याय नाटक नहीं, बल्कि 'नाट्य' है। 'नाटक' तो रूपक का भेद मात्र है।

2.1.4 बोध-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'अग्निपुराणम्' में काव्य के कितने भेद बताए गए हैं ?
   (क) दो
   (ख) तीन
   (ग) चार
   (घ) पाँच

2. मम्मट के अनुसार काव्य कितने प्रकार का होता है ?
   (क) दो
   (ख) तीन
   (ग) चार
   (घ) इनमें से कोई नहीं

3. 'मिश्र' नामक काव्य-भेद का प्रथम उल्लेख कहाँ मिलता है ?
   (क) अग्निपुराण में
   (ख) काव्यादर्श में
   (ग) साहित्यदर्पण में
   (घ) उपर्युक्त में से कहीं नहीं

4. महाकाव्य में सर्गों की न्यूनतम संख्या कितनी होनी चाहिए?
   (क) 07
   (ख) 08
   (ग) 09
   (घ) 10

5. 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' निबन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य के कितने भेद किए हैं ?
   (क) 2
   (ख) 3
   (ग) 4
   (घ) 5

6. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने काव्य के कितने भेद बताए हैं ?
   (क) 2
   (ख) 3
   (ग) 4
   (घ) 5

7. डॉ० भगीरथ मिश्र ने क्रमबद्धता के आधार पर पद्य के कितने भेद किए हैं ?
   (क) 2
   (ख) 3
   (ग) 4
   (घ) 5

टिप्पणी लिखिए –

1. अग्निपुराणम्
2. भामह
3. मम्मट का 'काव्यप्रकाश'
4. विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण'
5. हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'साहित्य-सहचर'
6. खण्डकाव्य

7. मुक्तक

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अग्निपुराण' में वर्णित काव्य-भेदों पर विचार कीजिए।
2. आचार्य भामह के काव्य-प्रकारों की विवेचना कीजिए।
3. आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित काव्य-भेद पर नातिदीर्घ निबन्ध लिखिए।
4. पण्डित जगन्नाथ द्वारा निरूपित काव्य-भेद पर विचार कीजिए।
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादित काव्य-भेदों पर प्रकाश डालिए।
6. "डॉ॰ भगीरथ मिश्र का काव्यभेद-विमर्श अतिव्याप्ति-दोष से ग्रस्त है।" – इस कथन की तार्किक संगति पर प्रकाश डालिए।

2.1.5 कठिन शब्दावली

शब्द	**:**	**अर्थ**
वंजुल	:	बेंत या नरकुल
प्रथम दृष्ट्या	:	पहली नजर में
बहिर्जगत्	:	बाहरी दुनिया
पद्यगद्योभय	:	पद्य और गद्य – दोनों
अवर	:	निम्न / नीचा

2.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. वेदव्यास, कृ. द्वै. (2007). अग्निपुराणम्. प्रयाग हिन्दी साहित्य. पृ. क्र.: 1042
2. मम्मटाचार्य (2001). काव्यप्रकाश. वाराणसी. चौखम्भा विद्याभवन. पृ. क्र.: 13-18
3. कविराज, श्री. (1977). साहित्यदर्पण. दिल्ली. मोतीलाल बनारसीदास. पृ. क्र.: 224-225
4. शुक्ल, रा. (1985). चिन्तामणि. इलाहाबाद. इण्डियन प्रेस प्रा.लि. पृ. क्र.: 118
5. मिश्र, भ. (2012). काव्यशास्त्रं, वाराणसी. विश्वविद्यालय प्रकाशन. ISBN : 978.81.7124.900.8. पृ. क्र.: 45-65

❖❖❖

खण्ड – 3 : शब्दशक्तियाँ : अर्थ और भेद

इकाई – 1 : शब्दशक्तियाँ : अर्थ और भेद

इकाई की रूपरेखा

3.1.0 उद्देश्य कथन
3.1.1 प्रस्तावना
3.1.2 विषय-विस्तार
3.1.2.1 शब्द शक्तियाँ : अर्थ
3.1.2.2 शब्द शक्तियाँ : भेद
3.1.2.2.1 अभिधा : अर्थ और भेद
3.1.2.2.1.1 अभिधा का अर्थ
3.1.2.2.1.2 अभिधा के भेद
3.1.2.2.2 लक्षणा : अर्थ और भेद
3.1.2.2.2.1 लक्षणा : अर्थ
3.1.2.2.2.2 लक्षणा के भेद
3.1.2.2.2.2.1 लक्षणा के अन्य प्रकार
3.1.2.2.3 व्यंजना : अर्थ और भेद
3.1.2.2.3.1 व्यंजना का अर्थ
3.1.2.2.3.2 व्यंजना के भेद
3.1.2.2.4 तात्पर्यावृत्ति
3.1.3 समाहार
3.1.4 बोध-प्रश्न
3.1.5 कठिन शब्दावली
3.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का उद्देश्य है –

i. शब्द और अर्थ के बीच के नित्य सम्बन्ध से पाठकों को परिचित कराना।
ii. शब्द और अर्थ के विविध प्रकारों की जानकारी देना।
iii. शब्दार्थ के अर्थ तथा विविध भेदों-प्रभेदों से पाठकों को भली-भाँति अवगत कराना ताकि वे सुगमतापूर्वक काव्य का भावन कर सकें।

3.1.1 प्रस्तावना

वाङ्मय, विशेषतः काव्य में शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध विशिष्ट माना गया है। वैयाकरण दोनों के बीच के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। शब्द में निहित अर्थ का बोध आवश्यक है और यह काम जो चीज करती है, उसे काव्यशास्त्रीय शब्दावली में 'शक्ति' कहते हैं लेकिन यह जानकर थोड़ा आश्चर्य होगा कि 'शब्दशक्ति' मूलतः संस्कृतकाव्यशास्त्र का शब्द नहीं है। इसे उसने व्याकरण से लिया है और व्याकरण ने पूर्व मीमांसा तथा न्यायशास्त्र से।

काव्यशास्त्र को व्याकरण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान 'स्फोटवाद' सिद्धान्त है। पाणिनि और पतंजलि से लेकर आनन्दवर्धन – सबने इस सिद्धान्त पर अपनी-अपनी तरह से विचार किया है। कहते हैं, ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त इसी 'स्फोटवाद' पर आधारित है।

शब्दों में युक्तिसंगत अर्थ प्रकट करने की योग्यता नहीं है तो वे व्यर्थ हैं। यदि यह कहा जाए कि "वह आग से पौधों को सींचता है" – तो यह बात हास्यास्पद हो जाएगी; क्योंकि 'आग' में सींचने की क्षमता नहीं होती। काव्यशास्त्र में शब्द को त्रिविध माना गया है। फलस्वरूप, अर्थ भी त्रिविध होगा। इसी आधार पर उसकी शक्ति भी त्रिविध होगी जिसे हम अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के नामों से जानते हैं। इनमें प्रथम दो के स्रोत तो व्याकरण, न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र हैं जबकि तीसरी शक्ति का उत्स आनन्दवर्धन का ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है।

3.1.2 विषय-विस्तार

3.1.2.1 शब्द शक्तियाँ : अर्थ

"शब्दार्थसंबंधः शक्तिः", अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'शक्ति' कहलाता है। भारतीय साहित्य-कोष में इसी आधार पर शब्दशक्ति की परिभाषा दी गई है; यथा – "शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति या शब्दशक्ति कहते हैं। इसका दूसरा नाम व्यापार भी है। शब्द में निहित अर्थ-सम्पत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्द-व्यापार या शब्द-शक्ति है। शब्द कारण है और अर्थ कार्य और शब्द-शक्तियाँ साधन या व्यापार-रूप हैं।"

काव्यदर्पणकार रामदहिन मिश्र ने शब्दशक्ति को इन शब्दों में परिभाषित किया है – "प्रत्येक शब्द से जो अर्थ निकलता है, वह अर्थ उस शब्द की शक्ति है।" (काव्यदर्पण; पृ.-16)

उपरिलिखित तीनों परिभाषाओं में एक ही बात कही गई है और वह है – "शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को शब्दशक्ति कहते हैं।"

दूसरी ओर 'आचार्य मम्मट और काव्यप्रकाश' पुस्तक के लेखक डॉ॰ राजकिशोर सिंह शब्दार्थ के सम्बन्ध को शब्दशक्ति न मानकर "शब्दों के विषय में विचार करने वाले तत्त्व को शब्दशक्ति की संज्ञा देते हैं। देखिए – "शब्द की शक्ति उनके अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। कारण, जिसके द्वारा कार्य

सम्पादन करता है, उसे व्यापार कहा जाता है। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी, चाक, दण्ड तथा कुम्हार आदि कारण हैं और चाक का घूमना वह व्यापार है जिससे घड़ा बनता है, उसी तरह अर्थ का बोध करने में 'शब्द' कारण है और अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना हैं। आचार्यों ने इन्हीं को 'शक्ति' तथा 'वृत्ति' नाम दिया है। मम्मट ने 'व्यापार' शब्द का प्रयोग किया है तो विश्वनाथ ने शक्ति का। (पृ.: 35)

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि शब्द में निहित (सम्बद्ध) अर्थ का बोध कराने वाला व्यापार अथवा क्रिया शब्दशक्ति कहलाती है। इसमें चार बातों का उल्लेख हुआ है – (i) शब्द, (ii) अर्थ, (iii) निहित / सम्बद्ध तथा (iv) व्यापार या क्रिया। आइए, इन पर एक-एक कर विचार करते हैं –

1. शब्द

न्यायशास्त्र में हरेक कार्य की तीन कोटियाँ बतायी गई हैं – (i) कारण, (ii) व्यापार या क्रिया तथा (iii) कार्य अथवा फल। कारण से व्यापार या क्रिया सम्पादित होती है और क्रिया से कार्य। तर्कशास्त्र में समस्त बोध या ज्ञान कार्य कहलाते हैं। शब्द-बोध भी एक व्यापार है। शब्द यहाँ कारण-स्वरूप है। पतंजलि ने शब्द को यों परिभाषित किया है – "श्रोतोपलब्ध बुद्धिनिग्राह्यः प्रयोगेनाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।" (महाभाष्य), अर्थात् कानों से उपलब्ध, बुद्धि से ग्राह्य, प्रयोग द्वारा अभिज्वलित, अर्थात् व्यक्त तथा आकाश में व्याप्त शब्द है।" अभिव्यक्ति या स्फोट को ही पतंजलि ने अभिज्वलित कहा है।

शास्त्रों में शब्द के तीन प्रकार माने गए हैं – (क) वाचक (ख) लक्षक तथा (ग) व्यंजक।

(क) वाचक

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने साक्षात् संकेतित अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'वाचक' की संज्ञा दी है। देखिए –

साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥7॥

(काव्यप्रकाश; पृ.: 24)

वैयाकरण की दृष्टि से वाचक द्वारा संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है; जैसे – जाति-रूप, गुण-रूप, द्रव्य-रूप तथा क्रिया-रूप। इस आधार पर वाचक शब्द की चार कोटियाँ हुईं – (i) जाति-शब्द (ii) गुण-शब्द (iii) द्रव्य-शब्द तथा (iv) क्रिया-शब्द।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जाति शब्दाः।
गुणशब्दाः क्रिया शब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः॥

(महाभाष्यः / पतंजलिः)

(i) जाति-शब्द :

जाति (शब्द) से अभिप्राय उन समस्त शब्दों से है जो व्यक्तियों में अनुगत सामान्य के अभिधायक (वाचक) हुआ करते हैं –

जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यथा । सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबंधनम् ॥

(कुमारिल भट्ट: श्लोक वार्तिक)

उदाहरण के लिए – 'गौ' शब्द किसी एक 'गो-व्यक्ति' का वाचक नहीं है, बल्कि 'गोत्व' जाति मात्र का वाचक है । यह गोत्व है संसार भर में 'गो' की समस्तता में अनुगत अन्यप्राणिविलक्षणत्व से । मीमांसकों के अनुसार, सभी शब्द 'जाति' मात्र के अभिधायक हैं ।

(ii) गुण-शब्द :

गुणवाचक शब्द वह है, जिसके द्वारा संकेतित अर्थ गुण-रूप अर्थ हुआ करते हैं । द्रष्टव्य है –

गुणैकनियतास्तावद् गन्धरूपरसादयः । गन्धत्वादिव्यवच्छिन्नगन्धादिगुणवाचिनः ॥
तेषां न द्रव्यपर्यन्ता वृत्तिः क्वचन दृश्यते । न गन्धः पद्म इत्यस्ति सामानाधिकरण्यधीः ॥

अर्थात् यदि गुण और द्रव्य एक रूप होते तो 'कमल' और 'सौरभ' शब्द पर्यायवाची होते लेकिन ऐसा हुआ नहीं । 'कमल' यदि जातिवाचक शब्द है तो 'सौरभ' गुणवाचक । जातिवाचक शब्दों से गुणवाचक शब्दों की विलक्षणता स्वयंसिद्ध है ।

(iii) द्रव्य-शब्द :

'द्रव्य' शब्द से अभिप्राय 'व्यक्तिवाचक' शब्दों से है जिन्हें 'यदृच्छा' भी कहा गया है –

एवं डित्थादिशब्दानां संज्ञात्वविदितात्मनाम् ।
अभिधेयस्य सामान्यशून्यत्वाद् व्यक्तिवाचिता ॥

(iv) क्रिया-शब्द :

क्रिया के दो प्रकार हैं – धातुरूपनिबंधन तथा घञादिनिबंधन । देखिए –

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबंधना ।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबंधनः ॥

आचार्य रुद्रट एवं आचार्य विश्वनाथ ने इन चार भेदों में 'यदृच्छा' के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है, जबकि शेष तीनों भेद यथावत् ले लिये हैं।

नैयायिकों ने इन चारों शब्द-भेदों में से मात्र 'जाति-शब्द' को वाचक माना है। हालाँकि मम्मट ने तो विभिन्न दार्शनिकों के मतों का उल्लेख करते हुए उन्हें काव्य के लिए अनुपयुक्त व अनुपयोगी माना है।

(ख) लक्षक

मुख्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाले शब्द लक्षक कहलाते हैं।

(ग) व्यंजक

जिन शब्दों से व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उन्हें व्यंजक कहते हैं।

2. अर्थ

वाचक आदि शब्दों द्वारा संकेतित या प्रतिपादित अर्थ भी तीन होते हैं – (i) वाच्यार्थ, (ii) लक्ष्यार्थ तथा (iii) व्यंग्यार्थ। वाचक द्वारा संकेतित अर्थ वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है, क्योंकि इसी पर शेष दोनों अर्थ आधारित होते हैं। लक्षक द्वारा संकेतित अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाता है जबकि व्यंजक द्वारा संकेतित अर्थ व्यंग्यार्थ।

3. निहित या सम्बद्ध

यहाँ निहित या सम्बद्ध शब्द शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्बन्ध का द्योतक है। डॉ० विजयपाल सिंह के शब्दों में – "जिस प्रकार जल के बिना लहर की और लहर के बिना जल की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार शब्दविहीन अर्थ और अर्थ-विहीन शब्द का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। (भारतीय काव्यशास्त्र; पृ.: 122)

शब्द और अर्थ में त्रिविध सम्बन्ध है – वाच्य-वाचक, लक्षण-लक्षक और व्यंग्य-व्यंजक। श्रोताओं या पाठकों को जब तक त्रिविध सम्बन्ध-ज्ञान नहीं होगा तब तक बात नहीं बनेगी। प्रश्न है, शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध-ज्ञान कैसे होगा ? वे कौन से साधन हैं, जो हमारे लिए उपयोगी होंगे ? मुक्तावलीकार ने ऐसे आठ साधनों का निर्देश किया है –

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य धीरा वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति ॥

अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्ध-ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य (यथार्थ वक्ता / प्रामाणिक व्यक्ति का कथन), व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्यशेष तथा विवृति (विवरण या टीका) – इन आठ साधनों (कारणों) से होता है। दूसरे शब्दों में इन्हें 'संकेतग्रह' कहते हैं।

4. व्यापार या क्रिया

शब्द में निहित अर्थ को व्यक्त करने वाला तत्त्व ही व्यापार है। इसे यह नाम आचार्य मम्मट ने दे रखा है। इसका दूसरा नाम 'शक्ति' है। कोई-कोई इसे 'वृत्ति' भी कहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि शब्द कारण है और अर्थ कार्य, जबकि शक्ति, व्यापार या क्रिया। चूँकि, शब्द और अर्थ तीन-तीन होते हैं, फलस्वरूप उन्हें प्रकट करने वाली शक्ति भी तीन ही होती है।

3.1.2.2 शब्द शक्तियाँ : भेद

शब्दशक्ति के तीन भेद माने गए हैं – (1) अभिधा (2) लक्षणा और (3) व्यंजना। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में –

वाच्यार्थोऽभिधयाबोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः। व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्यः शब्दस्त्रः शक्तयः॥

(साहित्यदर्पणः; पृ.: 21)

अभिहितान्वयवादी मीमांसक आचार्य कुमारिल भट्ट ने 'तात्पर्या' नामक चौथी शब्दशक्ति की भी सत्ता स्वीकारी है।

इस तरह, शब्दशक्ति के कुल चार भेद हुए।

3.1.2.2.1 अभिधा : अर्थ और भेद

3.1.2.2.1.1 अभिधा का अर्थ

संस्कृत काव्यशास्त्र में अभिधा के विभिन्न लक्षण मिलते हैं। कुछ लक्षण द्रष्टव्य हैं –

आचार्य उद्भट –

शब्दाभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।

(अलंकारसारसंग्रहः)

अर्थात् शब्दों का प्रत्यक्ष अर्थबोध ही अभिधा व्यापार है, जिसके 'मुख्य' और 'गौण' दो अर्थ होते हैं।

आचार्य मम्मट –

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।

(काव्यप्रकाश / 11)

अर्थात् मुख्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला मुख्य व्यापार अभिधा कहलाता है।

आचार्य विश्वनाथ –

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा।

(साहित्यदर्पण; पृ.: 26)

अर्थात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली अग्रिमा (प्रथमा) शक्ति अभिधा है।

आचार्य अप्पयदीक्षित –

शक्त्याप्रतिपादकत्वमभिधा।

(चित्रमीमांसा)

अर्थात् वस्तु का साक्षात् बोध कराने वाली शक्ति का नाम अभिधा है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार "अर्थ का शब्द के साथ और शब्द का अर्थ के साथ स्थित प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही अभिधा है।"

आचार्य रामदहिन मिश्र के अनुसार "साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। अथवा, मुख्य अर्थ की बोधिका – शब्द की प्रथमाशक्ति का नाम अभिधा है।" (काव्यदर्पण; पृ.: 19)

डॉ॰ विजयपाल सिंह के अनुसार "जिस शब्दशक्ति से सांकेतिक या मुख्य अर्थ का बोध होता है, उसे अभिधा शब्दशक्ति कहते हैं।" (भारतीय काव्यशास्त्र; पृ.: 125)

डॉ॰ योगेन्द्र प्रताप सिंह के अनुसार "जिसके द्वारा शब्द के साक्षात्संकेतित अर्थ की प्रतीति (ज्ञान) हो, वह अभिधा पदशक्ति है।" (भारतीय काव्यशास्त्र; पृ.: 196)

डॉ॰ निशा अग्रवाल के अनुसार "शब्द की वह शक्ति जो बिना किसी व्यवधान के मुख्य रूप से गृहीत साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है, अभिधा कहलाती है।" (भारतीय काव्यशास्त्र; पृ.: 91)

शब्दों के किंचित् हेर-फेर से इन आचार्यों ने लगभग एक ही बात कही है। इस आधार पर अभिधा की परिभाषा यों स्वरूपित होती है –

"साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली काव्य-शक्ति अभिधा कहलाती है" ।

परिभाषा में व्याख्यापेक्षी दो पद प्रयुक्त हुए हैं – पहला, साक्षात् संकेतित अर्थ तथा दूसरा, अर्थ का बोध ।

1. साक्षात् संकेतित अर्थ

महाभाष्यकार पतंजलि ने 'ऋलृक् सूत्र' के भाष्य के क्रम में संकेतित अर्थ पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि वाग्व्यवहार (भाषा) में शब्दों का जो प्रयोग किया जाता है, वह इसी उद्देश्य से किया जाता है कि शब्दों का अर्थ चार प्रकार का हुआ करता है, अर्थात् जाति रूप अर्थ (गौः), गुणरूप अर्थ (शुक्लः), क्रिया-रूप अर्थ (चलः) तथा संज्ञा (द्रव्य) रूप अर्थ (डित्थः) ।

मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास में इसका उल्लेख किया है –

सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ॥10॥

आगे वे कहते हैं कि इस चतुर्विध संकेतित अर्थ को ही (स मुख्योऽर्थस्तत्र) कहा जाता है । संकेतित अर्थ को मुख्य अर्थ, अर्थात् अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ क्यों कहा जाता है, इसका उत्तर काश्मीरी आचार्य मुकुल भट्ट ने इन शब्दों में दिया है –

स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवययेभ्यः पूर्व मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते । तस्मान्मुखमिव मुख्य इतिशाखादि यान्तेन मुखशब्देनाभिधीयते ।

(अभिधावृत्तिमातृका-1)

अर्थात् जिस तरह हाथ आदि शारीरिक अंगों के पहले मुख दिखाई पड़ता है, उसी तरह समस्त प्रतीयमान अर्थों के पहले साक्षात् संकेतित अर्थ की झलक मिलती है । ठीक मुख की तरह होने के कारण ही साक्षात् संकेतित अर्थ को मुख्य अर्थ कहते हैं । तात्पर्य यह कि लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो बाद में होती है, सबसे पहले काव्यार्थ (अभिधेयार्थ) की ही प्रतीति हो जाती है । इसीलिए, इसे प्रथमा या आद्या शब्दशक्ति भी कहा गया है । कहा भी गया है, जिस तरह कमान से निकला हुआ तीर कवचभेद, हृदय-विदारण तथा प्राणहरण – तीनों का कारण बनता है, उसी तरह अभिधा शक्ति का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार भी वाच्य (मुख्य) और लक्ष्य / व्यंग्य – दोनों का अर्थबोध कराने में समर्थ है – "इषोखि दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः।" अभिधावादियों के द्वारा एक युक्ति यह भी दी जाती है कि अभिधा पदार्थ का बोध कराकर विरत नहीं हो जाती, बल्कि काव्य के अन्वितार्थ, अर्थात् व्यंग्यार्थ का भी विशेष ज्ञान करा देती है ।

2. अर्थ का बोध

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि शब्द में निहित अर्थ का बोध आठ साधनों से होता है, जिनके समुच्चय को हम 'संकेतग्रह' भी कहते हैं। यदा-कदा 'संकेतग्रह' ग्रहण करने में पर्यायवाची शब्द आदि के कारण भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में अर्थसंकेत-ग्रहण कैसे हो, इसके लिए भर्तृहरि ने चौदह प्रमुख तथा अन्य सहायक तत्त्वों का उल्लेख किया है। द्रष्टव्य है –

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यम् विरोधिता।
अर्थ प्रकरणं लिंग शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः॥
सामर्थ्यमोचिती देशः कालोव्यक्ति स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः॥

(वाक्यपदीयम्)

अर्थात् संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग किसी शब्द को अन्य शब्द से सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर – इन चौदहों तत्त्वों को कोई-कोई प्रतिबंधक कहकर अभिहित करता है। हालाँकि इनके विस्तार में न जाकर सिर्फ राम-लक्ष्मण के एक उदाहरण से इसे समझाने का प्रयास किया जा रहा है।

'राम-लक्ष्मण' दशरथ के पुत्र थे। दोनों अलग-अलग माता से जन्म लेने के बावजूद सदैव साथ रहते थे। दोनों मन से एक थे। जब 'राम' का प्रयोग 'लक्ष्मण' के साथ होता है, तब इसका अर्थ दशरथ-पुत्र व कौशल्या-नन्दन होता है लेकिन जब इसका प्रयोग किसी अन्य शब्द के साथ होता है, तब इसका अर्थ बदल जाता है; जैसे – राम-राम। इसका प्रयोग प्रायः नमस्कार, सम्बोधन, दुःख इत्यादि के अर्थों में होता है। यही नहीं, 'रामे जी राम' कहने से तौल करते समय पहली गिनती का बोध होता है।

संकेतग्रह के विषय में दो मत और भी हैं, जिन्हें मम्मट "तद्वान अपोहो वा शब्दार्थः" (काव्यप्रकाश / द्वितीय उल्लासः) के रूप में उल्लेख करते हैं। पहला, 'तद्वान', अर्थात् 'जाति विशिष्ट' रूप अर्थविषयक सिद्धान्त है, जिसका सम्बान्धक मूलतः न्यायदर्शन से। नैयायिक जयन्त भट्ट ने इसका विवेचन किया है। न्याय के अनुसार, पद का अर्थ व्यक्ति, आकृति तथा जाति – सभी में है। व्यक्तिविशेष 'तद्वान' नहीं है और न ही व्यक्ति-समूह, अर्थात् जगत्। 'अपोह' का सम्बिन्धक बौद्ध दर्शन से है, जिसका अर्थ है – 'अतद् व्यावृत्ति या 'तद्भिन्न भिन्नत्व', अर्थात् घड़े से भिन्न वस्तु, पुनः उस वस्तु से भी भिन्न, फिर घट ही होगा। बौद्ध धर्म क्षणभंगुर सिद्धान्त में विश्वास करता है इसीलिए जाति को नहीं मानता; क्योंकि जाति नित्य पदार्थ है। काव्यशास्त्र प्रथम मत को मानता है, दूसरे मत को नहीं।

3.1.2.2.1.2 अभिधा के भेद

अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक या शक्त शब्दों का अर्थबोध होता है, उन्हें क्रमशः रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ कहते हैं। न्यायशास्त्र में यौगिकरूढ़ नामक चौथा भेद भी मिलता है। इस तरह, अभिधा के कुल चार भेद हुए।

1. रूढ़

'रूढ़' का शाब्दिक अर्थ होता है – प्रसिद्ध। रूढ़ उस समूह या समुदायबोधक शब्द को कहते हैं जिसकी व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती; जैसे – घट, पट, घर – घ + ट = घट, प + ट = पट, घ + र = घर। इस तरह, व्युत्पत्ति (खण्डन / विभाजन) करने से कोई अर्थ नहीं निकलता। इसमें कौन प्रकृति है और कौन प्रत्यय, पता नहीं चलता। इसीलिए ये शब्द रूढ़ कहलाते हैं। ये शब्द अपनी अखण्डता में ही सार्थक होते हैं।

2. यौगिक

यौगिक उस अंगशक्तिबोधक शब्द को कहते हैं जो प्रकृति और प्रत्यय के योग से अवयवार्थ-सहित सामुदायिक अर्थ का बोध कराता है; यथा – शिक्षक, दिनकर, गाड़ीवाला इत्यादि। शिक्ष् + ण्वुल् (अक) = शिक्षक, दिन + कर, गाड़ी + वाला – इन तीनों उदाहरणों में प्रयुक्त क्रमशः 'शिक्ष्' (धातु), 'दिन' तथा 'गाड़ी' प्रकृति-रूप हैं, जबकि 'ण्वुल्' ('अक'), 'कर' तथा 'वाला' प्रत्यय हैं। प्रकृति और प्रत्यय के योग से निर्मित ये शब्द खण्डित होने पर भी अपनी सार्थकता नहीं खोते। इनके दोनों हिस्से सदैव सार्थक बने रहते हैं।

3. योगरूढ़

योग तथा रूढ़ि के मिश्रण से बने उस शब्द को योगरूढ़ कहते हैं, जिसका अर्थ उसके प्रकृति-प्रत्यय से सुसम्बद्ध तो रहता है लेकिन रूढ़ि के कारण सीमित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वह अनेकार्थक यौगिक शब्द, जो अन्य अर्थों को छोड़कर रूढ़ि के कारण किसी विशेष अर्थ में निर्धारित हो जाता है, योगरूढ़ कहलाता है; जैसे – जल (पानी) + ज (उत्पन्न) – इन दो सार्थक शब्दों से निर्मित जलज का सामूहिक अर्थ होता है – पानी से उत्पन्न। पानी से कई चीजें पैदा होती हैं; जैसे – मछली, सीपी, शंख, घोंघा, जोंक, जलकुम्भी, कमल, कमलिनी इत्यादि। लेकिन, जलज का रूढ़ (प्रसिद्ध) अर्थ कमल होता है। शेष अर्थ पीछे छूट जाते हैं।

4. यौगिक रूढ़

जो शब्द अवयवार्थ तथा समुदायार्थ का भिन्न-भिन्न रूप से बोध कराता है, उसे यौगिक रूढ़ कहते हैं; जैसे – अश्वगन्धा। रूढ़ि से इसका प्रसिद्ध अर्थ आयुर्वेदिक औषधि है। अश्व (घोड़ा) की गन्ध वाला, अर्थात् घुड़साल (अस्तबल) के विशेष अर्थ में प्रयुक्त होकर यह आवयविक शक्ति का भी बोधक है। हालाँकि काव्यशास्त्रियों ने इसे प्रश्रय नहीं दिया है।

3.1.2.2.2 लक्षणा : अर्थ और भेद

3.1.2.2.2.1 लक्षणा : अर्थ

लक्षणा के स्वरूप पर विचार करने वालों में दो तरह के आचार्य हुए – पहली कोटि में मीमांसक और नैयायिक आते हैं तो दूसरी कोटि में वैयाकरण और काव्यशास्त्री । मीमांसकों में अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट का नाम उल्लेखनीय है तो नैयायिकों में अभिधावादी मुकुलभट्ट का । व्याकरण-समर्थक काव्यशास्त्रियों में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट के नाम लिये जा सकते हैं तो रसवादी एवं अलंकारवादी आचार्यों में क्रमशः विश्वनाथ तथा अप्पयदीक्षित के ।

<u>मीमांसक कुमारिलभट्ट और लक्षणा का अर्थ</u> :

कुमारिल भट्ट के अनुसार, अभिधेय (मुख्यार्थ) में अविनाभाव की प्रतीति लक्षणा कहलाती है –

अभिधेयाविनाभाव प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।

<u>नैयायिक मुकुलभट्ट और लक्षणा का अर्थ</u> :

मुकुलभट्ट के अनुसार, जिस शब्द से अर्थ की स्पष्ट सीधी प्रतीति होती है, वह मुख्यार्थ कहलाता है और जो अर्थ के द्वारा समझा जाता है, (अर्थात् जिसे समझने के लिए मुख्यार्थ माध्यम बन जाता है), उसे लक्षणा कहते हैं । देखिए –

शब्द व्यापारतो यस्य प्रतीतिः तस्य मुख्यता ।
अर्थवशेयस्य पुनः लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ॥

(अभिधावृत्तिकारिका)

दोनों में एक बात समान है कि अभिधा प्रधान शब्दशक्ति है । विशेष परिस्थिति में किसी प्रयोजन से भले ही लक्षणा का उपयोग कर लिया जाए, वह अभिधा की अपेक्षा गौण ही रहेगी । इस दृष्टि से मीमांसक और नैयायिक – दोनों अभिधावादी हैं; क्योंकि मुकुलभट्ट तथा महिमभट्ट जैसे आचार्य लक्षणा को अभिधा का ही आनुमानिक रूप मानते हैं । लक्षणावाद के मुख्य समर्थक भामह, दण्डी, वामन, उद्भट जैसे अलंकारवादी आचार्य थे, जो रचनाजन्य आह्लादक चमत्कार को रचना का प्राण-तत्त्व मानते थे ।

ध्वनिवादी मम्मट और लक्षणा का अर्थ :

मम्मट ने लक्षणा को परिभाषित करते हुए लिखा –

मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥

(काव्यप्रकाश; 2/9)

अर्थात् मुख्य अर्थ का बाध होने पर उसके साथ सम्बन्ध की स्थिति में रूढ़ि (प्रसिद्धि) या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) की प्रतीति होती है, वह कल्पित क्रिया लक्षणा है। इसमें तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं –

1. मुख्यार्थ का बाध : जब मुख्यार्थ (वाच्यार्थ / अभिधेयार्थ) में प्रत्यक्ष विरोध दृष्टित हो, अर्थात् वक्ता जिस अर्थ को व्यक्त करना चाहता है, वह स्पष्ट न हो तो उसे मुख्यार्थ का बाध कहते हैं।
2. मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध : मुख्यार्थ के बाधित हो जाने पर जब अन्यार्थ (लक्ष्यार्थ) गृहीत होता है, तब उस गृहीत अर्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्ध होना अपेक्षित होता है। इसे ही मुख्यार्थ का योग (सम्बन्ध) कहा जाता है।
3. रूढ़ि या प्रयोजन : रूढ़ि का शाब्दिक अर्थ है, प्रसिद्धि या किसी पदार्थ का प्रसिद्ध नाम, जबकि प्रयोजन का अर्थ है – फल या अभिप्राय विशेष के कारण वक्ता द्वारा लाक्षणिक अर्थ का प्रकटीकरण। उदाहरणार्थ – 'गंगायां घोषः', अर्थात् गंगा में गाँव।

   गंगा का अर्थ यहाँ गंगा नदी का जल-प्रवाह है। बहती हुई जलधारा में कोई गाँव कैसे बस सकता है, अर्थात् नहीं। इस तरह, मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। यहाँ प्रयोजन से अर्थ होगा – गंगा किनारे का गाँव। गंगा की शुचिता, निर्मलता आदि का अभिसूचन ही यहाँ प्रयोजन का काम कर रहा है। दूसरे शब्दों में, जितनी स्निग्ध, निर्मल और शुचि गंगा है उतना ही स्निग्ध, निर्मल और शुचि गाँव है। सामीप्य-सम्बन्ध से यहाँ इस अर्थ की व्यंजना हो रही है।

इस प्रकार, लक्षणा का सम्बन्ध शब्द-व्यापार से न होकर अर्थ-व्यापार से है।

आचार्य विश्वनाथ और लक्षणा का अर्थ :

विश्वनाथ ने मम्मट की ही पारिभाषिक शब्दावली में लक्षणा को परिभाषित किया है। देखिए –

मुख्यार्थबाधेतद्युक्तोययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेप्रयोजनाद्वसौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ॥

(साहित्यदर्पण; पृ.: 29)

अर्थात् मुख्यार्थ के बाधित होने पर जिससे रूढ़ि या प्रयोजन से अन्यार्थ (लक्ष्यार्थ) की प्रतीति होती है, उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं।

मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ-लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध तथा रूढ़ि या प्रयोजन – ये तीन मुख्य बातें इस लक्षण में आई हैं।

मम्मट के लक्षण से विश्वनाथ का यह लक्षण भिन्न नहीं है।

अलंकारवादी अप्पयदीक्षित और लक्षणा का अर्थ :

अप्पयदीक्षित (16वीं शताब्दी) ने लक्षणा को इन शब्दों में परिभाषित किया है –

सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्।

अर्थात् मुख्यार्थ से सम्बद्ध शब्द की प्रतिपादक शक्ति लक्षणा है।

यह भी प्रकारान्तर से मम्मट के लक्षण का ही पुनराख्यान है। इससे सिद्ध होता है कि मम्मट ने लक्षणा की जो परिभाषा दी है, वह लगभग निर्दोष है; फलस्वरूप, मान्य भी। इस तरह लक्षणा का अर्थ हुआ – मुख्यार्थ के बाधित होने पर, रूढ़ि या प्रयोजन से जिस शब्दशक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्यार्थ (लक्ष्यार्थ) का बोध हो उसे लक्षणा कहते हैं।

3.1.2.2.2.2 लक्षणा के भेद

लक्षणा की प्रायः सारी परिभाषाओं में 'रूढ़ि' और 'प्रयोजन' का उल्लेख हुआ है। इस आधार पर आचार्यों ने लक्षणा के दो भेद किये – (1) रूढ़ा (2) प्रयोजनवती।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रूढ़ा के आठ भेद किये, जिनमें शुद्धा और गौणी प्रमुख हैं। उन्होंने प्रयोजनवती के सोलह भेद किये – 'तेन षोडश भेदिता'।

विश्वनाथ के पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट ने 'रूढ़ा' के तो नहीं, प्रयोजनवती के दो भेद किये – (i) शुद्धा तथा (ii) गौणी। पुनः शुद्धा को उपादान तथा लक्षण – इन दो कोटियों में विभक्त किया। आगे उन्होंने सारोपा और साध्यवसाना नाम से दोनों (उपादान तथा लक्षण लक्षणा) के दो-दो भेद किये। गौणी लक्षणा को भी सारोपा तथा साध्यवसाना नामक वर्गों में विभक्त करते हुए लक्षणा के कुल छह भेद किये – 'लक्षणा तेन षड्विधा'। इन भेद-प्रभेदों को आरेख के द्वारा समझा जा सकता है; यथा –

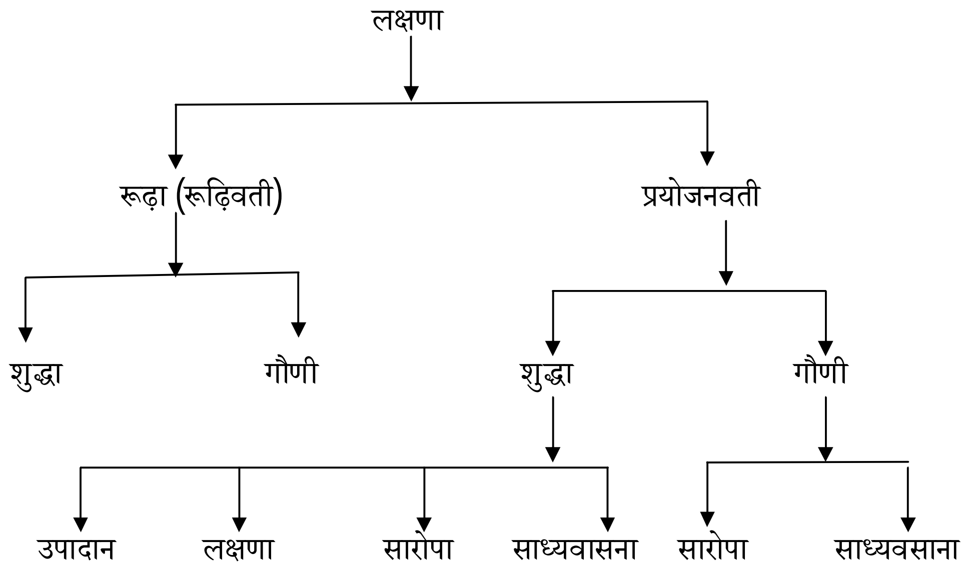

इस तरह, मम्मट के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के छह भेद हुए।

आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य मुकुलभट्ट ने लक्षणा को शुद्धा तथा सोपचारा – इन दो कोटियों में विभक्त करते हुए शुद्धा के दो भेद किये – उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। उन्होंने सोपचारा के शुद्धोपचारवती एवं गौणोपचारवती नामक दो वर्ग बनाये। पुनः दोनों के दो-दो भेद किए; जैसे – आरोपगर्भ शुद्धोपचारवती, अध्यवसानगर्भ शुद्धोपचारवती, आरोपगर्भ गौणोपचारवती तथा अध्यवसानगर्भ गौणोपचारवती।

परवर्ती आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट के इस विभाजन को युक्तिसंगत नहीं माना।

वर्गीकरण का आधार :

आचार्य मुकुल भट्ट के पूर्ववर्ती अलंकारवादी आचार्यों – वामन प्रभृति ने 'लक्षणा-शब्दाश्च' की कारिका में 'रूढ़' का उल्लेख किया है। 'द्विरेक' तथा 'रोदर' जैसे शब्द रूढ़ा लक्षणा के ही संकेतक हैं। वैयाकरण, मीमांसक तथा नैयायिक लक्षणा शब्दशक्ति की गुणवृत्ति के पक्षधर थे। गुण के साथ सादृश्य होने के फलस्वरूप गौणी लक्षणा अस्तित्व में आई। सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर भी लक्षणा होती है, जिसे शुद्धा लक्षणा का नाम दिया गया। ऐसे सादृश्येतर सम्बन्धों की संख्या कई मानी गई है; जैसे – समवाय, विपरीतता, क्रियायोग, आधेयाधार, तात्क्रम्य, अंगागि, स्वामिभृत्यादि। इनमें सादृश्य नहीं होता। फलस्वरूप, ये शुद्धा लक्षणा के उदाहरण माने गए।

लक्षण लक्षणा को जहत्स्वार्था तथा उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था मानने की कल्पना न्यायशास्त्र में बहुत पहले हो चुकी थी। सारोपा तथा साध्यवसाना नामक प्रभेद बाद चलकर बने। परवर्ती आचार्यों; जैसे – विश्वनाथ ने गूढ़व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या जैसे भेदों की भी कल्पना कर ली; ऐसा डॉ॰ योगेन्द्रप्रताप सिंह मानते हैं।

1. रूढ़ा (रूढ़िवती) लक्षणा

रूढ़ि, अर्थात् प्रसिद्धि के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध अन्यार्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ का ग्रहण कराने वाली क्रिया या वृत्ति रूढ़ा लक्षणा कहलाती है; जैसे – 'पंजाब लड़ाका है।' यहाँ 'पंजाब' का अभिधेयार्थ अथवा मुख्यार्थ पंजाब नामक उत्तरभारतीय राज्य है, जो निर्जीव होने के कारण लड़ाका नहीं हो सकता। यहाँ इस अर्थ का बाध हो रहा है और इससे सम्बन्धित अन्य अर्थ – 'पंजाब के लोग', का ग्रहण हो रहा है। यह अन्यार्थ कुछ और नहीं, लक्ष्यार्थ है। इसलिए, यहाँ रूढ़ा या रूढ़िवती लक्षणा है।

रूढ़ा लक्षणा के मुख्य दो भेद माने गए हैं – (क) शुद्धा रूढ़ा (रूढ़िवती) लक्षणा और (ख) गौणी रूढ़ा (रूढ़िवती) लक्षणा।

(क) शुद्धा रूढ़ा (रूढ़िवती) लक्षणा : समवाय सम्बन्ध के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ (लक्ष्यार्थ) का ग्रहण कराने वाली क्रिया शुद्धा रूढ़ा लक्षणा कहलाती है; जैसे – 'पीतपट'। पीत का अर्थ पीला होता है, जबकि पट का अर्थ वस्त्र। इस तरह, पीतपट का अर्थ पीला वस्त्र हुआ। दोनों में समवाय या विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध के कारण यह शुद्धा रूढ़ा का उदाहरण है।

(ख) गौणी रूढ़ा (रूढ़िवती) लक्षणा : सादृश्य के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बन्धित अन्यार्थ का ग्रहण कराने वाली क्रिया गौणी रूढ़ा लक्षणा कहलाती है; यथा – प्रवीण। इसका शाब्दिक अर्थ होता है वीणा बजाने में चतुर। सादृश्य के कारण अन्य कार्यों में चतुर लोगों को भी प्रवीण कहा जाता है।

2. प्रयोजनवती लक्षणा

किसी प्रयोजन (उद्देश्य) के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध अन्यार्थ (लक्ष्यार्थ) का ग्रहण कराने वाली क्रिया प्रयोजनवती लक्षणा कहलाती है; यथा – "सामने देखा तो हड्डियों का ढाँचा खड़ा था।" 'हड्डियों का ढाँचा' का वाच्यार्थ है – हड्डियों से बना कोई ढाँचा (स्ट्रक्चर)। यहाँ इसका बाध हो रहा है। इसके स्थान पर इससे सम्बन्धित अर्थ 'रक्त-मांस-विहीन अत्यन्त कृश व दुर्बल व्यक्ति' लक्षित हो रहा है। किसी व्यक्ति की आत्यन्तिक कृशता व दुर्बलता दिखाने के प्रयोजन से 'हड्डियों का ढाँचा' का प्रयोग किया गया है। अतएव, यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद किये गए हैं – (क) शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा और (ख) गौणी प्रयोजनवती लक्षणा।

(क) शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा

सादृश्य-सम्बन्ध को छोड़कर सामीप्य आदि सम्बन्धों से लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाली क्रिया शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा कहलाती है। उदाहरणार्थ –

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

(यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त)

'आँचल' साड़ी के उस हिस्से को कहते हैं जिससे स्त्रियाँ अपना वक्ष और सिर ढँकती हैं। उसमें 'तरल पदार्थ दूध कैसे टिकेगा ? चू नहीं जाएगा ? यहाँ इस वाच्यार्थ का बाध हो रहा है। इससे सम्बन्धित अन्यार्थ (लक्ष्यार्थ) मातृत्व का बोध आँचल और वक्ष में सामीप्य-सम्बन्ध के कारण हो रहा है। स्त्री के मातृत्व को उभारना ही इसका विशेष प्रयोजन है। इसीलिए यह शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण है।

शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा के भी दो भेद होते हैं – 'उपादान' और 'लक्षण-लक्षणा'। पुनः, इनके दो भेद 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' किये गए। इस तरह, कुल चार भेद हुए।

(1) उपादान लक्षणा

उप +आदान = उपादान। उपादान का शाब्दिक अर्थ होता है – समीपस्थ होकर किसी से दान ग्रहण करना। 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' (काव्यप्रकाश) इस आधार पर अपनी सिद्धि, अर्थात् वाक्यार्थ की संगति के लिए दूसरे के स्वत्व का आदान, अर्थात् आहरण करने वाली क्रिया का नाम उपादान लक्षणा है। दूसरे शब्दों में, जहाँ अन्यार्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। चूँकि, लक्षणा के इस भेद में अभिधेयार्थ (मुख्यार्थ / लक्षणार्थ) का सर्वथा परित्याग नहीं होता, इसीलिए इसे 'अजहत्स्वार्था' भी कहते हैं। 'अजहत्स्वार्था' का शाब्दिक अर्थ होता है, जिसने अपना स्वार्थ (स्व अर्थ) न छोड़ा हो। वाच्यार्थ को ही यहाँ स्वार्थ कहा गया है। उदाहरणार्थ –

राखी सजी पर कलाई नहीं है।

(सुभद्राकुमारी चैहान)

'कलाई' का वाच्यार्थ होता है – हाथ का वह भाग, जिस पर पुरुष घड़ी या राखी बाँधता है और स्त्री चूड़ियाँ पहनती हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि राखी बँधवाने वाले व्यक्ति की कलाई कटी हुई है, अर्थात् वह लूला है। इसका लक्ष्यार्थ 'भाई' से है। बहन के पास राखी तो है, पर अपनी कलाई पर बँधवाने वाला भाई नहीं है। कलाई ने अपना स्वार्थ-वाच्यार्थ, अर्थात् भाई वाला अर्थ नहीं छोड़ा है। लक्षणा ने अपने वाक्यार्थ की संगति के लिए वाच्यार्थ का दामन नहीं छोड़ा है, साथ ही, कलाई और भाई के बीच अंगांगिभाव-सम्बन्ध होने से शुद्धा उपादान लक्षणा है।

(2) लक्षण-लक्षणा

अन्य के लिए आत्मस्वरूप का त्याग करने की वृत्ति, लक्षण-लक्षणा है – 'परार्थं स्वसमर्पणम्' (काव्यप्रकाश)। दूसरे शब्दों में, जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे, वहाँ लक्षणा-लक्षणा होती है। चूँकि इस लक्षणा में अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ / मुख्याथ) का त्याग कर दिया जाता है, इसीलिए इसे जहत्स्वार्था (जिसने अपना स्वार्थ छोड़ दिया) भी कहते हैं। उदाहरणार्थ –

गंगायां घोषः।

अर्थात् गंगा में गाँव है। 'गंगा' का अर्थ नदी का जल-प्रवाह और 'घोषः' का अर्थ गाँव होता है। जल-प्रवाह में गाँव का अस्तित्व सम्भव नहीं। इस मुख्यार्थ का त्याग करते हुए उससे सम्बद्ध अन्यार्थ गंगा-किनारे गाँव लिया जाता है। ऐसा गाँव की शीतलता और पावनता के प्रयोजन से किया गया है, इसलिए प्रयोजनवती लक्षणा है। चूँकि, यहाँ नदी का जल-प्रवाह वाला अपना मूल अर्थ (स्वार्थ) पीछे छूट गया है, इसलिए यह जहत्स्वार्था का समीचीन उदाहरण भी बन गया।

उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा के बीच वाच्यार्थ की रक्षा या त्याग को लेकर दुविधा की स्थिति बनी रहती है। एक ही उदाहरण में कोई उपादान लक्षणा तलाश लेता तो कोई लक्षण-लक्षणा। उदाहरणार्थ – 'गंगायां घोषः' से 'गंगा-तट का घोष' वाला अर्थ लिया जाए तो यह उपादान-लक्षणा, अर्थात् अजहत्स्वार्था का उदाहरण बनेगा; क्योंकि प्रश्न होगा – 'तट' किसका है ?, उत्तर होगा – 'गंगा' का। मुख्यार्थ किसी-न-किसी रूप में बना हुआ है। फलस्वरूप, अजहत्स्वार्था लक्षणा हुई। यदि गंगा को छोड़कर सिर्फ तट वाला 'गाँव' – यह अर्थ किया जाए, तब यहाँ लक्षण-लक्षणा, अर्थात् मुख्यार्थ का त्याग करने वाली जहत्स्वार्था लक्षणा होगी। निष्कर्षतः उपादान लक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता, साथ ही, अन्यार्थ का आक्षेप भी हो जाता है। दूसरी ओर लक्षण-लक्षणा में मुख्यार्थ अन्यार्थ में संक्रमित हो जाता है। इस तरह, विद्वानों ने एकमत से लक्षणा को वक्ता के विवक्षाधीन माना है कि वह किससे क्या अर्थ ले और क्या न ले।

(3) शुद्धा सारोपा लक्षणा

जहाँ एक दूसरे के स्वरूप को छिपाए बिना (अर्थात् शब्दतः कथित हों) विषयी (उपमान) तथा विषय (उपमेय) कार्य-कारण आदि सादृश्येतर सम्बन्ध से एक दूसरे पर आरोपित हों, वहाँ शुद्धा सारोपा लक्षणा होती है। सारोपा का अर्थ ही होता है, 'आरोप-सहित'। 'एक बात का दूसरी बात में अभेद-ज्ञापन' को आरोप कहते हैं, अर्थात् विषयी और विषय – एक साथ। मम्मट के अनुसार, 'आयुर्घृतम्', अर्थात् घृत ही आयु है। शुद्धा सारोपा का उदाहरण है। इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध, से घृत पर ही जीवन का आरोप किया गया है; क्योंकि आयु-वृद्धि का कारण घृत है। यहाँ विषयी (घृत) तथा विषय (आयु) – दोनों शब्दतः कथित हैं। फलस्वरूप, यह शुद्धा सारोपा लक्षणा का सटीक उदाहरण है।

(4) शुद्धा साध्यवसाना

जहाँ आरोप के विषय (उपमेय) का शब्दतः कथन न कर विषयी (उपमान) के द्वारा ही उसका कथन हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।

आरोप के विषय (उपमेय) को निगीरित कर विषयी (उपमान) का कथन अध्यवसान कहलाता है।

मम्मट ने 'आयुरेवेदम्' (आयुः + एव + इदम्), अर्थात् 'यह आयु ही है' का उदाहरण लिया है। यहाँ विषयी आयु का तो कथन हुआ है, जबकि विषय 'घृत' को निगीरित कर लिया गया है, अर्थात् शब्दतः कथन नहीं किया गया है। यहाँ विषयी में ही विषय का अन्तर्भाव हो गया है। फलस्वरूप, यह शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है।

(ख) गौणी प्रयोजनवती लक्षणा

सादृश्य (आकृति-साम्य, वर्ण-साम्य, धर्म-साम्य, गुण-साम्य आदि) सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाली क्रिया गौणी लक्षणा कहलाती है। इसके भी दो भेद किये गए हैं – (i) सारोपा और (ii) साध्वसाना।

(1) गौणी सारोपा

जहाँ विषयी (उपमान) और विषय (उपमेय) – दोनों का शब्दतः कथन किया गया हो तथा दोनों के बीच सादृश्य पर आधारित सम्बन्ध हो, वहाँ गौणी सारोपा लक्षणा होती है। मम्मट ने इसे समझाने के लिए 'गौर्वाहीकः' (गौः + वाहीकः), अर्थात् 'वाहीक गौ है' का उदाहरण लिया है। 'गौ' विषयी, अर्थात् उपमान है, जबकि 'वाहीक' (एक देश का नाम) विषय, अर्थात् उपमेय। यहाँ दोनों का शब्दतः कथन करते हुए दोनों के बीच साधर्म्य मूलक सम्बन्ध माना है। 'गौ' इतनी सीधी और सरल मानी जाती है कि कभी-कभी इसे नकारात्मक अर्थ में ले लिया जाता है। वह नकारात्मक अर्थ है जिसे आसानी से ठगा जाए, अर्थात् मूर्ख। वाहीक देश के लोग भी इतने सीधे-सरल होते हैं कि उन्हें आसानी से मूर्ख बनाया जा सकता है। अतएव, यह गौणी सारोपा का उपयुक्त उदाहरण बन पड़ा है।

'वाहीकः' का दूसरा अर्थ 'हलवाहा' होता है इसलिए 'गौर्वाहीकः' का अर्थ 'हलवाहा बैल', अर्थात् हल में जोता जाने वाला बैल। यहाँ यह मूर्खता का वाचक है।

(2) गौणी साध्यवसाना

जहाँ विषय (उपमेय) का शब्दतः कथन न कर मात्र विषयी (उपमान) का उल्लेख किया जाता है, वहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। इसके लिए विषयी और विषय के बीच सादृश्याधारित सम्बन्ध अपेक्षित होता है।

मम्मट ने 'गौरयम्' (गौः+अयम्), अर्थात् 'यह तो बैल ही है' के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया है। यहाँ विषय का शब्दतः कथन नहीं हुआ है, जबकि विषयी 'गौः' का हुआ है। विषयी 'गौ' द्वारा ही किसी व्यक्ति (विषय) के धर्म को निगीर्ण कर प्रदर्शित किया गया है। इसलिए, यह गौणी साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है।

3.1.2.2.2.2.1 लक्षणा के अन्य प्रकार

मम्मट ने व्यंग्य की गूढ़ता तथा अगूढ़ता को आधार बनाकर लक्षणा के दो भेद किये– (क) गूढ़ व्यंग्या और (ख) अगूढ़ व्यंग्या।

जहाँ मर्मज्ञ सहृदय के द्वारा व्यंग्य समझा जाए, वहाँ गूढ़ा व्यंग्या लक्षणा होती है। जहाँ व्यंग्य सामान्य व्यक्ति के द्वारा समझा जाए, वहाँ अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा होती है। इसका एक तीसरा प्रकार भी है, जिसे अव्यंग्या लक्षणा भी कहा गया है। इस तरह, लक्षणा के तीन प्रकार माने गए हैं।

यह वर्गीकरण मुख्य लक्षणा-विमर्श की परिधि से बाहर का है। विद्वानों ने इसे प्रश्रय नहीं दिया है।

3.1.2.2.3 व्यंजना : अर्थ और भेद

3.1.2.2.3.1 व्यंजना का अर्थ

प्रकाशनार्थक 'अञ्ज्' धातु के पूर्व विशिष्टताबोधक उपसर्ग 'वि' के योग से निष्पन्न व्यंजना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है – विशेष प्रकार का अंजन, अर्थात् प्रकाश। अंजन के लेप से नेत्रों के प्रकाश में वृद्धि जो होती है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से व्यंजना का अर्थ होता है – विशेषार्थ की अभिव्यक्ति।

मीमांसक, नैयायिक, आलंकारिक-सहित वैयाकरणों ने व्यंजना को अपनी-अपनी तरह से परिभाषित किया है। कुछ परिभाषाएँ देखी जा सकती हैं –

<u>नागेश भट्ट की परिभाषा</u> :

मुख्यार्थ बाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थ-सम्बद्धासम्बद्ध साधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्तादिवैशिष्ट्य ज्ञान-प्रतिभाद्युद्बुद्ध संस्कारविशेषोव्यंजना।

अर्थात् मुख्यार्थ बाधादि से निरपेक्ष, किन्तु मुख्यार्थ से सम्बद्ध तथा भिन्न, साधारण प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध विषय को वक्ता आदि के विशिष्ट ज्ञान प्रतिभा अथवा संस्कार से उत्पन्न अभिप्राय विशेष को व्यक्त करने वाली व्यंजना वृत्ति कहलाती है।

मम्मट की परिभाषा :

मम्मट ने लक्षणा के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में ही व्यंजना का उल्लेख किया है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। देखिए –

यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते॥ फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥

(काव्यप्रकाश; 2/23)

अर्थात् प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती। अभिधा द्वारा मुख्यार्थ का बोध शब्द में संकेत के कारण होता है, लक्षणा से लक्ष्यार्थ का, लेकिन व्यंजना से प्रयोजन का।

पण्डित विश्वनाथ की परिभाषा :

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दार्थादिकस्य च॥

(साहित्यदर्पण; 2/12-13)

अर्थात् अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर भी जो एक अर्थ निकलता है, उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं तथा वृत्ति या शक्ति के द्वारा यह अर्थ प्राप्त होता है, उसे व्यंजना वृत्ति कहते हैं।

इनमें 'साहित्यदर्पण' का लक्षण उत्तम है। परवर्ती आचार्यों ने इसे ही स्वीकार किया है। इन लक्षणों के आधार पर व्यंजना की परिभाषा इस तरह की जा सकती है – "अभिधा और लक्षणा शब्दशक्तियाँ जब अपने-अपने अर्थ का बोध कराके विरत (शान्त) हो जाती हैं, तब जिस शब्दशक्ति से व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं।

3.1.2.2.3.2 व्यंजना के भेद

सभी आचार्यों ने एक मत से व्यंजना के दो भेद किये हैं – (i) शाब्दी व्यंजना और (ii) आर्थी व्यंजना ।

1. शाब्दी व्यंजना

जहाँ व्यंग्यार्थ किसी शब्द विशेष पर आधारित होता है, अर्थात् उस शब्द के स्थान पर उसका समानार्थी कोई शब्द रख दिया जाए तो व्यंग्यार्थ नष्ट हो जाता है, वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

(बिहारी)

इस दोहे में 'वृषमानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर समानार्थी क्रमशः गाय और बैल रख दिए जाएँ तो व्यंग्यार्थ नष्ट हो जाएगा।

शाब्दी व्यंजना को दो कोटियों में विभक्त किया गया है – (क) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना और (ख) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

(क) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना:

संयोगादि अनेकार्थक शब्दों में से किसी एक अर्थ का निर्णय या नियन्त्रण हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है, उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं। उदाहरण –

मालिनि आज कहै न क्यों वा रसाल को हाल।

यहाँ 'रसाल' अनेकार्थक शब्द है, जिसके अर्थ होते हैं – आम का फल और रस का घर, अर्थात् प्रिय। नायिका मालिनी अर्थात् 'सखी' से प्रिय का समाचार जानना चाहती है। लेकिन, इसके लिए प्रयोग हुआ है प्रायः आम के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द रसाल। मालिनी ही तो आम-वन की देखभाल करती है। आम के फल वाला अर्थ बाधित होकर प्रिय वाले अर्थ में नियन्त्रित हो गया है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण यहाँ अभिधामूला व्यंजना है और शाब्दी इसलिए कि 'रसाल' की जगह 'आम' का प्रयोग करने से व्यंग्यार्थ ही नष्ट हो जाता है।

(ख) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना:

जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का सहारा लिया जाता है, उस प्रयोजन को व्यंजित करने वाली शक्ति लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहलाती है। उदाहरण देखिए –

कूकती क्वैलिया कानन लौं
नाहि जाति सह्यो तिन की सुअवाजें।
भूमि ते लैके अकास लौं फूले
पलास दवानल की छवि छाजें।
आये बसन्त नहीं घर कन्त
लगी सब अन्त की होने इलाजें।
बैठि रही हम हू हिय हारि
कहा लगि टारिये हाथन गाजें॥

(मतिराम)

इसमें कवि मतिराम ने वसन्तागम पर वियोगिनी नायिका का चित्र खींचा है। वह वियोगजन्य कष्टों को दूर करने के लिए सारे उपाय कर थक गयी है। अन्त में हारकर हाथों से ही दुःखरूपी वज्र को रोकने का प्रयास कर रही है। सारे उपाय यहाँ 'गाजें के द्वारा' नायिका की दुर्दम विरह-वेदना दिखाना कवि का लक्ष्य है। यह प्रयोजनवती लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण है।

2. आर्थी व्यंजना

वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, काकु, चेष्टादि विशेषताओं के कारण जो शब्दशक्ति व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, वह आर्थी व्यंजना कहलाती है।

शाब्दी व्यंजना शब्द पर निर्भर होती है, इसलिए शब्द-परिवर्तन करने पर व्यंग्यार्थ नष्ट हो जाता है, जबकि आर्थी व्यंजना अर्थ पर निर्भर होती है। शब्द बदल भी दिया जाए तो व्यंग्यार्थ अक्षुण्ण रहता है। उदाहरणार्थ – रामचरितमानस की यह अर्धाली देखी जाए –

अहो मुनीश महाभट मानी।

(बालकाण्ड)

लक्ष्मण धनुर्भंग के बाद पहुँचे परशुराम को लक्ष्य कर व्यंग्य कर रहे हैं कि आप कहलाते तो मुनियों के मुनि और महावीर, पर हैं अभिमानी। इस उदाहरण में व्यंग्य शब्दाश्रित नहीं, अर्थाश्रित है। मम्मट के अनुसार, कोई भी आर्थी व्यंजना शब्द के सहयोग के बिना सम्भव नहीं। शब्द-प्रमाण के द्वारा गम्य अर्थ ही व्यंजना के द्वारा अर्थान्तर-बोध कराता है। अतः, अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता भी रहती है –

शब्द प्रमाणवेद्योऽर्थो व्यक्त्यर्थान्तरै यतः। अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥

(काव्यप्रकाश; 3 / 22)

आर्थी व्यंजना के भेद –

आचार्यों ने आर्थी व्यंजना को दो आधारों पर वर्गीकृत किया है – काव्यार्थ और वक्ता, बोद्धव्य आदि विशेषताओं के आधार पर।

(i) <u>काव्यार्थ के आधार पर आर्थी व्यंजना के भेद</u> :

काव्यार्थ तीन प्रकार का होता है – (i) वाच्य, (ii) लक्ष्य तथा (iii) व्यंग्य। इसलिए, आर्थी व्यंजना वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ पर निर्भर रहती है। इस आधार पर आर्थी व्यंजना के तीन भेद होते हैं – (क) वाच्यसंभवा (ख) लक्ष्यसंभवा तथा (ग) व्यंग्यसंभवा।

(ii) वक्ता, बोद्धव्य आदि विशेषताओं के आधार पर :

वक्ता, बोद्धव्य आदि दस विशेषताओं के आधार पर वाच्यसंभवा आदि के दस-दस भेद के साथ कुल तीस भेद हो जाते हैं। इसलिए अधिकांश विद्वान् दस विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के दस भेद मानते हैं। मम्मट के अनुसार अर्थ-वैशिष्ट्य के निम्नलिखित प्रकार हैं –

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

(काव्यप्रकाश: 3/21-22)

अर्थात् वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल चेष्टादि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है।

01. वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

कवि अथवा कवि-कल्पित व्यक्ति के कथन की विशेषता के कारण व्यंजित व्यंग्यार्थ को वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा आर्थीव्यंजना कहते हैं। उदाहरणार्थ बिहारी का यह दोहा द्रष्टव्य है –

जिहि निदाघ दुपहर रहै, भाई माघ की राति।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति॥

इसमें कवि-कल्पित दूती वियोगिनी नायिका की अवस्था से उसके प्रेमी को परिचित करा रही है कि नायिका उस उशीर की रावटी में भी गर्मी से छटपटा रही है, जिस रावटी में जेठ की दुपहर भी माघ-सी शीतल हो जाती है। व्यंग्यार्थ यह है कि हे नायक! तुम बड़े कठोर-हृदय हो। उसकी हालत पर तरस खाओ।

यहाँ व्यंग्यार्थ वक्ता के वैशिष्ट्य से वाच्यसम्भव हुआ है।

लक्ष्यसंभवा : लक्षणा से प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ को वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्यसंभवा कहते हैं। उदाहरणार्थ बिहारी का यह दोहा देखिए –

पावक झरतें मेह झर, दाहक दुसह बिसेखि।
दहे देह वाके परस, याहि दृगन ही देखि॥

नायिका अपनी सहेली से कह रही है कि आग की लपटों से अधिक दाहक वर्षा की झड़ी होती है; क्योंकि आग छूने पर जलाती है, यह देखने से ही। बारिश की बूँदों के देखने मात्र से दैहिक जलन की क्रिया में शब्दार्थ बाधित हो रहा है। लक्षणा से अर्थ निकलता है कि नायिका आकाश से झड़ती बूँदों को देख नहीं सकती।

तदुपरान्त व्यंग्यार्थ की प्राप्ति होती है कि नायिका वियोग-वेदना को उद्दीप्त करने वाली वर्षा की बूँदों आदि को देख नहीं सकती।

व्यंग्यसंभवा : जहाँ व्यंग्य से व्यंग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है। पद्माकर की ये पंक्तियाँ देखिए–

निरखि सेज रंग रँगभरी, लगी उसासैं लैन।
कछु न चैन चित में रह्यो, चढ़त चाँदनी रैन॥

कोई दयालु सखी नायक के सामने नायिका की विरह-दशा का निवेदन कर रही है कि रंग से रँगी शय्या को देखकर मेरी सहेली उसाँसें ले रही है। सुखद चाँदनी रात भी उसे चैन नहीं पहुँचा पा रही है। व्यंग्यार्थ यह कि प्रिय के अभाव में सारी सुखद वस्तुएँ भी दुखद प्रतीत हो रही हैं। इससे व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि रंगीन सेज बिछाकर चाँदनी रात में प्रतीक्षा कर रही मेरी प्रिय सखी के पास पहुँचकर मिलन-रात्रि से सुख पहुँचाइए। यहाँ व्यंग्य से व्यंग्यार्थ प्रकट हो रहा है।

02. बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

बोद्धव्य का अर्थ होता है – श्रोता, जिससे कुछ कहा जाए। जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति श्रोता की विशेषता के कारण होती है, वहाँ यह भेद होता है। वियोगी हरि का यह काव्यांश देखिए–

खो के आत्म गौरव स्वतन्त्रता भी जीते हैं,
मृत्यु सुखदायक है वीरो इस जीने से।

बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ निकलता है कि आत्माभिमाननशून्य आराम का जीवन जीने से अच्छा है गौरवपूर्ण मरण का वरण।

03. काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

'काकु' का अर्थ होता है, 'विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि'। जहाँ काकु के कारण वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ –

आप पिता के वचन पाल सकते हैं।
भरत माँ की आज्ञा टाल सकते हैं।

(साकेत : मैथिलीशरण गुप्त)

यहाँ सीता राम से कहती है कि आप पिता की आज्ञा मानकर वनवास के लिए तत्पर हो सकते हैं लेकिन भरत माँ की आज्ञा कदापि नहीं टालेंगे, अर्थात् अयोध्या की गद्दी पर बैठेंगे।

यहाँ दूसरी पंक्ति में 'काकु' (सीता की कण्ठध्वनि) से व्यंग्यार्थ की व्यंजना हो रही है।

04. वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

जहाँ वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ यह भेद होता है। तुलसीदास की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

जेहि बिधि होइहिं परमहित नारद सुनहु हमार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥

एक बार देवर्षि नारद ने अपने आराध्य विष्णु भगवान् से सुन्दर रूप की याचना की, ताकि कन्या मोहित होकर उसे वर के रूप में स्वीकार कर ले। भगवान् ने कहा कि सुनो नारद! मैं वहीं करूँगा, जो तुम्हारे लिए हितकर होगा। नारद ने समझा कि भगवान् अप्रतिम रूप देकर अपने वचन की रक्षा करेंगे। लेकिन, हुआ उल्टा। उन्हें बन्दर का रूप देकर उन्हें इस सांसारिक मोह-माया से बचा लिया।

नारद ने वाक्यार्थ से अपनी अभीष्ट-प्राप्ति समझ ली लेकिन भगवान् ने उन्हें वानर-रूप देकर उनका हितसाधन ही तो किया।

इस तरह, यहाँ वाक्यवैशिष्ट्य से उत्पन्न वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ (आर्थी) की प्रतीति होने के कारण वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसम्भव आर्थी व्यंजना है।

05. वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

जहाँ वाच्य-वैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ यह भेद होता है। उदाहरणार्थ –

अखिल यौवन के रंग उभार,
हड्डियों के हिलते कंकाल; कचों के चिकने काले व्याल,
केंचुली काँस सेवार; गूँजते हैं सबके दिन चार।
सभी फिर हाहाकार।

(सुमित्रानन्दन पन्त)

यहाँ वाच्य वैशिष्ट्य से संसार की नश्वरता का व्यंग्यार्थ व्यक्त हो रहाहै।

06. अन्यसन्निधि वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

अन्यसन्निधि का अर्थ होता है – दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति । जहाँ वक्ता तथा श्रोता के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति के संसर्ग के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ यह भेद होता है; यथा –

रोज करौं गृहकाज दिन, बीतत याही माँझ ।
ईठि लहौं फूल एक पल, मीठि निहारे साँझ ॥

(भिखारीदास)

यहाँ कोई पुंश्चली स्त्री अपने यार को संकेत दे रही है कि दिन भर तो काम-काज लगा रहता है । अतः दिन में मिलन सम्भव नहीं हो पाएगा । शाम को बड़ी कठिनाई से थोड़ा-सा अवकाश मिल पाता है ।

अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि संध्याकाल में ही तुम मुझसे मिलने के लिए आ सकते हो ।

07. प्रस्ताव वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

जहाँ विशेष प्रसंग के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ प्रस्ताव वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है; यथा –

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,
शास्त्र धर्म के नाते ।

(यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त)

यशोधरा के इस कथन से व्यंग्यार्थ निकलता है कि मेरे प्रियतम सिद्धार्थ से गौतम बुद्ध बनने की राह पर चुपके से न जाकर मुझसे कहकर जाते तो मैं उनकी राह का रोड़ा कभी नहीं बनती । यहाँ गृह-त्याग के प्रसंग से व्यंग्यार्थ व्यंजित हो रहा है ।

08. देशवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

जहाँ देश अथवा स्थान की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ देश वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है । उदाहरण द्रष्टव्य है –

अन्यत्र यूयं कुसुमावचयं कुरुध्वमत्रास्मि करोमी सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽजलिर्वः ॥

अर्थात् हे सखियो ! तुम लोग अन्यत्र पुष्प-चयन करो । मैं यहीं पुष्पचयन करूँगी; क्योंकि दूर चलने में असमर्थ हूँ । अतः, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मुझ पर कृपा करो ।

व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि यह एकान्त स्थल है । इसलिए झाड़ी में छिपे हुए कामुक प्रेमी को तुम यहीं भेज दो । एकान्त में निर्भय होकर मिलना सम्भव हो पाएगा । यह व्यंग्यार्थ देशवैशिष्ट्योत्पन्नहै ।

09. काल वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

जहाँ काल (समय) की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है । उदाहरणार्थ –

गुरुजन परवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिन्यहम् ।
अद्यं प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥

अर्थात्, गुरुजनों के वशीभूत हो जाने वाले प्रिय ! मैं अभागिनी तुमसे क्या कहूँ । वसन्तकाल में जा रहे हो तो जाओ । मेरी मृत्यु के बाद तुम्हें कर्त्तव्य सुनने को मिल जाएगा कि तुम्हें क्या करना चाहिए था ।

इससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि कामोद्दीपक वसन्त ऋतु तुम्हारी अनुपस्थिति में मेरी जान लेकर ही छोड़ेगी । यह ऋतु प्रेम की भूखी प्रियतमा को छोड़कर कहीं जाने की नहीं है, अर्थात् तुम मेरे पास रहो ।

काल (वसन्त ऋतु) वैशिष्ट्य से उत्पन्न आर्थी व्यंजना का यह अच्छा उदाहरण है । ऐसा ही उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में मिलता है, जहाँ उर्मिला के वेदनाधिक्य को कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना से दिखाया गया है –

कहाँ जायेंगे प्राण ये लेकर इतना ताप ?
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप ॥

10. चेष्टा वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना

जहाँ चेष्टा, अर्थात्, हाव-भाव द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ यह भेद होता है । उदाहरण देखिए –

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया ।
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्पर समासक्तं समासादितम्॥
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते च ले लोचने।
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥

अर्थात्, ज्यों ही मैं द्वार के समीप पहुँचा, त्यों ही उस अनिन्द्य सुन्दरी ने अपनी दोनों जंघाओं को फैलाकर फिर एक दूसरी से सटा लिया। सिर पर घूँघट डाल लिया। आँखें नीची कर लीं, बोलना बंद कर दिया तथा भुजाएँ समेट लीं।

यहाँ कई प्रकार के कामुकतापूर्ण हाव-भाव दिखाकर वह स्त्री मिलनोत्कण्ठा का प्रदर्शन कर रही है – द्वारागत पुरुष (पति / उपपति) को मिलन का निमन्त्रण दे रही है।

तुलसी के मानस के पुष्पवाटिका-प्रसंग से एक उदाहरण देखिए –

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली, अस कहि बिहँसि उठी इक आली।

सीता की एक अंतरंग सखी श्रीराम से हँसकर कह रही है कि कल फिर इसी समय आइएगा। व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि मेरी सखी सीता आपको एक बार फिर देखना चाहती है।

टिप्पणी : कहीं-कहीं एक ही उदाहरण में अनेक विशेषताओं से व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है; जैसे –

काम कुपित मधुमास अरु, श्रमहारी बह बाय;
कुंज मंजु बन पति अनत करौं सखी कह जाय॥

इसमें 'मधुमास' कथन से काल-वैशिष्ट्य, 'कुंज-मंजुबन' से देश-वैशिष्ट्य, वियोग-प्रसंग से प्रस्ताव-वैशिष्ट्य का ज्ञान हो रहा है। इसे शाब्दी व्यंग्य का मिश्र या संकर रूप कहा जा सकताहै।

3.1.2.2.4 तात्पर्यावृत्ति

मीमांसक कुमारिल एवं उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के अतिरिक्त चौथी शक्ति की कल्पना करते हैं, जिसे तात्पर्यावृत्ति कहते हैं। उनके अनुसार, प्रत्येक शब्द का अपना एक अर्थ होता है। किन्तु, उस अर्थ के अलावा आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के आधार पर उससे एक विशिष्ट अर्थ प्रकट होता है, जिसे 'तात्पर्यावृत्ति' कहते हैं। यह अभिधावृत्ति के द्वारा प्रकट किये गए अर्थ को अन्वित कर एक विशिष्ट अर्थ को व्यक्त करती है।

तात्पर्यावृत्ति का सम्बन्ध अभिहितान्वयवाद से है। सबसे पहले अभिहितान्वयवाद को समझ लिया जाए। यह अभिहित, अन्वय तथा वाद नामक शब्दों से मिलकर बना है। 'अभिहित' का शाब्दिक अर्थ होता है – शब्दों द्वारा कथित अर्थ, जबकि 'अन्वय' का अर्थ होता है – सम्बन्ध। इस तरह अभिहितान्वय का अर्थ हुआ – 'शब्दों के द्वारा कहे गये अर्थों का परस्पर सम्बन्ध' – "अभिहितानाम् पदार्थानाम् अन्वयःसम्बन्धः"। दूसरे शब्दों में – "अभिहितानां स्व-स्व वृत्या – अभिधया, लक्षणया, व्यंजनया पदैरूपस्थितानामर्थानामन्वय इति वादिनां भाट्टमीमांसकानां मतम्।"

अर्थात् अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक शब्दशक्तियों से प्रस्तुत किये गए पदों का वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय होता है, तदुपरान्त एक अर्थ का ज्ञान होता है। इसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं। सर्वप्रथम भिन्न-भिन्न वृत्तियों (शक्तियों) की सहायता से पद उपस्थित होते हैं जिनका अपना विशेष अर्थ होता है। उन पदों से पदार्थ की प्रतीति होती है। फिर उनका आपस में अन्वय, यानी सम्बन्ध स्थापित होता है। सम्बन्ध स्थापित होने के बाद जो अर्थ प्रकट होता है, वहीं तात्पर्यार्थ है। यह तात्पर्यार्थ जिस वृत्ति से ग्रहण किया जाता है, उसे तात्पर्यावृत्ति कहते हैं। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है – "घटं करोति" (घड़ा बनाता है) में आपाततः दो पद दिखाई पड़ते हैं – 'घटं' और 'करोति'। वास्तव में, इसमें तीन पद हैं – 'घट', 'अम्' तथा 'करोति', जो क्रमशः संज्ञा, कर्म और क्रियावाचक हैं। तीनों आपस में जब तक मिलते नहीं, तब तक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। इस तरह, उपस्थित पदों से पदार्थ की प्रतीति होती है, फिर उनके परस्पर अन्वय से जो अर्थ निकलता है, वही तात्पर्यार्थ है।

एवंविध, उपपत्ति, अर्थात् श्रुत (सुने गए) में तात्पर्य होता है। तात्पर्य शब्द का अर्थ तीन रूपों में स्पष्ट होता है –

i. सामान्य अर्थ-प्रतीति के सन्दर्भ में तात्पर्य
ii. वाच्यार्थ में निहित अभिप्राय के रूप में तात्पर्य
iii. ध्वनि के पर्याय-रूप में तात्पर्य

हालाँकि, काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति के तीन ही भेद प्रसिद्ध हैं। तात्पर्यावृत्ति को काव्यशास्त्रियों ने प्रश्रय नहीं दिया है। यह मीमांसकों तथा अपवादस्वरूप दशरूपककार धनंजय प्रभृति को छोड़ अन्यत्र उल्लेख नहींहै।

3.1.3 समाहार

1. शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्बन्ध है।
2. शब्द में निहित अर्थ का बोध कराने वाली चीज शब्दशक्ति कहलाती है।
3. शब्दशक्ति के तीन भेद होते हैं – अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। ये शक्तियाँ वाचक, लक्षक तथा व्यंजक शब्दों में निहित वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती हैं। अर्थ-प्रतीति व व्याकरण, उपमान, कोष आदि जिन आठ साधनों से सम्भव हो पाती हैं, उन्हें शास्त्रीय शब्दावली में संकेतग्रह कहते हैं।
4. अभिहितान्वयवादी मीमांसक आचार्य कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी तात्पर्यावृत्ति नामक चौथी शब्दशक्ति की भी सत्ता स्वीकारते हैं।
5. अभिधा के रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ नामक तीन भेद होते हैं। नैयायिक यौगिकरूढ़ नामक चौथा भेद भी मानते हैं।

6. लक्षणा के मूलतः रूढ़ा तथा प्रयोजनवती नामक दो भेद किये गए हैं। दोनों की शुद्धा तथा गौणी ये दो कोटियाँ की गई हैं। पुनः शुद्धा के उपादान, लक्षणादि चार तथा गौणी के सारोपा और साध्यवसाना दो भेद किये गए। इस तरह, लक्षणा के छह भेद हुए।
7. व्यंजना के शाब्दी तथा आर्थी नामक दो भेद किये गए। पुनः आर्थी के दस भेद किये गए।

3.1.4 बोध-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. शब्द के कितने भेद माने गए हैं ?
   (क) 2
   (ख) 3
   (ग) 4
   (घ) 5

2. शब्द और अर्थ के बीच कैसा सम्बन्ध होता है ?
   (क) नित्य
   (ख) अनित्य
   (ग) अनित्यानित्य
   (घ) इनमें से कोई नहीं

3. शब्दशक्ति को अन्य किस नाम से जानते हैं ?
   (क) क्षमता
   (ख) योग्यता
   (ग) वृत्ति
   (घ) कोई नहीं

4. 'तात्पर्यावृत्ति' की कल्पना किस आचार्य की है ?
   (क) प्रभाकर भट्ट
   (ख) कुमारिल भट्ट
   (ग) नागेश भट्ट
   (घ) महिम भट्ट

5. 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी / आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।'

– यशोधरा की ये पंक्तियाँ किस लक्षणा का उदाहरण हैं ?

(क) गौणी का

(ख) शुद्धा का

(ग) सारोपा का

(घ) किसी का नहीं

6. 'व्यंजना' में किस धातु का प्रयोग हुआ है ?

(क) व्यंज् का

(ख) अंज् का

(ग) व्यंग् का

(घ) किसी का नहीं

7. 'पुनि आउब इहि बिरियाँ काली। अस कहि बिहँसि उठी इक आली॥'

– यह किस व्यंजना का उदाहरण है ?

(क) देश वैशिष्ट्योत्पन्न का

(ख) काल वैशिष्ट्योत्पन्न का

(ग) चेष्टा वैशिष्ट्योत्पन्न का

(घ) किसी का नहीं

टिप्पणी लिखिए –

1. योगरूढ़
2. तात्पर्यावृत्ति
3. संकेतग्रह
4. अभिहितान्वयवाद
5. अभिधा का काव्यगत महत्त्व।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध को समझाकर लिखिए।
1. अर्थबोध के कितने साधन होते हैं ? सोदाहरण विश्लेषित कीजिए।
2. अभिधा से क्या समझते हैं ? इसके भेदों को सोदाहरण समझाइए।
3. लक्षणा को परिभाषित करते हुए इसके भेदों-प्रभेदों पर प्रकाश डालिए।
4. व्यंजना की परिभाषा देते हुए इसके भेदों पर प्रकाश डालिए।

5. 'अभिधा शब्दशक्तियों की माता है' – इस कथन की युक्तियुक्तता पर विचार कीजिए।

3.1.5 कठिन शब्दावली

शब्द	:	अर्थ
वाङ्मय	:	वाक् + मय = वाङ्मय। (वाङ्मय का सामान्यार्थ रचना होता है।)
वाग्व्यवहार	:	वाणी का प्रयोग, अर्थात् भाषा
चतुर्विध	:	चार विधाओं वाला, अर्थात् चार प्रकार का
प्रतीयमान	:	जिसकी प्रतीति न हो
सुसम्बद्ध	:	अच्छी तरह सम्बन्धित या जुड़ा हुआ
संकेतक	:	संकेत करने वाला
अप्रतिम	:	अद्वितीय, जिसके समान कोई और न हो
पुंश्चली	:	अपने पति के अलावा अन्य पुरुषों के साथ समागम करने वाली

3.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. मम्मटाचार्य (2001). काव्यप्रकाश. वाराणसी. चौखम्भा विद्याभवन. पृ. क्र.: 19-60
2. सिंह, रा. (1970). आचार्य मम्मट और काव्यप्रकाश. लखनऊ. प्रकाशन केन्द्र. पृ. क्र.: 34-56
3. सिंह, यो. प्र. (2006). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन. पृ. क्र.: 188-217
4. सिंह, वि. (1999). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. जयभारती प्रकाशन. ISBN : 81.8595.24-X. पृ. क्र.: 122-132
5. अग्रवाल, नि. (2006). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन. पृ. क्र.: 89-102
6. मिश्र, रा. (1998). काव्यदर्पण. पटना. भारतीय भवन. पृ. क्र.: 15-37

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : अलंकार : वर्गीकरण, स्थापनाएँ और मूल्यांकन

इकाई – 1 : अलंकार

इकाई की रूपरेखा

4.1.0 उद्देश्य कथन
4.1.1 प्रस्तावना
4.1.2 विषय-विस्तार
4.1.2.1 अलंकार का अर्थ
4.1.2.2 अलंकारों का वर्गीकरण
4.1.2.3 स्थापनाएँ
4.1.2.4 मूल्यांकन
4.1.3 समाहार
4.1.4 बोध-प्रश्न
4.1.5 कठिन शब्दावली
4.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का उद्देश्य है –

i. पाठकों को अलंकार की अर्थगत अवधारणा से परिचित कराना।
ii. अलंकार के विविध भेदों का परिचयात्मक ज्ञान ।
iii. अलंकार की मूल स्थापनाओं तथा
iv. अलंकार के काव्यगत महत्त्व से अवगत कराना ।

4.1.1 प्रस्तावना

भारत में अलंकार-विषयक चिन्तन लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में 'गुण' के साथ 'अलंकार' को शोभा-विधायक तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाट्यशास्त्रकार ने एक शब्दालंकार (यमक) तथा तीन अर्थालंकारों (उपमा, रूपक व दीपक) का पहली बार उल्लेख किया है। यों 'मण्डन' के अर्थ में अलंकार शब्द का प्रथम प्रयोग छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय के आठवें खण्ड में हुआ है – "तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेयामिति", अर्थात् प्रजापति ने कहा – तुम दोनों समलंकृत होकर तथा सुन्दर वस्त्र पहनकर जल-पात्र में देखो।

आचार्य भामह द्वारा सम्प्रदाय के रूप में स्थापित होने के कुछ पूर्व अस्तित्व में आए 'अग्निपुराण' में न सिर्फ अलंकार की परिभाषा की गई है, अपितु कई भेद-प्रभेद भी किये गए हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भामह ऐसे पहले आचार्य हुए, जिन्होंने अलंकार को ऐतिहासिक पहचान दिलाई। फिर तो दण्डी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, भोज प्रभृति कई स्वनामधन्य आचार्यों ने अलंकार-विषयक मौलिक स्थापनाएँ कीं।

4.1.2 विषय-विस्तार

4.1.2.1 अलंकार का अर्थ

अलम् + कृ + घञ् = अलंकार। अलंकार का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है – "अलम्-मण्डनं सज्जां वा करोति इति अलङ्कारः", अर्थात् जो (काव्य को) मण्डित अथवा शोभित करता है।

'अलम्' के कई कोषीय अर्थ होते हैं; यथा – मण्डन, सज्जा, भूषण, बिच्छू का डंक, पीला हरताल इत्यादि। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका अर्थ मण्डन या सज्जा ही होगा।

अलंकार की तीन व्युत्पत्तियाँ लक्षित होती हैं –

1. 'अलंकरोति इति अलंकारः', जो रचना को अलंकृत करता है, अलंकार है।
2. अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः, अर्थात् जिससे (काव्य) अलंकृत किया जाता है, वह अलंकार है।
3. अलंकृतिरलंकारः अथवा सौन्दर्यमलंकारः (वामन), अर्थात् अलंकृति/ सौन्दर्य (ही) अलंकार है।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार, अलंकार कर्त्ता या विधायक है, जबकि द्वितीय के अनुसार, साधन मात्र। तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार, अलंकार सौन्दर्य का समानार्थी (पर्यायवाची) है। इन तीनों व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों में दूसरा अपेक्षाकृत अधिक सार्थक प्रतीत होता है; क्योंकि अलंकार काव्य-शोभा का साधन मात्र है, न कि साध्य। इसी को आधार बनाकर अधिकांश आचार्यों ने अलंकार को परिभाषित किया है। उनमें से कुछ परिभाषाएँ नीचे द्रष्टव्य हैं –

<u>आचार्य भरत</u> :

अलंकारश्च गुणश्चैवबहुभिः समलंकृतः।

(नाट्यशास्त्र)

अर्थात् (काव्य) अलंकार तथा गुणों के द्वारा बहुविध रूपों में अच्छी तरह अलंकृत होता है।

भरत के इस लक्षण में अलंकार को काव्य का शोभाकारक अथवा सौन्दर्यवर्द्धक साधन बताया गया है, जो उचित ही है।

अग्निपुराण :

काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते ।

(342 / 17)

अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं।

आचार्य भामह :

वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

(काव्यालंकार)

अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं।

आचार्य दण्डी :

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।

(काव्यादर्श)

अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहलाते हैं।

आचार्य रुद्रट :

अभिधाप्रकारविशेषा एव चालंकाराः।

(प्रतापरुद्रीय)

अर्थात् अभिधा के विशेष प्रकार को अलंकार कहते हैं।

आचार्य वामन :

सौन्दर्यमलंकारः। अलंकृतिरलंकारः। ... करणव्युत्पत्या पुनः अलंकारशब्दोऽयं उपमादिषु वर्तते । ... अलंक्रियते इति अलंकारः। ... काव्यशोभायाः कर्त्तारः धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

(काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः)

अर्थात् सौन्दर्य अलंकार है। अलंकृति अलंकार है। करण व्युत्पत्ति से अलंकार शब्द उपमा आदि में विद्यमान है। काव्य को शोभनीय बनाने वाले धर्म गुण कहलाते हैं। उनकी अतिशयता के हेतु अलंकार हैं।

इस लक्षण में आचार्य वामन ने प्रथम स्थान पर गुण को रखा है तथा द्वितीय स्थान पर अलंकार को।

आनन्दवर्धन :

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत्॥

(ध्वन्यालोक; 2 / 6)

अर्थात् जो उस अंगीरूप अर्थ का अवलम्बन करते हैं, वे शौर्य आदि की तरह गुण हैं और जो वाच्य वाचक रूप अंगों पर आश्रित रहते हैं, उन्हें कटक, कुण्डल आदि की तरह अलंकार माना जाना चाहिए।

आनन्दवर्धन ने गुण को अलंकार की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि गुण अंगीरूप अर्थ को अवलम्बन बनाते हैं, जबकि अलंकार वाच्य-वाचक रूप अंगों का।

आचार्य मम्मट :

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

(काव्यप्रकाश; 8 / 67)

अर्थात् जो काव्य में विद्यमान अंगीरस को शब्द और अर्थ के द्वारा कभी-कभी उपकृत करते हैं, वे अनुप्रास, उपमा आदि हार आदि के समान आत्मा का उत्कर्ष करते हैं। आशय यह कि अलंकार हारादि आभूषण के समान हैं जो रस का उपकार करते हैं। असुन्दर और नीरस काव्य को उक्ति-वैचित्र्य के माध्यम से उपयोगिता बढ़ा देते हैं। अलंकार कभी-कभी निष्प्रभावी भी हो जाते हैं।

मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रारम्भ में 'अनलंकृति पुनः क्वापि' (1 / 1) कहकर काव्य में अलंकार की अनिवार्य उपयोगिता के आग्रह को भी समाप्त कर दिया। उनकी तो धारणा है कि कभी-कभी अलंकार होते हुए भी काव्य का उपकार नहीं हो पाता है – "क्वचित्तु सन्तमपि नोपर्कुवन्ति।"

आचार्य जयदेव :

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थननलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

(चन्द्रालोक)

अर्थात् जो अलंकारविहीन शब्दार्थ को काव्य मानता है, वह आग को शीतल क्यों नहीं मान लेता ? इस तरह, जयदेव ने मम्मट की धारणा का पुरजोर खण्डन करते हुए अलंकार को काव्य का नित्य (अनिवार्य) धर्म माना।

आचार्य विश्वनाथ (14वीं सदी) :

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

(साहित्यदर्पण; 10 / 1)

अर्थात् जो शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के अस्थिर धर्म के रूप में उसकी अतिशय शोभा बढ़ाते हुए उपकार करते हैं, उन्हें अलंकार कहते हैं। विश्वनाथ ने अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ (17वीं सदी) :

काव्यात्मनो व्यंगस्य रमणीयता प्रयोजका अलंकाराः।

(रसगंगाधर)

अर्थात् अलंकार उन्हें कहते हैं, जो काव्यात्मा व्यंग्य की रमणीयता के प्रयोजक हैं।

आचार्य केशवदास :

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजही कविता वनिता मित्त॥

(कविप्रिया)

अर्थात् अच्छी जाति, अच्छे लक्षणों से युक्त, सुन्दर वर्ण, रसयुक्त तथा सुन्दर छन्द अथवा आचरण के रहते हुए भी अलंकार बिना न तो कविता शोभती है और न ही स्त्री।

श्रीपति मिश्र :

जदपि दोष बिनु गुन सहित सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिन लसै कविता बनिता रूप॥

कविता और वनिता (स्त्री) लाख दोषरहित, गुण-सहित, हर तरह से अनुपम क्यों न हों, अलंकार के बिना उनकी शोभा नहीं होती।

देव :

कविता कामिनी सुखद प्रद, सुवरन सरस सुहाति।
अलंकार पहिरे अधिक, अद्‌भुत रूप सरवाति॥

कविता और कामिनी सुन्दर वर्ण और सरसता के कारण सुख देती हैं, उस पर अलंकार धारण कर लें तो उनका रूप और अधिक निखर आता है।

पद्माकर :

शब्दहुँ ते कहुँ अर्थ ते कहुँ दुहुँ ते उर आनि।
अभिप्राय त्रिहि भाँति जहँ अलंकार सो मानि॥

अर्थात् कहीं शब्द से, कहीं अर्थ से और कहीं शब्द-अर्थ – दोनों से लोग अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार अलंकार मानते हैं।

यह तो बिल्कुल अपनी तरह की परिभाषा है। प्रतीत होता है हिन्दी के मध्यकालीन कवियों ने संस्कृत-लक्षणों का ही रूपान्तरण कर दिया है। इनमें अग्निपुराण और जयदेव के लक्षणों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। शुक्लजी ने अपनी परिभाषा में अलंकार की भूमिका को समझाने का प्रयास किया है। देखिए –

रामचन्द्र शुक्ल :

"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।"

(चिन्तामणि)

इस तरह, अलंकार की भूमिका दो रूपों में है – पहली, भावों का उत्कर्ष दिखाने और दूसरी, वस्तुओं के रूपानुभव, गुणानुभव तथा क्रियानुभव को तीव्र करने में।

सुमित्रानन्दन पन्त :

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।"

(पल्लव की भूमिका)

पन्तजी अलंकार की दो भूमिकाएँ निश्चित करते हैं – पहली, प्रधान और दूसरी, गौण । उसकी प्रधान भूमिका भाव की अभिव्यक्ति में है, जबकि गौण भूमिका वाणी की साज-सज्जा में ।

उपरिलिखित परिभाषाओं से जो तथ्य छनकर निकलते हैं, वे इस प्रकार हैं –

1. अलंकार काव्य का शोभाकारक, अर्थात् सौन्दर्यवर्धक धर्म है । दण्डी के अनुसार, अलंकार काव्य के समग्र सौन्दर्य-विधान को कहते हैं। (अग्निपुराण, दण्डी आदि के मत द्रष्टव्य)
2. अलंकार काव्य का नित्य स्थिर धर्म है । (द्रष्टव्य : जयदेव, केशव, श्रीपति, देव प्रभृति के मत) काव्य में वर्ण, रस, छन्द, गुण – सब हों, किन्तु अलंकार न हो तो काव्य शोभनीय नहीं होता।
3. अलंकार काव्य का अनित्य धर्म है । (देखिए, मम्मट, आनन्दवर्धन, विश्वनाथ, जगन्नाथ, रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति के मत)

आचार्य मम्मट तो अलंकार के अभाव में भी काव्य की सत्ता स्वीकारते हैं – 'अनलंकृती पुनः क्वापि।' 'काव्यालंकार सार-संग्रह' के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज इसे और स्पष्ट करते हैं – 'गुणरहितं काव्यं अकाव्यमेव भवति, न तु अलंकाररहितम्', अर्थात् काव्य में गुण न हों तो वह अकाव्य हो जाता है, जबकि अलंकार के न होने पर भी उसका काव्यत्व अक्षुण्ण रहता है ।

अलंकार काव्य का नित्य धर्म हो या अनित्य किन्तु है सौन्दर्य-विधायक धर्म । कुछ आचार्यों; जैसे – आनन्दवर्धन आदि के अनुसार, अलंकार रसोत्कर्षक धर्म है तो कुछ के अनुसार काव्य-गुण का उत्कर्षक धर्म । चूँकि, गुण का सम्बन्ध रस के साथ होता है इसलिए प्रकारान्तर से अलंकार रस का ही उत्कर्षक है । कुछ अलंकार; जैसे – अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार काव्य की शारीरिक शोभा तक सीमित रहते हैं, जबकि अर्थालंकार काव्यार्थ तक ।

4.1.2.2 अलंकारों का वर्गीकरण

अलंकार के वर्गीकरण पर विचार करने के पूर्व इनकी अनन्तता पर दो शब्द लिखना / कहना अप्रासंगिक नहीं होगा । 9वीं सदी के प्रथमार्ध में उत्पन्न ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के अनुसार, ईश्वर की ओर से वरदान के रूप में प्राप्त प्रतिभा अनन्त होती है । फलस्वरूप, स्फुरण-स्वरूप अलंकार भी अनन्त होता है –

अलंकाराणामनन्तत्वात् ।

(ध्वन्यालोकः / द्वितीय उद्योत)

काव्यादर्शकार दण्डी (छठी सदी) इस तरह की बात पहले ही कह चुके थे –

ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येन वक्ष्यति

अर्थात् अलंकारों की सृष्टि आज भी हो रही है। फलस्वरूप, उनकी गणना सम्पूर्णतः कौन कर सकता है।

अलंकारवादी रुद्रट (9वीं सदी) ने इसी से मिलती-जुलती बात कही है –

ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकाराः तावन्तः अलंकाराः।

(काव्यालंकार)

अर्थात् हृदय को आह्लादित करने वाले जितने प्रकार के काव्यार्थ होते हैं वे सभी अलंकार हैं।

इसके बावजूद आचार्यों ने अलंकारों के वर्गीकरण के प्रयास किये। वर्गीकरण का यह प्रयास अग्निपुराण-काल से ही प्रारम्भ हो गया था। कहना न होगा, यह वर्गीकरण शब्दार्थमूलक मिलता है। ऐसा इसलिए कि भारतीय काव्यशास्त्र में शब्द और अर्थ की दो अलग-अलग परम्पराएँ प्रचलन में आ चुकी थीं।

भरत और अलंकार :

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रस्थान-बिन्दु भरत का 'नाट्यशास्त्र' अवश्य माना जाता है परन्तु अलंकारों के वर्गीकरण का श्रेय उन्हें नहीं दिया जाता। यद्यपि उन्होंने चार अलंकारों का उल्लेख किया है – उपमा, रूपक, यमक और दीपक। बाद चलकर यमक को शब्दालंकार की कोटि में रखा गया तो उपमा, रूपक और दीपक को अर्थालंकार में।

अग्निपुराण में वर्गीकरण :

'अग्निपुराण' की रचना भरत और मम्मट के स्थिति-कालखण्डों के बीच मानी जाती है। न तो नाट्यशास्त्रकार भरत ने और न ही काव्यालंकार भामह ने अलंकार का वर्गीकृत रूप उपस्थित किया है। इस दृष्टि से अग्निपुराण का अलंकार-वर्गीकरण प्रथम प्रयास माना जाएगा।

अग्निपुराणकार ने अलंकारों के तीन वर्ग निर्धारित किये – (1) शब्दालंकार (2) अर्थालंकार तथा (3) उभयालंकार (शब्दार्थालंकार)। देखिए –

अलंका(क)रिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौत्रिधा।

(अग्निपुराण: 342 / 17)

(1) शब्दालंकार

अग्निपुराण में शब्दालंकार की परिभाषा इस प्रकार की गई है –

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालंकार माहुस्तान्काव्यमीमांसका विदः॥

(वही; 342 / 18)

अर्थात् जो अलंकार व्युत्पत्ति आदि द्वारा शब्दों को अलंकृत करते हैं, वे शब्दालंकार कहलाते हैं। शब्दालंकार की संख्या नौ मानी गयी है– छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फन, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र तथा दुष्कर। देखिए –

छाया मुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिर्गुम्फनया सह॥19॥
वाको वाक्यमनुप्रासश्चित्रं दुष्करमेव च।
ज्ञेया नवालंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात्॥20॥

इनमें से अनुप्रास, मुद्रा, उक्ति को छोड़ सारे शब्दालंकार अप्रचलित या अल्पप्रचलित हैं। इन नौ अलंकारों के भी प्रभेद किये गए हैं।

(2) अर्थालंकार

अर्थों के चमत्कार को अर्थालंकार कहते हैं –

अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
तं विना शब्द सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्॥

(अग्निपुराणम्; 344 / 1)

अग्निपुराणकार ने अर्थालंकारविहीन कविता को विधवा के समान माना है –

अर्थालङ्कार रहिता विधवेव सरस्वती।

(वही, 2)

'अग्निपुराण' में अर्थालंकार की संख्या आठबतायी गई है। जैसे – स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु तथा सम। देखिए –

स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि॥ विभावना विरोधश्च, हेतुश्च समष्टधा॥

(वही, 344 / 2-3)

पुनः 'स्वरूप' के दो, 'सादृश्य' के चार, जिनमें उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास को रखा गया है, 'अतिशय' के दो तथा 'हेतु' के दो भेद किये गए हैं।

(3) उभयालंकार

उभयालंकार (शब्दार्थालंकार) शब्द और अर्थ – दोनों को समान रूप से इस प्रकार अलंकृत करते हैं जिस प्रकार स्त्रियों के वक्ष का हार उरोजों के साथ-साथ उनके ग्रीवा-सौन्दर्य को भी बढ़ाता है। शब्दालंकार के छह भेद किये गए हैं – प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति। देखिए –

शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम्।
एकत्र निहितोहारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः ॥1॥
प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता।
अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जाग्रति ॥2॥

इस प्रकार अग्निपुराण में कुल 23 अलंकारों का उल्लेख हुआ है जिनमें कई अलंकार अब प्रचलित नहीं हैं।

<u>भामह और दण्डी</u> (छठवीं सदी) :

भामह को अलंकार-सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'काव्यालंकार' में कुल 38 अलंकारों का परिचय दिया है परन्तु उन्होंने उन अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया है। आचार्य दण्डी भी वर्गीकरण नहीं कर सके। उनकी पुस्तक 'काव्यादर्श' में कुल 35 अलंकारों का विश्लेषण मिलता है। अस्तु उनकी इस पंक्ति में शब्दालंकार और अर्थालंकार का संकेत अवश्य मिलता है–

शब्दार्थालंक्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।

(काव्यालंकार)

<u>आचार्य उद्भट</u> (8वीं सदी) :

आचार्य उद्भट ने अपनी पुस्तक 'काव्यालंकार-सार संग्रह' में शब्द और अर्थ के आधार पर तो नहीं, प्रथम-द्वितीय के क्रम-विधान से अलंकारों को कुल छह वर्गों में विभाजित किया है जो इस प्रकार है –

प्रथम वर्ग :	पुनरुक्तिवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, उपमा, रूपक तथा दीपक	= कुल 07
द्वितीय वर्ग :	आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति	= कुल 06
तृतीय वर्ग :	यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति	= कुल 03
चतुर्थ वर्ग :	प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वित्, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त तथा श्लिष्ट	= कुल 07

पंचम वर्ग : अपह्नुति विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजोक्ति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति तथा परिवृत्ति = कुल 11

षष्ठ वर्ग : सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग तथा दृष्टान्त = कुल 06

इस तरह आचार्य उद्भट ने कुल 40 अलंकारों का परिचय दिया है। इनके इस वर्गीकरण का क्या आधार है, ज्ञात नहीं। हाँ, इतना अवश्य ज्ञात हो रहा है कि प्रथम वर्ग में अनुप्रास आदि शब्दालंकारों के साथ-साथ उपमादि तीन अर्थालंकारों को भी रखा गया है।

आचार्य वामन (8वीं सदी का उत्तरार्द्ध) :

वामन ने काव्य-गुणों पर विचार करते समय 'वाच्यवाचक द्वारेण शब्दार्थगुणानां भेदं दर्शयति' (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति) कहकर एक तरह से शब्दार्थाश्रित अलंकार-विभाजन का संकेत-सूत्र छोड़ा। व्याख्याकारों ने 'वाचकद्वार' से शब्दालंकार तथा 'वाच्यद्वार' से अर्थालंकार का तात्पर्य ग्रहण किया। "तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ", अर्थात् वहाँ यमक और अनुप्रास – दो शब्दालंकार हैं, ऐसा कहकर वर्गीकरण की पृच्छन्न नींव डाली। आचार्य वामन ने कुल 31 अलंकारों का परिचय दिया है।

आचार्य रुद्रट (9वीं सदी) :

'काव्यालंकार' के यशस्वी लेखक रुद्रट के रूप में भारतीय काव्यशास्त्र को ऐसे पहले आचार्य मिले जिन्होंने अलंकारों के वर्गीकरण के लिए स्पष्ट दृष्टिकोण का परिचय दिया। उनका यह दृष्टिकोण अलंकारों में निहित समान वैशिष्ट्य को लक्षित कर बना था। इस आधार पर उन्होंने अलंकारों के चार वर्ग बनाये – (i) वास्तव, (ii) औपम्य, (iii) अतिशय तथा (iv) श्लेष। देखिए –

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषाः अन्ये तु भवन्ति निःशेषा॥

(काव्यालंकार)

1. वास्तव / वास्तव्य

वस्तु के स्वरूप का कथन वास्तव या वास्तव्य है –

वास्तव्यं इति गेयम् क्रियते वस्तस्वरूप कथनम्।

(काव्यालंकार)

इस वर्ग में उन्होंने 23 अलंकारों को रखा, जो इस प्रकार हैं – सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित तथा एकावली।

2. औपम्य

सादृश्य पर आधारित औपम्यसूचक अलंकारों की संख्या 21 बतायी गई, जो इस प्रकार है – उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, संशय, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्वसहोक्ति, समुच्चय, साम्य तथा स्मरण।

3. अतिशय

इसके अन्तर्गत 'लोकातिक्रान्तिगोचरता' पर आधारित 12 अलंकार रखे गये हैं, जैसे – पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विषम, विरोध, असंगति, पिहित, व्याघात तथा अहेतु।

4. श्लेष

इसके अन्तर्गत अर्थ की दृष्टि से जटिल 10 अलंकार रखे गये हैं – अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व, तथा विरोधाभास। ये भेद शुद्ध श्लेष के हैं। उन्होंने संकीर्ण श्लेष के भी दो भेद किये हैं।

रुद्रट द्वारा उल्लिखित अलंकारों की संख्या 66 है परन्तु इनमें एक भी शब्दालंकार में सम्मिलित नहीं है। सारे-के-सारे अर्थालंकार हैं। उन्होंने शब्दालंकारों की संख्या 5 मानी है। जैसे – वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र, अनुप्रास तथा यमक।

आचार्य भोज :

रुद्रट के बाद ही भोज ने अलंकार का व्यवस्थित वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अपनी पुस्तक 'सरस्वती कण्ठाभरणम्' में आचार्य (महाराज) भोज ने तीन वर्गों में विभक्त किया है, यथा – (i) शब्द-वर्ग (ii) अर्थ-वर्ग तथा (iii) उभय वर्ग। शब्दवर्गीय अलंकारों की संख्या 24 है। जैसे – जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, प्रेक्ष्य तथा अभिनीति।

अर्थवर्गीय अलंकारों की संख्या 23 बतायी गई है। जैसे – जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, अपह्नुति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्रान्ति वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव। उभयवर्गीय अलंकारों की संख्या भी 24 दिखाई गई है; यथा – उपमा, रूपक,

साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक तथा संसृष्टि। इनमें जाति, मति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा इत्यादि 28 अलंकार नए हैं।

इनमें से उक्ति, युक्ति, छाया इत्यादि अलंकार 'अग्निपुराण' में आ चुके हैं। सच पूछिए तो भोज के इस वर्गीकरण पर 'अग्निपुराण' का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इनका यह वर्गीकरण वस्तुतः अग्निपुराण के शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार पर ही आधारित है। शब्द-वर्ग, अर्थ-वर्ग तथा उभय-वर्ग क्रमशः शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार ही हैं।

प्राचीन आचार्यों में भामह और उद्‌भट ने श्लेष को अर्थालंकार माना था। उद्‌भट ने श्लेष को (1) शब्दश्लेष तथा (2) अर्थश्लेष – इन दो वर्गों में विभाजित कर उसे शब्दालंकार भी माना। मम्मट ने स्पष्टतः श्लेष को शब्दालंकार और अर्थालंकार मानाहै। मम्मट की इस धारणा को विद्वान् शंका की दृष्टि से देखते हैं लेकिन उन्होंने उदाहरण देकर उनकी शंका निर्मूल कर दी।

(1) <u>शब्दश्लेष</u> –

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषित निःशेष परिजनं देव?
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति समभावयोः सदनम्।

इस श्लोक में एक याचक राजा से निवेदन कर रहा है कि हे राजन ! इस समय मेरा तथा आपका घर समान अवस्था में है। इस साम्य को दिखाने के लिए वह तीन श्लिष्ट विशेषणों का प्रयोग करता है – (i) 'पृथुकार्तस्वर पात्र' अर्थात् मेरा घर बच्चों के क्रन्दन का स्थान है तो आपका घर स्वर्णपात्रों से भरा पड़ा है, (ii) भूषित निःशेष परिजन' अर्थात् मेरा घर ऐसा है जहाँ परिवार-जन भूमि पर सोते हैं लेकिन आपके घर के सेवक भी अलंकृत हैं। (iii) विलसत्करेणुगहन अर्थात् मेरा घर चूहों के द्वारा खोदे हुए बिलों की धूल से भरा है किन्तु आपका घर झूमती हुई हथिनियों से शोभित है।

इस उदाहरण में 'पृथुकार्तस्वर पात्र' आदि के स्थान पर दूसरे शब्द डाल दिए जाएँ तो श्लेषत्व मिट जाएगा।

(2) <u>अर्थश्लेष</u> –

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इस श्लोक में तुला-दंड तथा दुष्ट व्यक्ति के स्वभाव की समता दिखाई गई है जो थोड़े से ही ऊपर-नीचे होते रहते हैं। यहाँ 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' आदि पदों को हटाकर इसी अर्थ के दूसरे पदों को रख देने से भी श्लेषत्व नष्ट नहीं होता। अतः यह अर्थ-श्लेष का उदाहरण है। इसी आधार पर मम्मट ने इसे अर्थालंकार माना है।

आचार्य मम्मट (11वीं सदी) :

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के नवम तथा दशम – इन दो उल्लासों के अन्तर्गत त्रिविध अलंकारों का वर्णन किया है। उनके अनुसार, अलंकार तीन प्रकार के होते हैं – (1) शब्दालंकार (2) अर्थालंकार तथा (3) उभयालंकार।

शब्दालंकार के अन्तर्गत वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास रखे गये हैं जबकि अर्थालंकार के अन्तर्गत उपमा, अनन्वय, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शन, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात।

शब्दार्थालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि तथा संकर को रखा गयाहै।

मम्मटाचार्य के वर्गीकरण की दो उल्लेखनीय बातें हैं – पहली, शब्दालंकार तथा अर्थालंकर के वर्गीकरण के मूल में क्रमशः शब्दपरिवृत्तिसहत्व तथा शब्दपरिवृत्यसहत्व हैं। इनका आशय यह है कि शब्द का परिवर्तन करने पर, अर्थात् पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से जब उसका अलंकारत्व समाप्त हो जाए, तब वहाँ शब्दालंकार समझना चाहिए। यदि शब्द-परिवर्तन करने के बावजूद उसका असंकारत्व सुरक्षित रहे तो अर्थालंकार समझना चाहिए। इन्हें क्रमशः अन्वय तथा व्यतिरेक सिद्धान्तों के नामों से भी जानते हैं –

इह दोषगुणानालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभाग; स अन्वय व्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते ॥

(काव्यप्रकाश)

'अन्वय' का अर्थ होता है – जिसके रहने पर जो रहे, जैसे – जहाँ-जहाँ धुआँ, वहाँ-वहाँ आग। व्यतिरेक का अर्थ होता है – जिसके अभाव में जो न रहे। जैसे – जहाँ-जहाँ आग, वहाँ-वहाँ धुआँ नहीं–

यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः यदभावे यदभावो व्यतिरेकः।

(मुक्तावली)

इसी आधार पर अलंकार के शब्दालंकार तथा अर्थालंकार नामक दो विभागबनाये गए हैं । तीसरा विभाग शब्द और अर्थ – दोनों के आश्रित रहकर काव्य को चमत्कृत करता है।

दूसरी उल्लेखनीय बात श्लेषालंकार से सम्बद्ध है। मम्मट ने इसे शब्दालंकार तथा अर्थालंकार – दोनों वर्गों का सदस्य माना है। मम्मट के अनुसार, अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट प्रतीत होते हैं। वहाँ श्लेषालंकार होता है। वह अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है।

<u>आचार्य रुय्यक</u> (12वीं सदी) :

आचार्य रुद्रट तथा आचार्य मम्मट के बाद रुय्यक ने अपनी पुस्तक 'अलंकारसर्वस्व' में अलंकारों को उनके स्वभाव के आधार पर वर्गीकृत किया है। उनका वर्गीकरण अपेक्षाकृत व्यवस्थित और वैज्ञानिक माना जाता है क्योंकि उन्होंने अलंकारों की प्रवृत्तिमूलक विशिष्टता का आधार ग्रहण किया है।

आचार्य दण्डी से आचार्य मम्मट तक अलंकारों की संख्या 118 हो गयी थी। आचार्य रुय्यक ने 75 अलंकार स्वीकार किये।

सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक ने अलंकारों को दो खण्डों में वर्गीकृत किया – (1) शुद्ध खण्ड और (2) मिश्र खण्ड।

(1) शुद्ध खण्ड

शुद्ध खण्ड के उन्होंने दो वर्ग किए हैं – (क) शब्दालंकार वर्ग अथवा पौनरुक्त्य वर्ग तथा (ख) अर्थालंकार वर्ग।

(क) <u>शब्दालंकार वर्ग अथवा पौनरुक्त्य वर्ग</u> :

इसके अन्तर्गत उन्होंने छह अलंकार रखे, जैसे – (i) पुनरुक्तवदाभास, (ii) छेकानुप्रास (iii) वृत्यनुप्रास (iv) यमक (v) लाटानुप्रास तथा (vi) चित्र।

पौनरुक्त्य वर्ग के उन्होंने पाँच भेद किये; यथा – (I) अर्थ पौनरुक्त्य (II) व्यंजन पौनरुक्त्य (III) स्वर-व्यंजन पौनरुक्त्य (IV) शब्दार्थोभय पौनरुक्त्य (V) स्थान विशेष श्लिष्टवर्ण पौनरुक्त्य।

(ख) <u>अर्थालंकार वर्ग</u> :

आचार्य रुय्यक ने अर्थालंकार वर्ग को सात उपवर्गों में विभक्त किया, जो इस प्रकार हैं –

I. सादृश्य विच्छत्ति : इसके अन्तर्गत आचार्य रुय्यक ने भेदाभेद-तुल्यतामूलक, अभेदप्राधान्यमूलक तथा भेदप्रधानमूलक अर्थालंकार रखे । भेदाभेदतुल्यतामूलक को भी उन्होंने क्रमशः आरोपाश्रित, अध्यवसायाश्रित तथा गम्यौगम्यमूलक में विभक्त किया । उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण को भेदोभेदतुल्यतामूलक के अन्तर्गत रखा तो रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख और अपह्नुति को आरोपाश्रित के अन्तर्गत; उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति को अध्यवसायाश्रित वर्ग में रखा तो तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना को गम्यौपम्यमूलक के अन्तर्गत, व्यतिरेक एवं सहोक्ति को भेद प्रधानमूलक अलंकार माना ।

II. विशेषण विच्छत्ति : (क) केवल विशेषण विच्छत्ति, जैसे – समासोक्ति, परिवार (ख) सविशेष विशेषण विच्छति, जैसे – श्लेष ।

III. गम्यार्थता विच्छत्ति : पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति तथा आक्षेप ।

IV. विरोध विच्छत्ति : (क) शुद्ध विरोध, जैसे – विरोध (ख) कार्य-कारण भावाश्रित, जैसे – विभावना, अतिशयोक्ति (ग) आश्रयाश्रयित्वमूलक, जैसे – अधिक, विशेष (घ) व्यतिहारमूलक, जैसे – अन्योन्य ।

V. शृंखलाविच्छत्ति : जैसे – कारणमाला, एक खोली, मालादीपक, सार, काव्यलिंग, अनुभाव, यथासंख्य, पर्याय तथा परिवृत्ति ।

VI. न्यायविच्छत्ति : (क) तर्कन्यामूलक, जैसे – परिसंख्या, स्नापिति तथा विकल्प (ख) वाक्यन्यायमूलक; जैसे – समुच्चय, समाधि (ग) लोकन्यायमूलक – प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण ।

VII. गूणार्थपरता विच्छत्ति : (क) शुद्ध – सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति (ख) स्फुटार्थता – भाविक (ग) उदस्तता – उदस्त (घ) चित्तवृत्याश्रित – संवत, श्रेय, ऊर्जस्वित, समाहित, भावोदय तथा भावशबलता ।

(2) मिश्र खण्ड

मिश्र खण्ड के दो भेद हैं – (क) संसृष्टि तथा (ख) संकर। इसमें संसृष्टि के तीन उपभेद हैं – (i) शब्दालंकार संसृष्टि (ii) अर्थालंकार संसृष्टि (iii) उभयालंकार संसृष्टि।

इस तरह, रुय्यक का वर्गीकरण विस्तृत है । उन्होंने शब्दार्थोभय खण्ड की कल्पना का खण्डन किया । उन्होंने श्लेष, वक्रोक्ति आदि को शब्दालंकार न मानकर अर्थालंकार माना । उन्होंने कई ऐसे अलंकारों की कल्पना की जो इस समय प्रचलन में नहीं हैं, जैसे – संवत, श्रेय, समाहित इत्यादि ।

रुय्यक के इस वर्गीकरण में समासोक्ति, प्रतीप, सामान्य तथा मीलित को सादृश्यमूलक माना गया है जबकि ये गम्यागम्यमूलक हैं । इनमें से समासोक्ति को परिकर और श्लेष के साथ रखा गया है जो उचित नहीं, क्योंकि श्लेष को किसी तरह सादृश्यूलक माना जा सकता है परन्तु परिकर को नहीं । अतिशयोक्ति की तरह

अप्रस्तुतप्रशंसा को भी दो भागों में विभक्त कर उसके सादृश्यमूलक भेद को भी अलग रखा जा सकता था। पूर्वाचार्यों की भाँति रुय्यक ने भी अन्योक्ति को मान्यता नहीं दी लेकिन इसे कुछ विद्वानों के अनुसार कुल पाँच वर्गों में समेटा जा सकता है – (1) सादृश्यमूलक (2) विरोधमूलक (3) शृंखलामूलक (4) न्यायमूलक तथा (5) गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक।

रुय्यक ने लाटानुप्रास को शब्दालंकार में न रखकर उभयालंकार में रखा। वास्तव में ये लोक की ही तरह आश्रय-आश्रयी के सम्बन्ध को अलंकारों की भिन्नता का नियामक मानते हैं । मम्मटाचार्य द्वारा प्रतिपादित अन्वय-व्यतिरेक को ये विशिष्ट अलंकारत्व का नियन्ता नहीं मानते ।

<u>आचार्य विद्यानाथ</u> (14वीं सदी) :

रुय्यक के बाद आचार्य विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ 'प्रतापचन्द्रयशोभूषण' में अलंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है – वस्तुप्रतीतिमूलक, औपम्यप्रतीतिमूलक, रसभावप्रतीतिमूलक तथा अस्फुटप्रतीतिमूलक। प्रथम वर्ग में समासोक्ति आदि बारह अलंकार, द्वितीय वर्ग में रूपकादि सोलह, तृतीय में रसवत् आदि सात तथा चतुर्थ वर्ग में उपमादि चालीस अलंकार रखे । उनके द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों की कुल संख्या पचहत्तर(75) है ।

<u>आचार्य विद्याधर</u> (14वीं सदी) :

इन्होंने अलंकारों के कुल नौ वर्ग बनाये; जैसे – साधर्म्यमूल, अध्यवसायमूल, विरोधमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकव्यवहारमूल, तर्कन्यायमूल, शृंखलावैचित्र्यमूल, अपह्नवमूल तथा विशेषणवैचित्र्यमूल।

<u>आचार्य विश्वनाथ</u> (14वीं सदी) :

आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों की संख्या 78 बतायी, जिन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया – शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार । अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्द) ने बढ़ाकर संख्या 120 कर दी तो बाद में जगन्नाथ ने घटाकर 70 कर दी । अप्पयदीक्षित ने प्रत्यक्षादि दस नवीन अलंकारों की कल्पना की तो पण्डितराज ने 'तिरस्कार' नामक एक नया अलंकार दिया ।

<u>डॉ॰ नगेन्द्र</u> :

हिन्दी के आचार्यों में डॉ॰ नगेन्द्र ने मानसिक प्रभाव को आधार बनाकर अलंकारों के कुल छह वर्ग बनाये – (1) साधर्म्यप्रधान (मानसिक स्पष्टता) (2) अतिशयप्रधान (विस्तार) (3) वैषम्यप्रधान (आश्चर्य) (4) औचित्यप्रधान (अन्विति) (5) वक्रताप्रधान (जिज्ञासा) (6) चमत्कार-प्रधान (कौतूहल) ।

विद्यावाचस्पति रामदहिन मिश्र :

डॉ॰ नगेन्द्र का वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित माना जा सकता है किन्तु इनकी तुलना में काव्यदर्पणकार विद्यावाचस्पति रामदहिन मिश्र का वर्गीकरण कहीं अधिक व्यापक और समावेशी है । उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में प्रचलित अलंकारों के आधार पर अलंकारों के कुल पाँच वर्ग बनाये – (1) शब्दालंकार (2) अर्थालंकार (3) सम्मिलित अलंकार (4) कुछ अन्य अलंकार तथा (5) पाश्चात्य अलंकार।

(1) शब्दालंकार :

इसके अन्तर्गत कुल सात शब्दालंकार रखे गए हैं । जैसे – अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति तथा श्लेष । मिश्रजी ऐसे पहले काव्यशास्त्री हैं जिन्होंने पहली बार पुनरुक्ति तथा वीप्सा को इस कोटि में रखा है ।

(2) अर्थालंकार :

रामदहिन मिश्र ने अर्थालंकार को नौ कोटियों में विभक्त किया है – सादृश्यमूल, आरोपमूल (अभेदप्रधान), अध्यवसायमूल (अभेदप्रधान), गम्यौपम्याश्रय (पदार्थगत), गम्यौपम्याश्रय (वाक्यगत), गम्यौपम्याश्रय (भेदप्रधान), गम्यौपम्याश्रय (विशेषणवैचित्र्य आदि), लोकन्यायमूल तथा गूढ़ार्थप्रतीतिमूल। इन कोटियों में सम्मिलित अर्थालंकारों की कुल संख्या 69 (उनहत्तर) दिखाई गई है ।

(3) सम्मिलित अलंकार :

इसमें संसृष्टि तथा संकरमात्र दो अलंकार रखे गए हैं ।

(4) कुछ अन्य अलंकार :

इस कोटि में ललित, अत्युक्ति, उल्लास, अवज्ञा, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर तथा मिथ्याध्यवसिति नामक कुल 08 (आठ) अलंकार रखे गए हैं ।

(5) पाश्चात्य अलंकार :

कुछ पाश्चात्य अलंकार जैसे – मानवीकरण, ध्वन्वर्यव्यंजना तथा विशेषणविपर्यय वा विशेषणव्यत्यय नामक तीन अलंकार इस कोटि की शोभा बढ़ाते हैं ।

रामदहिन मिश्र का यह वर्गीकरण डॉ॰ नगेन्द्र के वर्गीकरण से भी अधिक व्यवस्थित, प्रामाणिक तथा समावेशी है । इस वर्गीकरण में ऐसे प्रचलित अलंकारों को भी स्थान दिया गया है जिनकी ओर किसी की दृष्टि ही नहीं गई थी ।

4.1.2.3 स्थापनाएँ

भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम सम्प्रदाय रस है जिसका मूल सूत्र आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' में है । इसके बाद जिस सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ, वह अलंकार सम्प्रदाय ही है । इसके संस्थापक आचार्य 'काव्यालंकार' के यशस्वी रचयिता भामह माने जाते हैं किन्तु कन्हैयालाल पोद्दार प्रभृति विद्वानों ने अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय अग्निपुराण तथा इसके लेखक को दिया है । अलंकार रस-सिद्धान्त का समकालीन सिद्धान्त था, इसका प्रमाण इस बात में निहित है कि दोनों सिद्धान्तों की व्याख्या अग्निपुराणकार ने साथ-साथ की है । इसके बावजूद भामह ही अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं ।

अलंकार को लेकर मुख्यतः तीन स्थापनाएँ रही हैं – (1) अलंकार काव्य का नित्य धर्म है (2) अलंकार काव्य का अनित्य धर्म है तथा (3) अलंकार एक व्यापक धारणा है ।

1. अलंकार काव्य का नित्य धर्म है –

अलंकार काव्य का शोभाकारक अथवा सौन्दर्यवर्धक धर्म है । आचार्य दण्डी काव्य के समग्र सौन्दर्यविधान को ही अलंकार मानते हैं । 'समग्र' से तात्पर्य यहाँ शब्द, अर्थ, गुण, रस इत्यादि सारे अंगों से हैं ।

अलंकार को काव्य का नित्य धर्म मानने वालों में अग्निपुराणकार, भामह, जयदेव, केशवदास, श्रीपति, देव प्रभृति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । अग्निपुराणकार की दृष्टि में अलंकार, विशेषतः अर्थालंकार के अभाव में सरस्वती अर्थात् कविता विधवा, अर्थात् श्रीविहीन हो जाती है । देखिए –

अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।

(अग्निपुराणम्; 344 / 2)

भामह की दृष्टि में सुन्दर होने पर भी वनिता (स्त्री) का मुखमण्डल आभूषण के अभाव में अशोभनीय-अनाकर्षक हो जाता है –

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

(काव्यालंकार)

चन्द्रालोककार जयदेव मम्मट की इस बात से आहत थे कि काव्य अलंकार के अभाव में भी सम्भव है । अन्ततोगत्वा उन्हें रोषपूर्वक कहना पड़ा –

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥

(चन्द्रालोक)

अर्थात् जो विद्वान् अलंकारविहीन शब्दार्थ को काव्य के रूप में स्वीकार करता है, वह अग्नि को शीतल क्यों नहीं मान लेता ?

उनके कथन का आशय यह था कि जिस तरह ऊष्णता (दाहकता) आग का स्थायी धर्म है, उसी तरह अलंकार भी काव्य का स्थायी धर्म है। जैसे दाहकता के अभाव में आग का अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही अलंकार के अभाव में कविता का कोई अस्तित्व नहीं।

इन्हीं तीनों आचार्यों के मतों की पुष्टि केशव, श्रीपति प्रभृति हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी की है। केशव का अभिमत द्रष्टव्य है –

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन विनु न विराजही कविता वनिता मित्त ॥

(कविप्रिया)

कविता में सारे गुणों के होते हुए उसकी तब तक शोभा नहीं होती जब तक उसमें अलंकारों का यथास्थान प्रयोग न हुआ हो।

2. अलंकार काव्य का अनित्य धर्म है –

अलंकार काव्य का अनित्य, अर्थात् अस्थायी धर्म है, ऐसा मानने वालों में आचार्य मम्मट, आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति के नाम प्रमुख हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्य को परिभाषित करते हुए 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का प्रयोग किया है। देखिए –

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

अर्थात् वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं जो दोष-रहित हों, गुणयुक्त हों और अलंकृत हों या न हों। 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का तात्पर्य यह है कि यथासम्भवतः शब्द और अर्थ को अलंकृत होना चाहिए किन्तु यदि कहीं स्पष्ट रूप से अलंकार न भी हो तो भी वहाँ काव्यत्व में कोई क्षति नहीं पहुँचती। टीकाकार प्रतिहारेन्दु इसे और स्पष्ट करते हैं –

गुणरहितं काव्यं अकाव्यमेव भवति न तु अलंकाररहितम्।

अर्थात् काव्य गुणरहित हो तो अकाव्य बन जाता है लेकिन अलंकार-रहित काव्य का काव्यत्व सदैव अक्षुण्ण रहता है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि अलंकार काव्य का वैकल्पिक (अस्थायी) धर्म है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म माना है। उनके अनुसार काव्य का अंगी अर्थ/ रस है। उसका अवलम्बन लेने वाले गुण कहलाते हैं जबकि अलंकार कटक-कुण्डलादि की तरह अंगों पर आश्रित रहते हैं। जैसे कुण्डल आदि आभूषण शरीर से उतारे भी जाते हैं वैसे ही अलंकार भी। देखिए –

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्॥

(ध्वन्यालोकः – 2 / 6)

अर्थात् जो उस अंगी रूप अर्थ का अवलम्बन करते हैं, वे गुण कहलाते हैं और कटक-कुण्डलादि की तरह अंगों पर आश्रित रहने वालों को अलंकार मानना चाहिए, जो रसादि रूप उस अंगी अर्थ का अवलम्बन करते हैं, शौर्य आदि की तरह वे गुण हैं तथा जो वाच्य-वाचक रूप अंगों पर अनाश्रित होते हैं, वे कटक-कुण्डलादि की तरह अलंकार हैं।

निष्कर्ष यह निकलता है कि अलंकार काव्य अनित्य (अस्थायी या वैकल्पिक) धर्म है।

विश्वनाथ रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने रसपूर्ण वाक्य को काव्य की संज्ञा दे रखी है। दूसरी ओर पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द को काव्य कहकर अभिहित किया है। स्पष्टतः दोनों की पहली पसन्द अलंकार नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी रसवादी परम्परा के आलोचक रहे हैं। फलस्वरूप, उनके चिन्तन और लेखन में अलंकार काव्य का अंगी नहीं बल्कि अंग बनकर आया है। देखिए – "वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बड़ा दिखाना पड़ता है। कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।" शुक्लजी ने अलंकार को भाव का उत्कर्षक तत्त्व मात्र माना है।

3. अलंकार एक व्यापक धारणा है –

व्याप्ति-अव्याप्ति के आधार पर अलंकार को लेकर दो दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं – (i) संकीर्ण दृष्टिकोण (ii) व्यापक दृष्टिकोण। अलंकार को लेकर संकीर्ण दृष्टिकोण रखने वालों की धारणा रही है कि वह

काव्य के शब्दार्थ की शोभा या सौन्दर्य बढ़ाने वाला एक उपकरण है। अलंकार का साथ पाकर शब्दार्थ आकर्षक और अभिव्यंजक बनते हैं।

अलंकार के प्रति व्यापक दृष्टिकोण रखने वालों की राय में अलंकार एक समावेशी (व्यापक) धारणा है जिसमें रस, गुण, रीति, वृत्ति, छन्द – सब समाहित हो जाते हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानकर अलग काव्य-सम्प्रदाय चलाया लेकिन वह वक्रोक्ति मूलतः अलंकार है। किसी ने अलंकार को 'रसवत्' कहकर लक्षित किया तो भोज के भी 'वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्' कहकर अलंकार को परिभाषित किया जिसमें वक्रोक्ति और रसोक्ति अलंकार के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। इस तरह न तो वक्रोक्ति और न ही रस अलंकार से अलग हैं। इस दृष्टिकोण से अलंकार एक व्यापक धारणा है जिसमें काव्य का अंगी कहलाने वाला रस भी प्रकारान्तर से शामिल है। इस सन्दर्भ में पण्डितराज जगन्नाथ की स्थापना महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपने 'रसगंगाधर' नामक ग्रन्थ में रस को सर्वोपरि स्थान दिया है परन्तु उनके मतानुसार रस, वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार में से प्रत्येक में अलंकार-तत्त्व स्वतन्त्रया विद्यमान रहता है।

उपरिलिखित विवेचन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि अलंकार एक व्यापक धारणा है जिसमें प्रकारान्तर से रस, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति – सबका समाहार हो जाता है। दूसरे शब्दों में काव्य का समग्र सौन्दर्य-विधान अलंकार में समाहित है।

4.1.2.4 मूल्यांकन

अलंकार-विषयक धारणाओं / स्थापनाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि अलंकार काव्यान्तर्गत शब्द तथा अर्थ की सार्थकता किंवा साभिप्रायता को बखूबी स्पष्ट करते हैं। अर्थ-विच्छित्ति, अर्थ की विविध स्थितियाँ, उनसे सम्बद्ध मानसिक प्रभाव, अर्थाभिव्यक्ति तथा विविध प्रयोगों से उत्पन्न रचनात्मक वैचित्र्य को संस्कृत काव्यशास्त्रान्तर्गत आलंकारिक आचार्य अच्छी तरह विश्लेषित करते हैं।

अलंकार-विषयक उपलब्धियों को निम्नलिखित पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत दिखाया जा सकता है –

1. समग्र काव्य-सौन्दर्य का विधायक :

भरत, अग्निपुराणकार, दण्डी, वामन प्रभृति आचार्यों ने अलंकार को समग्र काव्य-सौन्दर्य के विधायक तत्त्व के रूप में देखा है। अग्निपुराणकार तथा दण्डी ने जहाँ अलंकार को 'काव्य का शोभाकारक धर्म' कहकर परिभाषित किया, वहाँ वामन ने 'सौन्दर्यमलंकारः' कहकर। काव्य-सौन्दर्य स्थूलतः दो रूपों में विन्यस्त रहता है – पहला, शब्द / भाषा में, दूसरा अर्थ (भाव / रस) में। अलंकार का निर्धारक तत्त्व मूलतः वैचित्र्य होता है जिसका विधान न केवल शब्द में होता है बल्कि अर्थ में भी। शब्द और अर्थ की युक्तिसंगत संहति से काव्य की सृष्टि होती है। शब्दार्थ-विन्यास के रूप में काव्य को परिभाषित करने के पीछे भी काव्य के समस्त रचना-कौशल को

अलंकार-विधान में अन्तर्मुक्त करने की दृष्टि विद्यमान है। शब्दार्थ-प्रपंच में निहित वचोभंगी अलंकारत्व का मूल हेतु है। स्वभावोक्ति इस भंगिमा से पृथक् नहीं है।

बाद के आलंकारिकों ने अनुप्रास, श्लेष, यमक के अन्तर्गत क्रमशः माधुर्य, ओज व प्रसाद को अलंकार-धर्म घोषित किया। रसवत् प्रेयस, ऊर्जस्विन् तथा समाहित को प्रारम्भ के आचार्यों ने अलंकार की श्रेणी में रखा। आचार्य रुय्यक ने भावसन्धि, भावशबलता, भावशान्ति इत्यादि को अलंकार घोषित किया। महाराज भोज ने तो हद ही कर दी। उन्होंने प्रेक्ष्य अभिनय को भी अलंकार की पंक्ति में बिठादिया। विवक्षितार्थ यह कि अलंकारवादी आचार्य अन्य काव्य-सिद्धान्तों को भी अलंकार की सीमा में रखने के प्रति आग्रही रहे हैं।

2. अलंकार सिद्धान्त की सर्वोपरिता :

अलंकार की सर्वोच्चता सिद्ध करने के लिए आलंकारिक आचार्यों ने अनेक प्रकार की युक्तियों का सहारा लिया। उनमें से एक प्रसिद्ध युक्ति है – 'कविता-वनिता'। आचार्य भामह से लेकर हिन्दी के कवि-आचार्य केशवदास तक ने इस युक्ति का सहारा लिया। भामह जहाँ कहते हैं – "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्" वहाँ केशव लिखते हैं –

जद्यपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

(कविप्रिया)

अग्निपुराणकार तो डंके की चोट पर घोषणा करते हैं कि अलंकार के बिना सरस्वती ठीक विधवा के समान है – "अलंकाररहिता विधवैव सरस्वती।" (अग्निपुराणम्)। इन उक्तियों से प्रमाणित होता है कि आलंकारिक आचार्यों ने अलंकार को सर्वोपरि स्थान दे रखा था।

3. अलंकार-विधान में कथन की समग्रता :

कथन की समग्रता का तात्पर्य कथन की विविध शैलियों से है, यथा – साधर्म्य, विरोध, अध्यवसाय, तर्क-रचना, संश्लिष्ट, वैचित्र्य-प्रधान इत्यादि। ये सभी कथन-भंगिमाएँ व शैलियाँ अलंकारानुविद्धहै। कालान्तर में शब्दशक्ति-विवेचन से अलंकार-निरूपण को बल मिला। कहते हैं, दोनों एक दूसरे से लाभान्वित और उपकृत हुए। उदाहरण के लिए लक्षण शब्दशक्ति का वास्तविक सम्पर्क अलंकार का ही है। इसके पूर्ण विकासोपरान्त ही आलंकारिक आचार्यों ने इसका पुनरुपयोग किया। व्यंजना शब्दशक्ति में व्यंग्य के आदिम संकेत वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, आक्षेप इत्यादि अलंकारों में देखे जा सकते हैं। यही नहीं, वर्ण-साधना से लेकर काव्य-शैली तक को अलंकार की परिधि में रखने की चेष्टा की गई। श्लेष, यमक, प्रहेलिका जैसे शब्द क्रीड़ात्मक अलंकार काव्य को कलात्मक मनोविनोद का स्वरूप प्रदान करते हैं। कहते हैं, प्रारम्भिक दौर के काव्य कई प्रकार के अलंकार-बन्धों पर आधारित होते थे। जैसे – उपमा-बंध, यमक-बंध, श्लेष-बंध इत्यादि। 15वीं सदी में इनका

विकास 'वर्णक' के रूप में हुआ । 'अलंकारशेखर' तथा 'काव्यलतावृत्ति' इसके उदाहरण हैं । यमकबंध का उदाहरण कालिदास के 'रघुवंशम्' में देखा जा सकता है ।

समासतः कतिपय आचार्यों ने अलंकार-विधान के अन्तर्गत कथन की समग्रता को रखने के प्रयास किये । कुछ को आंशिक सफलता भी मिली।

4. अलंकार-जनित काव्यास्वाद तथा कलात्मक प्रभाव :

रस में आस्वादन की जो प्रक्रिया है, लगभग वहीं आस्वाद-प्रक्रिया अलंकार में भी है, आलंकारिक आचार्यों की ऐसी स्पष्ट धारणा है । इसका मूल कारण यह है कि अलंकार-रचना की प्रवृत्ति मूलतः कलात्मक है; फलस्वरूप, आह्लादक भी किन्तु अलंकारजन्य आह्लाद रसकोटिक, अर्थात् संवेगात्मक कम, विस्मय व औत्सुक्य-शमनकारी अधिक है । यही कारण है कि अर्वाचीन आलंकारिकों ने इसके अन्तर्गत स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, जिज्ञासा, अन्विति तथा कौतूहल-विधायक परिणामों का विवेचन किया है । कला-रूप में अलंकार कई प्रकार के कार्य करता है, यथा – चमत्कृति, विमुग्धता, अर्थोत्कर्ष, भावोत्कर्ष, गुणातिशयता, रंजनात्मक कौतूहल का शमन इत्यादि । अर्थोत्पन्न सौन्दर्यविधान तथा मानस पर अंकित होने वाले उसके आनन्दकर प्रभाव को आचार्यों ने अलंकार से जोड़कर देखा है । योगेन्द्र प्रताप सिंह के अनुसार, "अलंकार के सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व अर्थरचना का है।" (भारतीय काव्यशास्त्र, पृ. : 184) ।

आनन्दवर्धन ने अलंकार के कार्य-व्यापार पर विचार करते हुए उसे रस के प्रकाशक वाच्य रूप की तरह देखा है जिसके अर्थ की दृष्टि से कई स्तर होते हैं, जैसे –

(i) प्रथम स्तर पर आनन्दवर्धन की शब्दावली में 'वाच्य रूप' कहलाने वाले अलंकार अपने धर्म द्वारा अर्थ का साधारणीकरण करते हैं । जिस तरह 'विभावानुभावव्यभिचारि' सहृदय के हृदय में संचित वासनाओं को जाग्रत् कर आस्वाद्य बनाते हैं उसी तरह अलंकार भी साधर्म्य, अतिशयता, वक्रता इत्यादि के द्वारा श्रोताओं या पाठकों में सुप्त उत्सुकता (कौतूहल), विनोद जैसी मूलवृत्तियों को जाग्रत् कर उन्हें विमुग्ध तथा आह्लादित करते हैं । आचार्यों ने आलंकारिक अर्थ-रचना से उत्पन्न कलात्मक आस्वाद को आह्लाद, अन्तश्चमत्कार, परिस्पन्द-मनोहारिता इत्यादि कहकर अभिहित किया है । रस-जनित आनन्द को विषयिपरक आत्मनिष्ठ कहा गया है जबकि अलंकार की अर्थ-रचना-जनित आनन्द को विषय-परक (वस्तुनिष्ठ) ।

(ii) द्वितीय स्तर पर अलंकार विभावानुभाव को अधिक सम्प्रेषणीय बनाते हैं । ऐसा काम ये गुण आदि में अतिशयता बढ़ाकर विभावादि में अपनी रचनात्मक अर्थ-विलक्षणता का तिरोधान कर उन्हें रस की सामग्री के निर्माण में सहायता करते हैं । कहते हैं, ध्वनिवादी आचार्यों ने लक्षण, व्यंजना की परिकल्पना से अलंकारों को गौण बनाने का प्रयास किया । अलंकारवादियों के अनुसार, लक्षणादि सहित समस्त अन्वितियाँ अलंकार के इसी धर्म के द्वारा आस्वदनीय हो पाती हैं । एवंविध, अलंकार

अर्थ-रचना के स्तर पर कलात्मक सृष्टि द्वारा समस्त रसोपकरणों को आस्वादन का विषय बनाने में सहायक हो पाते हैं।

(iii) तृतीय स्तर पर अलंकार चमत्कार की सृष्टि करते हैं। पहेली, चित्रकाव्य आदि इस चमत्कार के बहुविध रूप हैं।

5. अलंकार के मूल हेतु:

आलंकारिकों ने मूल हेतु का अर्थ उस शक्ति से लिया है जिसका काव्य-भाषा में प्रवेश कराने पर अलंकारत्व की उत्पत्ति होती है। हेतु का प्रश्न मूलतः अलंकारस्रचना का प्रश्न है। इन हेतुओं की संख्या पाँच मानी गई है; यथा –

(1) स्वाभावोक्ति :

आचार्य दण्डी के अनुसार यह अलंकारत्व का मूल हेतु है – "स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेति आद्या सालंकृतिः यथा।" जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य इत्यादि का नैसर्गिक रूप में कथन ही स्वभावोक्ति है, जो अलंकारशास्त्र में सर्वत्र विद्यमान है। आचार्य दण्डी की दृष्टि में गुणवादी धारणा को स्पष्ट करने के लिए इसकी उपस्थिति अपरिहार्य है। काव्यात्मा के रूप में स्थित वैदर्भी का प्राण-तत्त्व स्वभावोक्ति ही है। इसको आधार बनाने से काव्य में नैसर्गिक सौन्दर्य की वृद्धि होती है। कालान्तर में स्वभावोक्ति वाली धारणा का खण्डन हो गया।

(2) वक्रोक्ति :

आचार्य भामह ने 'वक्रोक्ति' को अलंकारत्व का मूल हेतु माना है। उनके अनुसार, स्वाभावोक्ति से काव्य में आलंकारिता नहीं आती। इस बात को वे एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं, यथा – "सुन्दर मरकत और पद्मराग से चित्रित फल, पल्लव सम्पन्न अनेक मनोहर वृक्षों से युक्त, पुष्पों से विभूषित, देवमुनि सिद्ध-सेवित सुमेरु पृष्ठ पर वह (शुक) रहता है।" इस उदाहरण में पुष्प, फल, वृक्ष की शोभा भले बढ़ती हो, मगर अर्थ की शोभा नहीं। अर्थ की शोभा के लिए वक्रतापूर्ण कथन अपेक्षित है – "वाचांवक्रार्थशब्दोक्तिः अलंकाराय कल्पते।" (काव्यालंकार)। आचार्य भामह के अनुसार, वक्रता के मूल में अतिशयता होती है।

(3) सादृश्य :

वामन, महिमभट्ट, राजशेखर, अप्पयदीक्षित – जैसे आचार्यों ने सादृश्य या उपमात्व को अलंकारत्व का मूल हेतु माना है। वामन ने प्रतिवस्तूपमा-सहित तीस अलंकारों को 'उपमा-प्रपंच' की संज्ञा दी है। महिम भट्ट ने भी उपमा को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना – "सर्वेस्वलंकारेषूपमा जीवितायते।" काव्यमीमांसाकार डंके की चोट पर कहते हैं –

अलंकार शिरोरत्न सर्वस्वकाव्यसम्पदाम्। उपमा कविवंशस्य मातवैति मतिर्मम्॥

अर्थात् मेरी कवि में कवि-वंश के लिए, उपमा माता के समान है। आचार्य रुय्यक ने उपमा को अनेक अलंकारों का बीजभूत रूप माना – "उपमैवानेकालंकार बीजभूता।"

(4) अतिशयता :

अतिशयता का अर्थ होता है – उत्कर्ष-व्यंजक कथन। आचार्य भामह ने अलंकारत्व के मूल में वक्रोक्ति को और वक्रोक्ति के मूल में अतिशयता का अस्तित्व माना था। वामन ने भी अतिशयता को महत्त्व दिया –

काव्यशोभायाः कर्त्तारौ धर्मागुणाः। तदतिशयहेतवस्तेऽलङ्काराः।

आचार्य विश्वनाथ से लेकर प्रतिहारेन्दुराज तक ने काव्य के उत्कर्ष की व्यंजना करने वाले तत्त्व अतिशयता का गुणगान किया है।

(5) गुणीभूतव्यंग्य:

ध्वन्यालोकलोचनकार अभिनव गुप्त ने गुणीभूतव्यंग्य को अलंकारत्व का मूल हेतु माना। उनके अनुसार, गुणीभूतव्यंग्य अलंकारवैचित्र्य को प्रकाशित कर सारे अलंकारों के धर्म को प्रदर्शित करता है –

न चातिशयोक्तिवक्रोक्ति उपमादीनां सामान्यरूपत्वं चारुताहीनाममुपद्यते चारुता चैतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूतव्यंग्यत्वं सामान्यलक्षणम्।

अर्थात् न अतिशयोक्ति, न वक्रोक्ति, न उपमादि ही काव्य में चारुता की सृष्टि करता है, वह तो गुणीभूतव्यंग्य है जिससे काव्य में चारुता आती है।

आचार्य कुन्तक के मतानुसार "गुणीभूतव्यंग्य सम्पूर्ण वक्रोक्ति-विधान का मूल कारण है।" रुय्यक के पिता आचार्य तिलक ने 'वैचित्र्य' को अलंकारत्व का बीज तत्त्व मानते हुए कवि-प्रतिभा को इसका मूल हेतु माना किन्तु शान्त चित्त हो गम्भीरता से विचार किया जाए तो अतिशयता ही अलंकारत्व का मूल हेतु ठहरता है।

4.1.3 समाहार

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में जितने भी काव्य-सिद्धान्त / काव्य-सम्प्रदाय हुए, उनमें रस को छोड़कर अलंकार सर्वाधिक प्राचीन सिद्धान्त व सम्प्रदाय है। नाट्यशास्त्रकार भरत ने उपमा, रूपक, यमक और दीपक – इन चार अलंकारों का उल्लेख किया। बाद चलकर जब अलंकारों का वर्गीकरण हुआ तब यमक को तो शब्दालंकार-वर्ग में रखा गया जबकि उपमा, रूपक तथा दीपक को अर्थालंकार-वर्ग में।

अलंकारों के वर्गीकरण का प्रथम प्रयास 'अग्निपुराणम्' में देखने को मिलता है जहाँ इन्हें क्रमशः शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार (मिश्र अलंकार) में वर्गीकृत किया गया। अग्निपुराणकार ने छाया,

मुद्रा, गुम्फन, वाकोवाक्य जैसे शब्दालंकारों का प्रथम बार उल्लेख किया। परवर्ती आलंकारिकों ने इन्हें प्रश्रय नहीं दिया। आचार्य रुद्रट ऐसे पहले आलंकारिक हुए जिन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण स्पष्ट दृष्टिकोण के आलोक में किया। रुद्रट के बाद राजानक रुय्यक ने अलंकारों का व्यापक किन्तु व्यवस्थित वर्गीकरण किया। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित – सबने अपनी-अपनी दृष्टि से अलंकारों को वर्गीकृत किया। कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने अलंकारों की संख्या 120 तक पहुँचा दी। हिन्दी में डॉ॰ नगेन्द्र तथा विद्यावाचस्पति रामदहिन मिश्र ने संतुलित वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इनमें रामदहिन मिश्र का वर्गीकरण सर्वाधिक सुचिन्तित एवं समावेशी बन पड़ाहै।

अलंकार काव्य का नित्य धर्म है या अनित्य – इसको लेकर आचार्य दो खेमों में बँट गए। भामह, अग्निपुराणकार, जयदेव प्रभृति अलंकार को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं तो मम्मट आदि अनित्य धर्म। निष्कर्ष यह निकला कि अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाला अनित्य मगर महत्त्वपूर्ण धर्म है। अलंकार का मूल हेतु अतिशयता है जो काव्य की उत्कर्ष-विधायिनी शक्ति है।

4.1.4 बोध-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भरत ने अलंकारों की संख्या मानीहै –
   (क) 2
   (ख) 3
   (ग) 4
   (घ) 5

2. अग्निपुराणकार ने अलंकारों को कितने वर्गों में बाँटा है?
   (क) 2
   (ख) 3
   (ग) 4
   (घ) 5

3. आचार्य उद्भट ने अलंकारों को कितने वर्गों में विभक्त किया है?
   (क) 2
   (ख) 3
   (ग) 4
   (घ) 5

4. यह किसका कथन है ? – "अलंकार विहीना सरस्वती विधवा की भाँति होती है।"
   (क) भामह का
   (ख) अग्निपुराणकार का
   (ग) जयदेव का
   (घ) किसी का नहीं

5. अलंकार के मूल हेतुओं की संख्या कितनी मानी गई है?
   (क) 3
   (ख) 4
   (ग) 5
   (घ) 6

6. 'अलंकार काव्य का नित्य धर्म है' – यह किसकी मान्यता है ?
   (क) जयदेव की
   (ख) मम्मट की
   (ग) आनन्दवर्धन की
   (घ) किसी की नहीं

7. 'वक्रोक्ति' को अलंकारत्व का मूल हेतु किसने माना है?
   (क) भामह ने
   (ख) दण्डी ने
   (ग) कुन्तक ने
   (घ) आनन्दवर्धन ने

टिप्पणी लिखिए –

1. अनलंकृती पुनः क्वापि
2. भोज की अलंकार-विषयक धारणा
3. 'सौन्दर्यमलंकारः'
4. अर्थश्लेष
5. उपमा-प्रपंच
7. हिन्दी में प्रयुक्त पाश्चात्य

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अलंकार को परिभाषित करते हुए इसके विविध भेदों पर प्रकाश डालिए।
2. हिन्दी में अलंकार की क्या स्थिति रही है ? स्थिति से अवगत कराइए।
3. काव्य में अलंकार के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
4. अलंकार को लेकर आचार्यों की क्या स्थापनाएँ रही हैं ? समझाकर लिखिए।
5. 'अलंकार काव्य का नित्य धर्म है या अनित्य' ? युक्तियुक्त उत्तर लिखिए।

4.1.5 कठिन शब्दावली

शब्द	:	अर्थ
मण्डन	:	शोभाकरण, सौन्दर्यीकरण
शोभनीय	:	शोभा के योग्य
नित्य	:	स्थायी
अनित्य	:	अस्थायी
रसोत्कर्षक	:	रस का उत्कर्ष करने वाला, अर्थात् बढ़ाने वाला
स्तोक	:	थोड़ा
दाहकता	:	गर्मी / उष्णता
संहति	:	सुमेल
प्रहेलिका	:	पहेली
वचो-भंगी	:	कथन-भंगिमा कहने की शैली
विमुग्धता	:	विशेष रूप से मोहित होने का भाव

4.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. मम्मट (2001). काव्यप्रकाश. वाराणसी. चौखम्भा विद्याभवन. पृ. क्र.: 19-60
2. कविराज, वि. (2014). साहित्यदर्पण: वाराणसी. मोतीलाल बनारसीदास. पृ. क्र.: 273
3. सिंह, रा. (1970). आचार्य मम्मट और काव्य प्रकाश. लखनऊ. प्रकाशन केन्द्र. पृ. क्र.: 34-56
4. सिंह, यो. प्र. (2006). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन. पृ. क्र.: 188-217
5. सिंह, वि. (1999). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. जयभारती प्रकाशन. ISBN : 81.8595.24-X. पृ. क्र.: 122-132
6. अग्रवाल, नि. (2006). भारतीय काव्यशास्त्र. इलाहाबाद. लोकभारती प्रकाशन. पृ. क्र.: 89-102
7. मिश्र, रा. (1998). काव्यदर्पण. पटना. भारतीय भवन. पृ. क्र.: 15-37

❖❖❖

खण्ड – 5 : गुण सिद्धान्त

इकाई – 1 : गुण : स्वरूप-विवेचन, काव्य-गुण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

5.1.0 उद्देश्य कथन
5.1.1 गुण की परिभाषा
5.1.1.1 संस्कृत आचार्यों की परिभाषाएँ
5.1.1.2 हिन्दी आचार्यों की परिभाषाएँ
5.1.2 गुण के भेद
5.1.2.1 माधुर्य गुण
5.1.2.2 ओज गुण
5.1.2.3 प्रसाद गुण
5.1.3 गुण और उसके समानान्तर मत
5.1.3.1 गुण और दोष
5.1.3.2 गुण और रीति
5.1.3.3 गुण और अलंकार
5.1.3.4 गुण और रस
5.1.3.5 गुण और शैली
5.1.4 पाठ-सार
5.1.5 बोध प्रश्न
5.1.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची
5.1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

5.1.0 उद्देश्य कथन

i. गुण काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। गुण के बिना कविता प्राणरहित रह जाती है। प्रस्तुत पाठ में गुण का विवेचन है।
ii. गुण के स्वरूप, उपादेयता और उसके प्रभेदों का विवेचन भी प्रस्तुत पाठ में है।
iii. गुण के साथ साम्य अथवा वैषम्य रखनेवाले अन्य सिद्धान्तों की चर्चा भी प्रस्तुत पाठ में है।

5.1.1 गुण की परिभाषा

किसी वस्तु या शब्द की विशेषता और व्याप्ति निश्चित करने वाला निरूपण परिभाषा है। अपेक्षा की जाती है कि परिभाषा में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति न हो। तभी परिभाषा लक्ष्य वस्तु या शब्द के सम्पूर्ण वैशिष्ट्य को उजागर करती है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र से अब तक गुण का स्वरूप विश्लेषण आचार्य करते रहे हैं। इसी

कारण गुण की कई परिभाषाएँ उपलब्ध हैं जिनसे गुण के स्वरूप और महत्त्व के संकेत मिलते हैं। इन परिभाषाओं से यह भी इंगित होता है कि गुण कविता के किन स्तरों पर प्रासंगिक हैं।

5.1.1.1 संस्कृत आचार्यों की परिभाषाएँ

भारतीय शास्त्र चिन्तन के आदिआचार्य भरत गुणों के सर्वप्रथम वर्णनकर्त्ता रहे हैं। भरत ने गुणों को काव्य दोषों का विपर्यय कहा था और काव्य की शोभा में वृद्धि करने वाले अनिवार्य कारण के रूप में गुण की विवेचना की थी। अपने विश्लेषण में आचार्य भरत ने गुणों को अभावात्मक मानकर दोषों का विपर्यय माना है –

एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।

– (नाट्यशास्त्र, 17/95)

विपर्यय का वास्तविक अर्थ क्या है ? इसके तीन अर्थ किये गए हैं – अभाव, अन्यथा भाव और वैपरीत्य। अभिनव गुप्त ने भरत के विपर्यय शब्द का अर्थ विघात या अभाव ग्रहण किया है। उनके अनुसार दोष का अभाव ही गुण है। परवर्ती आचार्यों ने दोष के अभाव को गुण माना है – "महान् निर्दोषता गुणः।"

गुण का लक्षण सबसे पहले वामन ने किया है। उनके अनुसार –

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः।

– (काव्यालंकार सूत्र – 3 / 11)

अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं। शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं। गुण नित्य हैं – उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती है। पूर्व आचार्यों भरत और भामह की तरह वामन ने गुणों को रसाश्रित अथवा अलंकारों का हिस्सा नहीं माना। वामन ने रीति के विधायक गुण पर विस्तार से विचार किया और उसे काव्य में सौन्दर्य उपस्थित करने वाले महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में रेखांकित किया। वामन ने भी गुण की कोई सुचिन्तित परिभाषा नहीं देकर काव्य में उसके कार्य और उपादेयता पर विचार किया है। वामन के अनुसार, गुण के बिना काव्य सुशोभित नहीं होता। वामन के बाद भी गुण की परिभाषाएँ आचार्यों ने दी हैं। जैसे – आनन्दवर्धन ने गुणों को स्वतन्त्र न मानकर रस के आश्रित माना है। आनन्दवर्धन के अनुसार जो तत्त्व उस प्राणभूत अंगी (रस) के आश्रित रहने वाले हैं उनको गुण कहते हैं। ध्वनिकार ने इन्हें आत्मभूत के धर्म माना है, शरीरभूत शब्दार्थ के नहीं। उनके अनुसार –

तमर्थमवलम्बन्ते येऽगिंनन्ते गुणाः स्मृताः।

– (ध्वन्यालोक, 2 / 6)

जिस तरह मनुष्य के शरीर में शौर्य आदि गुणों की स्वाभाविक स्थिति होती है, वैसे ही कविता में रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले धर्म को गुण कहा जाता है। 'अग्निपुराण' में कहा गया है कि किसी रमणी के शरीर पर स्वाभाविक सौन्दर्य आदि गुणों के अभाव में जिस तरह हार आदि आभूषण भार स्वरूप प्रतीत होते हैं वैसे ही अलंकारों से युक्त होकर भी काव्य गुण के अभाव में आनन्द का प्रदाता नहीं हो सकता। भोजराज ने गुण को उत्कृष्टतर बताते हुए अलंकार युक्तकाव्य को गुण के बिना आनन्दरहित माना है –

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकार योगयः॥

– (सरस्वतीकण्ठाभरणम्, 2 / 22)

दोष न रहते हुए भी गुणों के अभाव में काव्य के शब्द और अर्थ शोभा का प्राकट्य नहीं कर सकते। इसी कारण गुण को काव्य रस का उत्कर्षक कहा गया है। गुण को काव्य का प्राण मानने वाले दण्डी ने यह भी स्वीकार किया है कि अलंकार आदि के समान गुण भी कविता के अंगाश्रित तत्त्व हैं। रस के साथ गुण का तादात्म्य अधिक प्रत्यक्ष है और अलंकारों के घटाटोप में भी गुण रस का उपकार करते रहते हैं। मम्मट ने इसी मत को स्पष्ट किया है –

ये रसस्यांगिनों धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवः ते स्युः अचल स्थितयो गुणाः॥

– (काव्यप्रकाश, 8 / 66)

आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी अचल-स्थिति धर्म गुण कहलाते हैं।

विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने अधिकतर आनन्दवर्धन के मत को माना है। मम्मट ने इस बारे में स्पष्ट करते हुए कहा है – जो अंगीभूत रस (आत्मा) के उत्कर्षकारी नित्य धर्म हैं और उस आत्मा का शौर्यादि-गुणों की भाँति उत्कर्ष हेतु हैं तथा जिनकी स्थिति अचल है वे गुण हैं। विश्वनाथ आदि ने प्रायः इस लक्षण को दुहराया है। केवल पण्डितराज जगन्नाथ इसके अपवाद हैं। उन्होंने गुण को रस का धर्म न मानकर शब्दार्थ का ही धर्म माना है।

स्पष्ट है कि गुण को रीति (शैली), रस, अलंकार, शब्दार्थ के आलोक में परिभाषित-विवेचित करने वाले भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने गुण के स्वरूप की बहुविध चर्चा की है।

5.1.1.2 हिन्दी आचार्यों की परिभाषाएँ

हिन्दी के मध्यकालीन आचार्यों ने अधिकतर रस, अलंकार, नायिका भेद पर ही ध्यान केन्द्रित किया। उनके यहाँ गुण-चर्चा अत्यल्प मिलती है लेकिन आधुनिक काल के काव्यशास्त्री इस दिशा में सक्रिय हुए।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने गुण की परिभाषा दी है–

"जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण है और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।" – (काव्यकल्पद्रुम, भाग-1, पृष्ठ 327)

इस परिभाषा में रस का उत्कर्षक गुण को बताया गया है। जहाँ रस रहता है, वहाँ गुण निश्चय ही रस का उपकार करते हैं।

इसी तरह रामदहिन मिश्र ने भी गुण को रस की उत्कृष्टता प्रदान करने वाला बताया है–

"जो रस के धर्म हैं और जिनकी स्थिति रस के साथ अचल है, वे गुण हैं।" – (काव्य दर्पण, पृष्ठ 399)

जैसे शरीर में व्याप्त वीरता आदि गुणों को आत्मा प्रकाशित करती है, वैसे ही काव्य में रहने वाले रस को गुण ऊँचाई प्रदान करते हैं। रामदहिन मिश्र ने गुण को रस के साथ अभिन्न बताया है। गुण रस के बिना नहीं रहते हैं और रस की संगति में उसका उपकार अवश्य करते हैं।

देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भी गुण और रस को अनित्य घोषित किया है – "रस के नित्य धर्म को गुण कहते हैं। रस काव्य की आत्मा है किन्तु रस की निष्पत्ति के लिए गुण अनिवार्य है।" – (काव्य के तत्त्व, पृष्ठ 39)

डॉ॰ नगेन्द्र के मतानुसार – "गुण काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्त्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।" – (भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 46)

डॉ॰ नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है कि गुण रस के नित्य साधक धर्म हैं। वे रस का उत्कर्ष करते हैं और प्रधानतया भावात्मक होते हैं।

गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ के माध्यम से कविता में उपस्थित होने वाले गुण अस्तित्व रस की सौन्दर्य वृद्धि करते हैं। जैसे व्यक्तित्व के अंतरंग और बाह्य रूप परस्पर जुड़े होते हैं वैसे ही गुण रस और शब्दार्थ से एक साथ सम्बद्ध होते हैं। निष्कर्षतः काव्योत्कर्ष के साधक ऐसे तत्त्व को गुण कहा जा सकता है जो प्रधानतया रस और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।

5.1.2 गुण के भेद

गुणों की संख्या के बारे में पर्याप्त मतान्तर हैं। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में दस प्रकार के गुणों का उल्लेख किया है –

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः, माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च, कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥

– (नाट्यशास्त्र, 16 / 92)

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में 'नाट्यशास्त्र' द्वारा स्वीकृत श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति नामक दस गुणों को स्वीकृति दी है। इन दस गुणों का स्वरूप है –

01. श्लेष : शब्द और अर्थ की संश्लिष्ट योजना श्लेष गुण है। समासयुक्त पदों की रचना और अनेक अर्थों का एकत्र गुम्फन क्रमशः शब्दगत और अर्थगत श्लेष की विशेषता है। श्लेष को शब्दालंकार की मान्यता प्राप्त है।
02. प्रसाद : सुबोध और स्पष्ट शब्द-अर्थ का प्रयोग प्रसाद गुण है। जिन शब्दों को सुनते ही अनायास अर्थ का बोध हो जाय वैसे शब्द-अर्थ में प्रसाद गुण माना जाता है।
03. समता : पद-बंध की आद्यन्त एकरूपता समता गुण है। अर्थगत समता में अर्थ की सुगमता अपेक्षित मानी गयी है जो अर्थगत प्रसाद का भी लक्षण है। बंध में सर्वत्र सुगम अर्थ का होना अर्थ की समता है।
04. माधुर्य : मधुर अर्थात् श्रुति-सुखद पदावली की योजना शब्दगत माधुर्य गुण है, तो उक्ति का वैचित्र्य अर्थगत माधुर्य गुण।
05. सुकुमारता : कोमल वर्णों की संघटना, सुखपूर्वक उच्चरित होने वाले कोमल शब्दों का प्रयोग शब्दगत सुकुमारता गुण है और कोमल अर्थ का वर्णन अर्थगत सुकुमारता। अधिकांश आचार्य सुकुमारता को केवल शब्दगत गुण मानते हैं।
06. अर्थव्यक्ति : अर्थ को स्फुट रूप में झट से प्रतीत करा देने का शब्द का गुण शब्दगत अर्थव्यक्ति कहलाता है। इसकी प्रकृति प्रसाद गुण से मिलती-जुलती है। वस्तु के स्वभाव का स्फुट वर्णन अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण माना गया है।
07. उदारता : भव्य और विचित्र अर्थों से युक्त होना उदारता की विशेषता है। शब्दगत उदारता में सभी वर्ण एक-दूसरे से गुँथ कर नृत्य करते-से जान पड़ते हैं। अर्थगत उदारता में आशय का उत्कर्ष रहता है।
08. ओज : पदों की दीर्घ समास बंध की गाढ़ता अर्थात् वर्णों की संश्लिष्ट योजना में शब्दगत ओज गुण माना जाता है। अर्थ की प्रौढ़ता अर्थगत ओज का लक्षण है।
09. कान्ति : बंध की उज्ज्वलता अर्थात् उसमें रचना की नवीनता शब्दगत कान्ति गुण है। रस-घनिष्ठ उक्ति में अर्थगत कान्ति गुण माना जाता है।

10. समाधि : आरोह और अवरोह के क्रम को शब्दगत समाधि गुण माना गया है। अर्थगत समाधि में एक वस्तु के धर्म का अन्य वस्तु पर आरोप किया जाता है। मानवीकरण आदि समाधिगुण के अन्तर्गत ही हैं।

दण्डी ने इन दस गुणों को वैदर्भ मार्ग (रीति) का प्राण कहा है। कुन्तक ने दो प्रकार के गुणों की योजना अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में की है – साधारण और असाधारण गुण। गुणों के वर्गीकरण के क्रम में वामन ने दण्डी द्वारा मान्य गुणों को ही प्रायः व्यवस्थित रूप दिया है। दण्डी ने गौड़ी मार्ग के लिए गुण-विपर्यय की बात कही थी जिसे वामन ने व्यर्थ की पक्षधरता मानकर निषेध किया है। वामन ने दण्डी द्वारा प्रस्तुत गुणों के सामान्य लक्षण का भी परिष्कार किया है। वामन ने रीतियों के विभाजन तत्त्व के रूप में ही गुणों को विशिष्ट नहीं माना अपितु इस रूप में भी विशिष्ट माना है कि वे काव्य के नित्य शोभाधायक धर्म हैं। वे उपमादि अलंकारों की भाँति काव्य के अनित्य धर्म नहीं हैं।

वामन ने श्लेषादि दस गुणों को शब्दगत और अर्थगत भेद से दो रूपों में स्वीकार किया है। जैसे भरत ने श्लेष गुण के शब्दगत और अर्थगत लक्षण कर दिए थे वैसे ही उनसे प्रेरणा लेकर वामन ने गुणों की संख्या बीस कर दी जो पहले शब्दगत और फिर अर्थगत रूप में क्रमशः कहे गए हैं।

शब्द गुण : ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, कान्ति, अर्थव्यक्ति।

अर्थ गुण : ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, कान्ति, अर्थव्यक्ति।

इन गुणों के अर्थगत भेद भी इसी प्रकार स्वीकार किए गए। इस प्रकार वामन शब्द की श्रुति-मात्र सुखदता से लेकर अर्थ के वाच्य तथा व्यंग्य रूपों मे गुणोंका अधिकार क्षेत्र मानते हैं। जैसे – माधुर्य के उक्ति-वैचित्र्य में व्यंग्य सृष्टि; ओज, श्लेष आदि में वाच्यार्थ का चमत्कार और कान्ति नामक गुण में पूरा रस-चक्र खींच लिया गया है।

वस्तुतः वामन ने भरत और दण्डी द्वारा प्रतिपादित दस गुणों को ही शब्द गुण और अर्थगुण में विभाजित कर उनके बीस प्रकार सूचित किए। भोजराज ने गुणों की संख्या चौबीस तक पहुँचा दी। उन्होंने पहले चौबीस गुणों की परिकल्पना कर प्रत्येक के चौबीस-चौबीस उपभेद बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक रूपों में की है। इस तरह भोजराज के अनुसार गुणों की संख्या बहत्तर है। 'अग्निपुराण' में गुणों की संख्या अट्ठारह बतलायी गई है तो कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवितम्' में छह गुण सूचित किये गए हैं। गुणों की संख्या के विस्तार और विवाद का समीकरण भामह ने बहुत पहले किया था और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद तीन गुणों को ही मान्यता दी थी। कालान्तर में आनन्दवर्धन ने इन्हीं तीन गुणों को सुव्यवस्था दी और मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ जैसे परवर्ती आचार्यों ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद को ही गुणवत् स्वीकार किया है। हिन्दी के मध्यकाल में भी अधिकांश कवि-आचार्यों ने इन्हीं तीन गुणों को अपनाया है। चिन्तामणि से लेकर आधुनिक आचार्यों तक यही मत स्वीकृत है। गुणरहित काव्य की कल्पना उत्तर आधुनिक समीक्षक भी नहीं करते। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का साहचर्य कविता में शब्द के प्रभाव एवं अर्थ की दीप्ति का संवर्धन करताहै।

5.1.2.1 माधुर्य गुण

जिस काव्य की रचना से अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाय वहाँ माधुर्य गुण होता है। कविता में माधुर्य गुण के समावेश के कारण शृंगार और ऐसे ही चित्ताकर्षक रसों की प्रस्तुति में आकर्षण का समावेश होता है। इसमें मधुरता व्यंजक शब्दों और वर्णों का विनियोग किया जाता है ताकि कविता की पंक्तियों से गुजरते समय लगातार रसात्मकता और मधुरता का परिबोध होता रहे। स्वभावतः माधुर्य गुण में सानुनासिक वर्णों और छोटे-छोटे सामासिक वर्णों का समावेश किया जाता है। इसमें ट वर्ग जैसे कठोर वर्णों और लम्बे सामाजिक पदों का निषेध किया जाता है। इसमें संयुक्ताक्षर प्रायः नहीं होते और पदलालित्य पर ध्यान दिया जाता है। निराला की इस सरस्वती वन्दना में माधुर्यगुण की मधुरता है–

वर दे वीणावादिनी ! वर दे।
नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर नव स्वर दे।

– (निराला रचनावली, भाग-1, पृष्ठ 74)

इसी तरह 'रामचरितमानस' की इन चौपाइयों में शृंगार रस की उद्भावना के लिए माधुर्य गुण का उपयोग तुलसीदास ने किया है–

कंकन किंकिनी नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥

– (रामचरितमानस, बालकाण्ड, 1-2/230)

चित्त को आर्द्र-तरल बनाने वाला माधुर्य गुण शृंगार, करुण, शान्त रसों में चित्त को द्रवित करता है। यह गुण कोमलकान्त पदावली में मधुरता की व्यंजना करता है।

5.1.2.2 ओज गुण

जिस काव्यगुण के कारण चित्त में स्फूर्ति एवं मन में तेज उत्पन्न हो उसे ओज कहा गया है। ओजपूर्ण कविता के श्रवण मात्र से मन में जोश और आवेग का संचार हो जाता है। इसी कारण वीर, वीभत्स और रौद्र जैसे रसों के लिए ओजगुण की ही योजना की जाती है। वक्र अर्थ वाले लम्बे सामासिक पदों और कठोर वर्णों से बने काव्य द्वारा ओज गुण की प्रस्तुति की जाती है। इसी कारण स्फूर्तिदायक एवं वीरभावना को उदित करने वाली सारी पंक्तियाँ ओजगुण के उदाहरण स्वरूप रखी जा सकती हैं। ओजगुण की प्रस्तुति के लिए कवि संयुक्ताक्षरों का उपयोग करते हैं और माधुर्य गुण के विपरीत ट वर्ग के वर्ण प्रयुक्त होते हैं। समासबहुल ओज गुण का उद्देश्य ही

उत्साह एवं आवेग का विस्तार है। ओजगुण की प्रस्तुति 'रामचरितमानस' में राम की सेना के इस प्रयाण-वर्णन में हुई है –

चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।
मन हरष सभ गन्धर्ब सुरमुनि नाग किन्नर दुख टरे॥
कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुन गन गावहीं॥

– (रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, छन्द 1/35)

'चन्द्रगुप्त' नाटक में जयशंकर प्रसाद ने इस प्रयाण गीत में भी ओज गुण का आवाहन किया है –

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता पुकारती–
अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है– बढ़े चलो – बढ़े चलो!
असंख्य कीर्त्ति-रश्मियाँ, विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धु में– सुवाड़वाग्नि-से जलो!
प्रवीर हो जयी बनो – बढ़े चलो, बढ़े चलो!

– (चन्द्रगुप्त, अंक 4, दृश्य 6)

ऐसी ओजगुण सम्पन्न पंक्तियाँ रीतिकालीन कवि भूषण और हमारे समय के कवि दिनकर के यहाँ भी हैं। वस्तुतः वीरकाव्य की तो यह आत्मा ही है। इसीलिए आचार्यों ने चित्त के दीप्तिकारक एवं प्रतापसूचक गुण को ओज कहा है।

5.1.2.3 प्रसाद गुण

'साहित्य दर्पण' में विश्वनाथ ने परिभाषा दी है कि सूखे ईंधन में अग्नि के सदृश या धुले हुए वस्त्र में जल की भाँति जो गुण तत्काल चित्त में व्याप्त हो जाय, वह सभी रसों और सभी रचनाओं में व्याप्त रहने वाला गुण प्रसाद है। यह गुण ऐसा सरल और सुबोध अर्थ व्यंजक होता है कि पंक्तियों से गुजरते ही कविता का सारा अभिप्रेत साकार हो जाता है। निराला की प्रसिद्ध कविता 'भिक्षुक' की इन पंक्तियों के प्रसाद गुणत्व में किसे सन्देह हो सकता है –

वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को,
मुँहफटी पुरानी झोली को फैलाता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता ।

– (निराला रचनावली, भाग - 1, पृष्ठ 76)

प्रसाद का शाब्दिक अर्थ है प्रसन्नता । इस गुण के लिए स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता अत्यन्त आवश्यक है । यह गुण ऐसा रसधर्म है जो सामाजिक के हृदय में भाव अथवा अर्थ को शीघ्र व्याप्त कर देता है । इसका कारण है कि प्रसाद गुण के लिए न तो वर्ण संघटना की कोई वर्जना है और न इसकी कोई सीमा है । सभी रसों और सभी स्थितियों की वर्णना में प्रसाद गुण तत्काल अर्थ प्रेषण करता है, इसका उदाहरण 'रामचरितमानस' का यह दोहा भी है –

लताभवन ते प्रकट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ॥

– (रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा- 232)

प्रसाद गुण से ओतप्रोत रचना के पढ़ने-सुनने से चित्त के आनन्द का विस्तार होता है । बहुत तीव्रता से मन पर छा जाने वाले इस गुण के अभाव में न तो रस की व्यंजना सम्भव होती है और न अलंकार अपना प्रभाव दिखाते हैं । प्रसाद अर्थबोध की सहजता का गुण है, इसमे सन्देह नहीं ।

5.1.3 गुण और उसके समानान्तर मत

गुण के बारे में किसी निश्चित सीमा का निर्धारण रस और अन्य कई समानान्तर तत्त्वों पर आश्रित है । इसीलिए आचार्य भरत, दण्डी और वामन द्वारा प्रतिपादित दस गुणों से लेकर समकालीन साहित्यशास्त्र में मान्य तीन गुणों तक साहित्य चिन्तन के विभिन्न नए-पुराने सिद्धान्तों की समानान्तर चर्चा होती रही हैं । गुण-चर्चा न तो इन मतों से असम्पृक्त है और न इन विचारधाराओं के बिना गुणों की व्याख्या सम्भव है ।

5.1.3.1 गुण और दोष

'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत ने गुण की व्याख्या दोषों के विपर्यय के रूप में की है –

एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ।

– (नाट्यशास्त्र, 17 / 95)

भरत ने 'विपर्यय' को अभाव, अन्यथा भाव और विपरीतता के अर्थ में स्वीकार किया है। बाद में ध्वनि सम्प्रदाय के अभिनव गुप्त ने भरत के 'विपर्यय' शब्द का अर्थ विघात या अभाव बताया। उनके अनुसार दोष का अभाव ही गुण है। इस तरह गुण शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म हैं जबकि इनके बिना काव्य में दोष उपस्थित होते हैं। आचार्य भरत ने जब महान् निर्दोषिता को काव्य गुण की संज्ञा दी थी तभी उनके सामने यह भी स्पष्ट था कि दोष रहित काव्य-सृजन कविता की सबसे पहली शर्त है। भामह ने अधिक सतर्कता दिखाते हुए लिखा है कि काव्य-सृजन न करना कोई अधर्म या दण्डदायक अपराध नहीं है लेकिन सदोष काव्य की रचना करना तो साक्षात् मृत्यु है। दण्डी ने भी स्वीकार किया है कि जिस प्रकार सुन्दर शरीर पर श्वेत कुष्ठ के एक ही दाग से सारी शोभा विनष्ट हो जाती है उसी प्रकार कविता किसी एक दोष के व्युत्पन्न हो जाने से ही अपकर्ष को प्राप्त हो जाती है। काव्य में दोषों की अनुपस्थिति को कविता की आरम्भिक अनिवार्यता के रूप में सभी शास्त्रकारों ने मान्यता दी है। मम्मट ने तो काव्य की परिभाषा में ही दोषों का विरोध किया है –

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि।

– (काव्यप्रकाश, 1 / 4)

इस परिभाषा में काव्य को दोषहीन और गुणयुक्त कहा गया है। मम्मट का मत यही है कि सत्कवि दोषों का प्रयोग नहीं करते। अच्छी कविता का लक्षण यही है कि उसमें दोषों का परिहार हो और गुणों का आवाहन हो।

भरत ने गुणों को दोष का विपर्यय माना था तो वामन ने दोष को गुण का विपर्यय घोषित किया। इसमें सन्देह नहीं कि सभी आचार्यों ने काव्य में दोषों की उपस्थिति को निन्दनीय बतलाया है। केशवदास के अनुसार तो जिस प्रकार मदिरा की एक बूँद से गंगा जल से भरा हुआ घड़ा अपवित्र हो जाता है उसी प्रकार थोड़े से दोष से भी काव्य अग्राह्य हो जाता है। वास्तव में कविता का मुख्य संकल्प रस संचार द्वारा आनन्दोद्रेक करना है और कविता के रसोद्रेक एवं रस प्रतीति में व्याघात उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को दोष कहा गया है।

शब्द और अर्थ, रस और अलंकार को पाठकों-श्रोताओं तक पहुँचाने में कवि की सावधानी गुण के स्वीकार और दोष के अस्वीकार में निहित है। काव्य का अपकार करने वाले दोष हैं जबकि गुण काव्य का उपकार ही करते हैं। इसीलिए आचार्यों ने गुण और दोष को एक दूसरे केप्रतिरोध में रखा है।

5.1.3.2 गुण और रीति

गुण और रीति का अभिन्न सम्बन्ध है, क्योंकि रीति का उल्लेख गुणों की चर्चा के बिना सम्पूर्ण नहीं होता। भले ही आचार्य भरत ने दस गुणों की प्रारम्भिक चर्चा की और दण्डी ने 'काव्यादर्श' में पहली बार गुणों के साथ ही रीतियों का विवेचन किया लेकिन गुण और रीति के पारस्परिक तादाम्य का विश्लेषण वामन ने ही किया है।

वामन के अनुसार, "रीति का तात्पर्य है काव्य को सुन्दर बनाने वाले गुणों से निर्मित पद रचना।" गुण और रीति के समवाय सम्बन्धों के आधार पर वामन ने लिखा है –

विशिष्ट पदरचना रीतिः विशेषोगुणात्मा।

– (काव्यालंकार सूत्र, 1 / 2 / 6)

वामन ने गुणों को रीति का नित्य धर्म माना है। मीठेपन और शक्कर जैसा अभेद सम्बन्ध इनमें है। वामन ने बताया है कि वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तीनों ही रीतियों में गुण अवश्य रहते हैं। उत्तम काव्य के लक्षण को यही गुण परिपूर्ण करते हैं। इनके कारण ही प्रत्येक मार्ग, हर रीति का काव्य श्रेष्ठ बनता है। वैदर्भी रीति के बारे में तो वामन ने यहाँ तक कहा है कि उसमें सभी गुण होते हैं –

समग्रगुणा वैदर्भी।

– (काव्यालंकारसूत्र, 1 / 2 / 11)

गुणों की विशदता और गुणों की समग्रता के आधार ही रीतियाँ पहचान बताती हैं। इसी कारण वामन और परवर्ती रीतिकारों ने गुण और रीति की पारस्परिक अभिन्नता का बार-बार उल्लेख किया है। शब्द और अर्थ के सारे काव्य प्रयास यही सिद्ध करते रहे हैं कि रीति गुणाश्रित है और गुण रीति पर अवलम्बित हैं। गुण और रीति के कारण ही रचनाओं में साहित्यिकता का प्रवेश होता है। इसी स्तर पर साहित्यिक और साहित्येतर अभिव्यक्ति में अन्तराल लक्षित होता है।

5.1.3.3 गुण और अलंकार

अलंकार को काव्यशोभा का विधायक स्वीकारने वाले शास्त्रकारों ने बताया है कि अलंकरण की प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक आदत है और कविता अलंकाररहित हो ही नहीं सकती। काव्य की आकर्षण शक्ति के लिए अलंकारों की उपादेयता सभी आचार्यों ने मानी है। आभूषणों के द्वारा जैसे शारीरिक शोभा के उत्कर्ष और चित्त की प्रसन्नता का आवाहन होता है उसी तरह अलंकारों के द्वारा कविता के शब्द और अर्थ में चारुता का समावेश होता है। निश्चय ही अलंकार ऐसी शब्दोक्ति के रूप में कविता में साकार होते हैं जिनसे कविता का सम्पूर्ण स्वरूप और चरित्र विभामय हो जाता है। काव्य भाषा में प्राणवत्ता और आकर्षण उत्पन्न करने वाले अलंकारों को ही काव्य की आत्मा के रूप में विवेचित करना अलंकारवादियों का लक्ष्य रहा है।

संस्कृत में अलंकार शास्त्र का समारम्भ यास्क ने किया था क्योंकि उनके 'निरुक्त' में उपमा का लक्षण निरूपण उपलब्ध है। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों, पाणिनी के सूत्रों और अग्निपुराण के अध्यायों से गुजरता हुआ अलंकार सम्बन्धी विवेचन आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' के सोलहवें अध्याय में सुनिश्चित आकार ग्रहण कर सका है। अलंकार सम्प्रदाय को वास्तविक स्थापना देने का सम्पूर्ण श्रेय भामह को देना चाहिए जिन्होंने सातवीं

शताब्दी में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकार' द्वारा अलंकारों की काव्यगत महनीयता को रेखांकित किया। यहीं भामह ने गुणों की चर्चा भी की है और भरत द्वारा प्रतिपादित दस गुणों के स्थान पर पहली बार माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणत्रय का निरूपण किया । दण्डी को भामह के अनन्तर अलंकारशास्त्र का प्रमुख आचार्य माना गया है जिन्होंने अपने 'काव्यादर्श' में गुणों को भी अलंकार माना है लेकिन वामन ने गुण और अलंकार को एक दूसरे से भिन्न बतलाया।

वामन के अनुसार, अर्थगुणों का साम्राज्य बहुत विशाल है । इस साम्राज्य में अलंकार और रस स्वाभाविक तौर पर समा जाते हैं । इसीलिए वामन ने काव्य रचना में वैशिष्ट्य का प्रतिपादक गुण को बताया है, अलंकारों को नहीं । गुण और अलंकार दोनों ही काव्य का उत्कर्ष करते हैं लेकिन वामन जैसे आचार्य ने इनके बीच पार्थक्य को रेखांकित किया है। गुण रस के साथ नित्य रहते हैं जबकि अलंकार रसहीन काव्य में भी रहते हैं। गुण हमेशा रस का उपकार करते हैं जबकि अलंकार कभी-कभी रस के उपकारी भी बन जाते हैं इसीलिए गुण और अलंकार के बीच की दूरी वामन के अनन्तर बढ़ती गई ।

5.1.3.4 गुण और रस

किसी रचना का पाठ, श्रवण अथवा दर्शन जब चित्त के विभिन्न भावों के संयोग से आनन्द में परिणत हो जाता है तो इस परिणति को रस कहते हैं। कविता चाहे किसी विषय पर आधारित हो और किसी शैली में रची गयी हो, रस के बिना वह निर्जीव ही रहती है। काव्य की आत्मा के रूप में रस के महत्त्व को चर्चा का केन्द्र बनाने वाले आचार्यों ने इंगित किया है कि रस का उल्लेख प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अनेक अर्थों में होता आया है लेकिन साहित्य के सन्दर्भ में रस शब्द ब्रह्मानन्द सहोदर सुख का पर्याय बन गया है । राजशेखर के अनुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश के रस का प्रारम्भिक निरूपण किया था लेकिन आज न तो नन्दिकेश्वर के किसी रस विषयक ग्रन्थ का ही अस्तित्व है और न उनके एतद्विषयक किसी सिद्धान्त की ही जानकारी मिलती है। रस सम्बन्धी चिन्तन का विकास विभिन्न वैदिक सूत्रों और औपनिषदिक चर्चाओं से भी जुड़ा हुआ है, ऐसा कुछ अनुसन्धानकर्त्ताओं ने प्रतिपादित किया है। वैदिक ऋषियों को वाणी के माधुर्य और चमत्कार का ज्ञान था लेकिन 'महाभारत' और 'रामायण' के रचनाकाल तक अपने वर्तमान विशिष्ट अर्थ में रस का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना के पूर्व रस शब्द के विभिन्न अर्थों का विकास हुआ और भरत ने पहली बार रस की अप्रतिम सत्ता का सैद्धान्तिक विश्लेषण किया। इसके बाद ही रसों की विशद् व्याख्या करने वाले आचार्यों की परम्परा सामने आई जिसने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया लेकिन गुण और रस के अटूट सम्बन्धों को सबने स्वीकारा है। कन्हैयालाल पोद्दार ने गुण की यही परिभाषा दी है – "जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण हैं और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है वे गुण कहे जाते हैं।" – (काव्यकल्पद्रुम, भाग-1, पृष्ठ 327)

भामह के समय से ही गुण और रस का अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित हो गया था। दण्डी ने भी यही प्रतिपादित किया है कि रसयुक्त काव्य में गुण अनिवार्यतः रहते हैं। गुण को रस का उत्कर्षक घोषित करने का

कारण यही है कि इसमें दोष का अभाव है। किसी काव्य में रस का उत्कर्ष और प्रवाह तभी रहता है जब उसमें गुण ही गुण हों। गुण को काव्य की आत्मा रस के केन्द्रीय धर्म की प्रतिष्ठा सभी शास्त्रकारों ने की है। वामन ने तो अर्थगुण कान्ति में ही सभी रसों का समावेश किया है।

गुण नीरस काव्य में नहीं रहते हैं। रस के साथ गुण की संगति शब्द विन्यास और पद रचना तक सीमित नहीं होती है, गुण तो शब्द और अर्थ के समग्र प्रभाव को रस से जुड़कर मूर्त्त करते हैं। इसीलिए मम्मट ने कहा था कि गुण केवल वर्ण और पद रचना के आश्रित नहीं हैं, वे रस के धर्म हैं। गुण और रस का सीधा सम्बन्ध माना गया है। वे रस के साथ ही रहते हैं, उनसे अलग नहीं।

5.1.3.5 गुण और शैली

रीतिशास्त्री वामन के अनुसार काव्य की आत्मा है रीति और रीति की आत्मा है गुण। शब्द और अर्थ के नित्य धर्म के रूप में वामन ने गुण को स्वीकारा है। शब्दार्थ के इसी संयोजन को आनन्दवर्धन ने 'संघटना' कहा है और बाद में विश्वनाथ ने पदों की इसी संघटना को रीति कहा। शब्द और अर्थ की यह सुन्दर योजना गुणों के कारण साकार होती है। गुण की यही उपस्थिति उसे आधुनिक शैलीविज्ञान का विषय बनाती है।

शैली के अवयव के रूप में गुण की उपादेयता में कोई सन्देह नहीं। गुण के कारण रचना में प्रस्तुत वर्ण योजना, संघटना, अर्थविन्यास आदि की सारी विशिष्टताएँ शैली को ही साकार करती है। विचारों के परिधान के रूप में, अभिव्यक्ति की प्रणाली के रूप में और रचनाकार की स्वभावगत / निजी मौलिकता के रूप में गुण शैली का समर्थन करते हैं। गुण का शास्त्रीय अध्ययन लक्षित करता है कि हर रचनाकार अपनी रीति / शैली का पालन करता है। एक विशिष्ट शैली में गुणों का उपयोग श्रेष्ठ कवि की विशेषता है। शब्दकोशों में शब्द एकत्र हैं और उनके अर्थों का संकेत भी है। उन्हीं शब्दों और अर्थों को कवि अपनी शैली में काव्यगुणों के सहारे नई आभा से सम्पृक्त करते हैं। गुणसम्पन्न शैली परिचित शब्दों में भी नई स्फूर्ति का समावेश करती है। मम्मट ने इसी कारण सभी रचनात्मक गतिविधियों में गुण की उपस्थिति को अपरिहार्य कहा है –

प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति।

– (काव्यप्रकाश, 8 / 70)

प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान रहता है, ऐसा कहकर मम्मट ने गुण और शैली के सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को ही रेखांकित किया है। गुण और शैली का पारस्परिक सम्बन्ध सुनिश्चित है, क्योंकि शब्द और अर्थ की विलक्षण प्रस्तुति करने वाले काव्यगुण शैली के स्तर ही पहचाने जाते हैं।

5.1.4 पाठ-सार

रस को काव्य की आत्मा और अलंकारों को कविता का बाह्य शोभाकारी धर्म स्वीकारने वाले शास्त्रकारों ने गुण का उल्लेख रस और अलंकार दोनों के सन्दर्भ में किया है। आचार्य भरत ने गुणों को काव्य दोषों का विपर्यय कहा था और काव्य की शोभा में वृद्धि करने वाले अनिवार्य कारण के रूप में गुण रस के आश्रित रहने वाले हैं। जिस तरह मनुष्य के शरीर में शौर्य आदि गुणों की स्वाभाविक स्थिति होती है वैसे ही कविता में रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले धर्म को गुण कहा जाता है। 'अग्निपुराण' में कहा गया है कि किसी रमणी के शरीर पर स्वाभाविक सौन्दर्य आदि गुणों के अभाव में जिस तरह हार आदि आभूषण भार स्वरूप प्रतीत होते हैं। वैसे ही अलंकारों से युक्त होकर भी काव्य गुण के अभाव में आनन्द का प्रदाता नहीं हो सकता। भोजराज ने गुण को उत्कृष्टतर बताते हुए अलंकारयुक्त काव्य को गुण के बिना आनन्दरहित माना है। दोष न रहते हुए भी गुणों के अभाव में काव्य के शब्द और अर्थ शोभा का प्राकट्य नहीं कर सकते। इसी कारण गुण को काव्य रस का उत्कर्ष कहा गया है। गुण को काव्य का प्राण मानने वाले दण्डी ने यह भी स्वीकार किया है कि अलंकार आदि के समान गुण भी कविता के अंगाश्रित तत्त्व हैं। रस के साथ गुण का तादात्म्य अधिक प्रत्यक्ष है और अलंकारों के घटाटोप में भी गुण रस का उपकार करते रहते हैं।

गुणों की संख्या के बारे में काव्यशास्त्रियों के बीच प्रारम्भ से मतभेद रहा है। आचार्य भरत ने काव्यदोष के विपर्यय स्वरूप दस गुणों की प्रस्तावना की है – श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, औदार्य, कान्ति।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में भरत द्वारा प्रतिपादित इन्हीं दस गुणों को स्वीकृति दी है। वामन ने गुणों का अधिक स्पष्ट विवेचन करते हुए इनकी संख्या में विस्तार किया। उन्होंने इन दस गुणों को शब्द गुण और अर्थगुण में विभक्त कर कुल बीस गुणों की परिकल्पना की है। भोज ने यह संख्या चौबीस तक पहुँचा दी। उन्होंने पहले चौबीस गुणों की परिकल्पना कर प्रत्येक के चौबीस-चौबीस उपभेद, बाह्य, आभ्यान्तर और वैशिषिक रूपों में की है। इस तरह भोजराज के अनुसार गुणों की संख्या बहत्तरहै। 'अग्निपुराण' में गुणों की संख्या अट्ठारह बतलायी गई है तो कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' में छह गुण सूचित किये गए हैं। गुणों की संख्या के विस्तार और विवाद का समीकरण भामह ने बहुत पहले किया था और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद तीन गुणों को ही मान्यता दी थी। कालान्तर में आनन्दवर्धन ने इन्हीं तीन गुणों को सुव्यवस्था दी और मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ जैसे परवर्ती आचार्यों ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद को ही गुणवत् स्वीकार किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का अनुशीलन कई समानान्तर मतों से सम्बद्ध रहा है। दोष के विपर्यय के रूप में तो यह आदि आचार्य भरत के समय से ही चर्चित रहा है। कई शास्त्रकारों ने बताया है कि अलंकारों से विभूषित होने पर भी कविता गुण के बिना श्रीहीन होती है। इसी तरह रस के उत्कर्ष में गुण की भूमिका को सबने स्वीकारा है। वामन ने गुण और रीति के अविभाज्य सम्बन्ध को स्थापित किया है। इधर गुणों के

साथ शैली का तादात्म्य भी स्थापित किया गया है। इससे गुण की उपादेयता और प्रासंगिकता सिद्ध होती है। अच्छी कविता के लिए उसमें गुणों की उपस्थिति अपरिहार्य है।

5.1.5 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

01. 'उत्कर्ष हेतवः' पद किसके लिए प्रयुक्त है?
(क) काव्य-सौन्दर्य
(ख) काव्य गुण
(ग) काव्य हेतु
(घ) अलंकार

02. भरत ने कितने काव्यगुणों का उल्लेख किया है?
(क) आठ
(ख) दस
(ग) चार
(घ) सात

03. मम्मट के अनुसार काव्यगुणों की संख्या कितनी है?
(क) चार
(ख) बीस
(ग) तीन
(घ) दस

04. वामन के अनुसार अर्थगुणों की संख्या कितनी है?
(क) दस
(ख) बीस
(ग) आठ
(घ) चार

05. भोजराज के अनुसार काव्यगुणों की संख्या कितनी है?
(क) दस
(ख) अस्सी

(ग) तीस
(घ) बहत्तर

06. किस काव्यगुण में संयुक्ताक्षरों और समास का बाहुल्य होता है?
(क) प्रसाद
(ख) माधुर्य
(ग) ओज
(घ) समाधि

07. वामन के अनुसार किस रीति में सभी गुण एकत्र होते हैं ?
(क) वैदर्भी
(ख) पांचाली
(ग) गौड़ी
(घ) मैथिली

08. दण्डी ने गुणों का विवेचन किस ग्रन्थ में किया है ?
(क) काव्यालंकार
(ख) काव्यादर्श
(ग) व्यक्तिविवेक
(घ) दशरूपक

09. 'काव्यालंकारसूत्र' के रचयिता आचार्य कौन हैं ?
(क) मम्मट
(ख) विश्वनाथ
(ग) वामन
(घ) राजशेखर

10. 'काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मागुणाः' किसका कथन है ?
(क) विश्वनाथ
(ख) आनन्दवर्धन
(ग) भामह
(घ) वामन

लघु उत्तरीय प्रश्न

01. गुण और दोष में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
02. भामह ने गुण के किन भेदों का उल्लेख किया है ?
03. वामन ने गुण के किन भेदों का उल्लेख किया है ?
04. वामन ने गुण के कितने उपभेद बताए हैं ?
05. माधुर्य गुण की क्या विशेषता है?
06. ओज गुण की क्या विशेषता है ?
07. अलंकार का रस के साथ रहना कैसे नित्य नहीं है ?
08. गुण रस के साथ अनिवार्य रहते हैं, कैसे ?
09. काव्य का निर्दोष होना आवश्यक है अथवा गुणहीन होना आवश्यक है ?
10. गुण शब्दार्थ का उत्कर्ष करता है। कैसे ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

01. गुण की परिभाषाओं के आधार पर गुण का स्वरूप निर्धारित कीजिए।
02. गुण-चर्चा के काव्यशास्त्रीय विकास का परिचय दीजिए।
03. गुण के कितने भेद हैं ? एतद् विषयक मतों का परिचय दीजिए।
04. "गुण रस का उत्कर्ष करते हैं।" इस कथन का विश्लेषण कीजिए।
05. "गुण में सभी रसों का समावेश है।" कैसे ? इस सन्दर्भ में अपना मत दीजिए।
06. गुण और अलंकार का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कीजिए।
07. गुण शब्दार्थ का शोभावर्धन कैसे करते हैं ?
08. "गुण रचनाकार की शैली का विस्तार करते हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
09. गुण-चर्चा का ऐतिहासिक विकास-क्रम प्रस्तुत कीजिए।
10. गुण के बारे में आचार्य वामन की स्थापनाओं की मौलिकता का परिचय दीजिए।

5.1.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

01. हीरा, राजवंश सहाय (1973) भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पटना बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
02. उपाध्याय, बलदेव (1950) भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खण्ड वाराणसी, प्रसाद परिषद्
03. चौधरी, सत्यदेव चौधरी (1972) भारतीय काव्यशास्त्र, दिल्ली, अलंकार प्रकाशन
04. त्रिपाठी, राममूर्ति (1990) भारतीय काव्य विमर्श, दिल्ली, वाणी प्रकाशन
05. मिश्र, शोभाकान्त (2011, संस्करण-3) भारतीय काव्य-चिन्तन, पटना, अनुपम प्रकाशन

06. सिंह, बच्चन (1994, संस्करण-2) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, चण्डीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादेमी
07. मिश्र, शोभाकान्त (1966) काव्य गुणों का शास्त्रीय विवेचन, पटना, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
08. शर्मा, देवेन्द्रनाथ (1994, संस्करण-5) काव्य के तत्त्व, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन
09. तिवारी, बालेन्दु शेखर तिवारी (2015, संस्करण-3) वस्तुनिष्ठ काव्यशास्त्र, दिल्ली, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
10. मिश्र, भगीरथ (2008, संस्करण-6) काव्यशास्त्र, वाराणसी,विश्वविद्यालय प्रकाशन

5.1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. भरत (2001, संस्करण-5) नाट्यशास्त्र, वाराणसी, चौखम्भा विद्या भवन
02. वामन (1995, संस्करण-3) काव्यालंकारसूत्र, वाराणसी, चौखम्भा विद्या भवन
03. दण्डी (1990, संस्करण-2) काव्यादर्श, वाराणसी, चौखम्भा विद्या भवन
04. मम्मट (1995, संस्करण - 6) काव्यप्रकाश, वाराणसी, ज्ञानमण्डल
05. आनन्दवर्धन (1965, संस्करण -2) ध्वन्यालोक, वाराणसी ज्ञानमण्डल
06. भोजराज (1960, संस्करण-2) सरस्वतीकण्ठाभरणम्, वाराणसी, चौखम्भा विद्या भवन
07. तुलसीदास (2000, संस्करण - 89) रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर
08. नवल, नन्दकिशोर (1992, संस्करण-3) निराला रचनावली, भाग-1, सम्पादित, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
09. प्रसाद, जयशंकर (1992, संस्करण-14) चन्द्रगुप्त, दिल्ली, राजपाल एंड संस,
10. पोद्दार, सेठ कन्हैयालाल (1941, संस्करण-4) काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, आगरा, साहित्य रत्न भण्डार
11. उपाध्याय, बलदेव (1951) भारतीय साहित्यशास्त्र, वाराणसी, प्रसाद परिषद्
12. मिश्र, रामदहिन मिश्र (1947) काव्यदर्पण, पटना, ग्रन्थमाला कार्यालय

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 6 : रीति-सिद्धान्त

इकाई – 1 : रीति अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

6.1.0 उद्देश्य कथन
6.1.1 रीति का शब्दार्थ
 6.1.1.1 रीति शब्द की व्युत्पत्ति और शब्दार्थ
 6.1.1.2 रीति के समानार्थी शब्द
 6.1.1.3 रीति का केन्द्रीय अर्थ
6.1.2 रीति की परिभाषा
 6.1.2.1 संस्कृत आचार्यों की परिभाषा
 6.1.2.2 हिन्दी आचार्यों की परिभाषा
6.1.3 रीति का स्वरूप
 6.1.3.1 प्राचीन भारतीय मत
 6.1.3.2 आधुनिक भारतीय मत
6.1.4 पाठ-सार
6.1.5 बोध प्रश्न
6.1.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची
6.1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

6.1.0 उद्देश्य कथन

i. रीति कविता की नियमित सृजन पद्धति का दूसरा नाम है। किसी सुनिश्चित रीति पर चले बिना न तो सौन्दर्य आता है और न उसकी अपनी पहचान बनती है। प्रस्तुत पाठ में इसी रीति का विवेचन है।
ii. रीति के अनेक अर्थ सूचित हैं और शास्त्रकारों द्वारा कई दृष्टियों से रीति को परिभाषित भी किया गया है। प्रस्तुत पाठ में रीति के अर्थों और परिभाषाओं का परिचय दिया गया है।
iii. रीति के स्वरूप और महत्त्व के बारे में विभिन्न विचारधाराओं का आकलन भी प्रस्तुत पाठ में है।

6.1.1 रीति का शब्दार्थ

अपने प्रचलन के प्रारम्भिक काल से ही 'रीति' शब्द कई अर्थों को सूचित करने लगा। उसके कई पर्याय भी उपस्थित हुए। साहित्य शास्त्र और साहित्येतिहासों में इन अर्थों और समानार्थी शब्दों की पर्याप्त चर्चा हुई है।

6.1.1.1 रीति शब्द की व्युत्पत्ति और शब्दार्थ

'रीति' संस्कृत काव्यशास्त्र में स्वीकृत पारिभाषिक शब्द है। 'रीति' शब्द उस काव्यांग विशेष के लिए रूढ़ है जिसे कालान्तर में वामन ने काव्य की आत्मा घोषित कर स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। व्याकरण के स्तर पर गतिसूचक 'रीङ्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के संयुक्त होने पर 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति मानी गई। भोजराज ने 'रीति' की व्युत्पत्ति बतायी है –

रीङ् गताविति धातो धा व्युत्पत्त्या रीतिरूच्यते।

– (सरस्वतीकण्ठाभरणम्, 2 / 6)

इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'रीति' का अर्थ है गति, चलन, मार्ग, पंथ, वीथि, पद्धति, परम्परा, ढंग। भोजराज ने स्पष्ट शब्दों में 'रीति' को 'मार्ग' के अर्थ में ही स्वीकार किया है लेकिन लोक व्यवहार में 'रीति' का अर्थ मार्ग या पंथ प्रचलित होते हुए भी वामन ने इस शब्द को एक नई अर्थदीप्ति प्रदान की। वामन के अनुसार 'विशिष्ट पदरचना रीतिः' है। अपने सामान्यार्थ में रीति परम्परा या पद्धति का अर्थ-बोध कराते-कराते काव्य-परिपाटी या काव्य रचना-नियमों के अर्थ में भी हिन्दी में व्यवहृत हुई। हिन्दी के रीतिकाल और रीति-ग्रन्थों से यही अभिप्राय है परन्तु काव्यशास्त्र में रीति का व्यवहृत अर्थ वामन के रीति-सिद्धान्त या विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति पद्धति के रूप में ही प्रचलित रहा है, काव्य-सिद्धान्तों के व्यापक रूप में नहीं। इस नए अर्थ में वामन से पहले 'रीति' शब्द की व्याख्या नहीं मिलती। वास्तव में काव्यशास्त्रीय परम्परा में वामन ही पहले आचार्य है जिन्होंने रीति पर पर्याप्त प्रकाश डाला और उसका सही अर्थ बताने का श्रम उठाया। उन्होंने स्पष्ट किया – 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' उनकी दृष्टि में पद रचना की विशिष्टता का आधार गुण है – 'विशेषो गुणात्मा'। ये विशेष गुण ही पद रचना में अपेक्षित वैशिष्ट्य का समावेश करने में सहायक होते हैं। वैशिष्ट्य में ही गुणों का अन्तर्भाव रहता है। गुण-काव्य शोभा का विवर्द्धन करने वाले तत्त्व हैं। अतः वामन के अनुसार रीति का अर्थ हुआ – काव्यगत सौन्दर्य का अभिवर्द्धन करने वाली शब्दार्थ संवलित रचना। यहाँ शब्दार्थ के धर्म से वामन का तात्पर्य है शब्द और अर्थ का सौन्दर्य, वैशिष्ट्य या चमत्कार।

वामन से पूर्व दण्डी ने 'रीति' शब्द का प्रयोग 'मार्ग' के अर्थ में किया था। बाद में कुन्तक ने भी 'रीति' का प्राचीन नाम और अर्थ मार्ग या पंथ था लेकिन 'रीति' को सर्वथा नए अर्थ-सन्दर्भ में वामन ने प्रतिष्ठित किया। उन्होंने विशिष्ट पद रचना को, विशेष पदस्थापना को 'रीति' की संज्ञा दी।

कालान्तर में हिन्दी के मध्यकालीन आचार्य-कवियों ने 'रीति' शब्द को एक बार फिर मार्ग और पंथ के अर्थ में दुहराया। हिन्दी साहित्येतिहासों में इसी अर्थ में 'रीति' शब्द को परम्परा अथवा चलन कहा गया है लेकिन सिद्धान्त और काव्य-शास्त्र में काव्य की आत्मा के तौर पर 'रीति' शब्द का वामन प्रवर्तित अर्थ ही चर्चित है।

6.1.1.2 रीति के समानार्थी शब्द

साम्प्रत काव्यशास्त्रीय अर्थ में 'रीति' की जगह अब 'शैली' शब्द का प्रचलन है, लेकिन रीति के समानार्थी शब्दों की भारतीय काव्य-चिन्तन परम्परा में कमी नहीं रही है। 'रीति' शब्द को काव्यशास्त्रीय अर्थ में नवीं शताब्दी के आसपास वामन ने स्थापित किया लेकिन रीति का अस्तित्व किसी न किसी रूप में वामन से पूर्व भी था। इन समानार्थी शब्दों का इतिहास रीति-चिन्तन का इतिहास है।

आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'रीति' का उल्लेख नहीं किया है और 'रीति' के स्थान पर देशाधारित प्रवृत्तियों की चर्चा की है। भरत के अनुसार प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की हैं – आवन्ती, दक्षिणात्या, पांचाली, औड्रमागधी। भरत ने कौशिकी, आरभटी, सात्वती तथा भारती नामक चार वृत्तियों का भी उल्लेख किया है जिनका सम्बन्ध मुख्यतः नाट्य-प्रयोगों से है। इन मसृण और उद्धत प्रयोगों का सम्बन्ध क्रमशः कोमल और दीप्त रसों से माना गया है। स्पष्ट है कि रीति या गुण से इन वृत्तियों का सीधा सम्बन्ध नहीं है फिर भी रस-सम्प्रदाय में पीछे चल कर माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के मधुर, दीप्त स्वरूप की कल्पना कर उनका रस-भावन की विविध चित्तवृत्तियों से जो सम्बन्ध जोड़ा गया है उस पर भरत की इस वृत्ति-धारणा का प्रभाव माना जा सकता है। प्रारम्भ में 'प्रवृत्ति' शब्द की चर्चा के अनन्तर भरत 'प्रवृत्ति' को जैसे भूल गए और उन्होंने 'वृत्ति' पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। 'वृत्ति' को भरत ने सभी काव्य रचनाओं की माता कहा है –

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः।

– (नाट्यशास्त्र, 20 / 4)

इस तरह 'रीति' के प्रारम्भिक पर्याय 'प्रवृत्ति' और फिर 'वृत्ति' का उल्लेख भरत ने किया। भरत के बाद भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में 'वैदर्भ' और 'गौड़' दो काव्यदिशाओं का उल्लेख किया है जिन्हें रीति का पर्याय माना जा सकता है। इसके बाद दण्डी ने 'रीति' का उल्लेख किये बिना जिन मार्गों का विवेचन किया है, उनका स्वरूप रीतियों से अभिन्न है। दण्डी ने 'रीति' के समानार्थी 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। इसी 'मार्ग' शब्द को कुन्तक एवं आनन्दवर्धन ने भी अपनाया है लेकिन वामन ने पहली बार 'रीति' शब्द का उपयोग किया। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन ने गुणों को रीति का विधायक कहा है। वे गुणों से निर्मित विशिष्ट पद रचना को रीति मानते हैं। आदिआचार्य भरत की 'प्रवृत्ति' और 'रीति', दण्डी के 'मार्ग' द्वारा 'रीति' वामन के पहले ही प्रतिपादित हो चुकी थी, लेकिन वामन ने ही इसे 'रीति' का नाम देकर काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित किया।

वामन ने रीति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए रीति को पद रचना मानते हुए गुणों को उसका मूल तत्त्व माना है। उनके गुण शब्द सौन्दर्य और अर्थ सौन्दर्य दोनों के ही प्रतीक हैं। इसे लक्षित करते हुए आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने रीति के इन समानार्थी शब्दों पर विस्तार से विचार किया है। आनन्दवर्धन ने गुण और संरचना के बारे में कहा है कि संरचना गुणों का आश्रय लेकर रहती है और रस को प्रस्तुत करती है। इस सन्दर्भ में उन्होंने गुण और संरचना की तीन स्थितियों की चर्चा की है –

1. संरचना और गुण एक ही हैं।
2. संरचना गुण पर आश्रित है।
3. गुण संरचना पर आश्रित हैं।

इसी स्तर पर आनन्दवर्धन ने संरचना और गुण का पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित किया है। बाद में मम्मट ने भी 'वृत्ति' शब्द का उपयोग करते हुए बताया कि वृत्तियों का सम्बन्ध वर्णों से है जो गुण की व्यंजना करते हैं। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा का गौरवशाली स्थान दिया था लेकिन मम्मट ने वृत्तियों को शब्दालंकार मानकर ही अपनाया है। वामन के अनुसार रीतियाँ शब्द और अर्थ पर आश्रित हैं जबकि मम्मट ने वृत्तियों को सिर्फ शब्दालंकार ही माना है। बाद में विश्वनाथ ने भी रीति और वृत्ति पर अलग-अलग विचार किया। उन्होंने भरत की तरह वृत्ति-धारणा को स्वीकारा। मम्मट ने जिस अर्थ में 'वृत्ति' का विवेचन किया, उसी अर्थ में विश्वनाथ ने 'रीति' का विवेचन किया। उनकी मान्यताओं पर वामन और मम्मट आदि का सीधा प्रभाव लक्षित होता है। प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग और रीति की जगह समकालीन साहित्यशास्त्रियों ने 'शैली' शब्द को सर्वमान्यता दी है। 'शैली' मूल अंग्रेजी शब्द 'STYLE' का पर्याय अथवा अनुवाद है जिसमें काव्यभाषा की सभी गतिविधियों का समाहार है। साम्प्रत साहित्यशास्त्र और नवीन भाषा शास्त्र में 'शैली' को रीति के समानार्थी रूप में क्रमशः स्वीकारा गया है। शैली को तत्त्वतः रीति का पर्याय कहना बहुत समीचीन नहीं है क्योंकि रीति की मीमांसा मात्र पदरचना के वैशिष्ट्य तक सीमित है। शैली का संसार रीति की अपेक्षा बहुत व्यापक है।

6.1.1.3 रीति का केन्द्रीय अर्थ

प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग, पंथ जैसी कई पर्यायों से गुजरते हुए शास्त्रकार प्रधानतया 'रीति' शब्द पर स्थिर हैं। इसका श्रेय वामन को ही देना होगा। सम्प्रदाय के रूप में रीति का विकास वामन के परवर्ती साहित्यशास्त्र में नहीं हुआ क्योंकि ध्वनिशास्त्रियों ने वामन की अवधारणा का व्यापक विरोध किया। कालान्तर में रीति विज्ञान, शैली विज्ञान और काव्यभाषा विज्ञान के रूप में रीति की परिधि और उसके प्रयोजन का जो विस्तार हुआ है उसे वामन द्वारा प्रवर्तित रीति सम्प्रदाय से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। वामन की उपलब्धि यह है कि उन्होंने कविता की आन्तरिकता पर विशेष बल दिया और रस को अधिक महत्त्व न देते हुए काव्य गुणों के विस्तार को महनीयता प्रदान की। स्वभावतः रीति सम्बन्धी विश्लेषण का इतिहास वामन के कारण सिद्धान्त का रूप ग्रहण करने में समर्थ हुआ लेकिन काव्य की आत्मा के रूप में रीति की स्थापना को अधिक लोकप्रियता नहीं मिल सकी। इसी कारण वामन के काव्य-सिद्धान्तों और रीति विषयक काव्य मूलों को यथावत् स्वीकृति नहीं मिली, भले ही रीतियों के स्वरूप और प्रभेदों की अनेक व्याख्या होती रहीं।

वामन ने रीति को पद-रचना मानते हुए गणों को उसका मूल तत्त्व माना है। उनसे पूर्व दण्डी ने भी गुणों को रीति का मूल तत्त्व माना है। उनके गुण शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य दोनों के ही प्रतीक हैं। उनके श्लेष, समता, सौकुमार्य और ओज पद-बंध अथवा शब्द-गुम्फ के आश्रित हैं तथा माधुर्य, उदारता, कान्ति, प्रसाद, अर्थ-व्यक्ति और समाधि अर्थ-सौन्दर्य के।

वामन ने दस गुण ही माने हैं लेकिन प्रत्येक गुण के, शब्द-गुण और अर्थ-गुण नाम से दो भेद करने पर उनकी संख्या बीस हो जाती है। वामन के शब्दगुण शब्द के चमत्कार हैं और अर्थ गुणों का आधार अर्थ-सौन्दर्य है। इस प्रकार वामन के मत से रीति के बहिरंग तत्त्व हैं – शब्द। अन्तरंग तत्त्व हैं – गुण, रस, ध्वनि अर्थालंकार और दोषाभाव।

वामन के उपरान्त ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के अनुसार रीति के मूल आन्तरिक तत्त्व हैं– प्रसाद, माधुर्य और ओज। समास उसका बाह्य तत्त्व है। अपने समस्त रूप में रीति रसाभिव्यक्ति के माध्यम है, ऐसा आनन्दवर्धन ने स्वीकारा है। बाद के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने विशेष रूप से प्रसंग पर प्रकाश डाला है। मम्मट ने माधुर्य और ओज गुणों को ही रीतियों का प्राण तत्त्व माना है। उनके अनुसार गुण-व्यंजक वर्ण ही रीति के मूल तत्त्व हैं। विश्वनाथ ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है और आनन्दवर्धन के समान रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन माना है। विश्वनाथ ने मम्मट के वर्ण-व्यापार साथ ही पद-संरचना के महत्त्व को भी नयी आभा दी है। पदों की संघटना को उन्होंने 'रीति' कहा है। इससे स्पष्ट है कि वामन ने रीति को जिस रूप में प्रतिष्ठित किया था उस पर चलने की कोशिश नहीं की गई। हर आचार्य ने उसे अपने-अपने ढंग से समझा। इस प्रकार वामन की 'रीति' और परवर्ती आचार्यों के यहाँ पल्लवित और पुष्पित रीति में ज़मीन-आसमान का अन्तर आ गया।

'वामन' ने रीति के विषय में जो निष्कर्ष दिये वे ही ज्यादा स्वीकार्य हुए क्योंकि उनका विवेचन ठोस और निश्चित प्रक्रिया पर आधारित था। गुणों के साथ ही रीति जुड़ी रही। यह बात अलग है कि 'वामन' और अन्य चिन्तकों ने यह सम्बन्ध भिन्न पद्धति पर स्वीकार किया। वामन ने गुणों की स्थिति रीति के सन्दर्भ से केवल शोभाकारक धर्म के रूप में ही स्वीकारी जबकि परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस के धर्मस्वरूप को स्वीकार किया। यही कारण है कि वे रीति को भी रसाभिव्यंजक का माध्यम मानकर चले। उनके मत में रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा तक पहुँचाने के साधन रूप से सहायक होती है।

6.1.2 रीति की परिभाषा

परिभाषाएँ पहले वस्तु या पद की सामान्य लक्षणावली बतलाती हैं और फिर उन विशेष गुणों को इंगित करती हैं जिनके माध्यम से पदार्थ या पद अपनी ही श्रेणी के अन्य पदार्थों या पदों से भिन्न होता है। परिभाषा में स्पष्टता और निश्चयात्मकता तो होनी ही चाहिए। 'रीति' को परिभाषित करने के अनेक प्रयास हुए हैं लेकिन 'रीति' का स्वरूप सर्वदा एक समान नहीं रहने के कारण परिभाषाएँ असमर्थ नजर आती हैं। फिर भी 'रीति' की परिभाषाएँ उसके स्वरूप का संकेतन अवश्य करती हैं।

6.1.2.1 संस्कृत आचार्यों की परिभाषा

भारतीय काव्यशास्त्र के आदिआचार्य भरत के समय से ही यह धारणा व्याप्त रही है कि विशिष्ट रीति का प्रयोग अच्छे रचनाकार की कसौटी है। भरत ने रीति को 'वृत्ति' कहा है और वृत्तियों को ही सभी काव्यों, सभी नाटकों की माता बताया है –

एवमेते बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः।

– (नाट्यशास्त्र, 22 / 64)

भरत ने 'वृत्ति की कोई परिभाषा नहीं दी है लेकिन उनके कारण काव्य-चिन्तन में 'रीति' के समानार्थी 'वृत्ति शब्द का उदय हो गया। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में 'रीति' को 'मार्ग' कहा है जिसका अनुसरण दण्डी ने भी किया। दण्डी ने लिखा है कि अनेक पारस्परिक भेदों के साथ वाणी के मार्ग हैं –

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।

– (काव्यादर्श, 1 / 40)

पहली बार 'रीति' शब्द का उपयोग करते हुए वामन ने रीति की परिभाषा दी है –

विशिष्ट पद रचना रीतिः।

– (काव्यालंकार सूत्र, 1 / 2 / 7)

रीति विशिष्ट पद रचना है और विशिष्ट का तात्पर्य है गुण सम्पन्न होना। वामन ने गुण को काव्य का शोभाकारक धर्म बताया है और रीति के साथ गुणों का अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा है – काव्य शोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को 'रीति' कहते हैं। रचना का सुन्दर नाम रीति है।

काव्य की आत्मा की अवधारणा की खोज सबसे पहले वामन ने ही की। उन्होंने बताया कि रीति काव्य की आत्मा है। परवर्ती आचार्यों के बीच 'रीति' को काव्य की आत्मा स्वीकारने की ललक तो नहीं रही लेकिन 'रीति' का काव्यसर्जना के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए 'रीति' को आचार्यों ने परिभाषित अवश्य किया। इस क्रम में राजशेखर की परिभाषा है –

वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

– (काव्यमीमांसा, 2 / 8)

वेष के विन्यास का प्रभेद प्रवृत्ति है, विलास के विन्यास का क्रम वृत्ति है और वचनों के विन्यास का क्रम रीति है। ऐसा स्वीकारते हुए राजशेखर ने रीति को वचन-विन्यास का वैभव कहा है। कालान्तर में कुन्तक ने रीति का सम्बन्ध कवि-स्वभाव के साथ जोड़ा और आनन्दवर्धन ने रीतियों को विभिन्न प्रकार की संघटना से सम्बद्ध किया। इसके बाद ही विश्वनाथ ने 'रीति' को परिभाषित करते हुए कहा कि पदों की संघटना रीति है –

पदसंघटना रीतिः अंगसंस्थाविशेषवत्।

– (साहित्य दर्पण, 2 / 19)

विश्वनाथ के अनुसार – "पदों की संघटना रीति है जो रस आदि काव्य-सौन्दर्य के अवयवों का उपकार करने वाली होती है।"

इन समस्त परिभाषाओं में निबद्ध मतों के आधार पर रीति की यही पहचान स्थिर होती है कि रीति को काव्यशोभा विधायक मार्ग कहा गया है। रीति की पद संरचना और शब्द संयोजना से कविता रसोत्कर्षी और सम्प्रेषणीय बनती है।

6.1.2.2 हिन्दी आचार्यों की परिभाषा

मध्यकाल के आचार्य कवियों ने 'रीति' को मार्ग या पंथ के अर्थ में अपनाया है। इसी दृष्टि से चिन्तामणि ने कहा है –

रीति सुभाषा कवित की बरनत बुधि अनुसार।

– (कविकुलकल्पतरु, 1 / 4)

भिखारीदास ने 'रीति' को ही पंथ कहा है –

जातें कछु हौं हूँ लह्यो कविताई को पंथ।

– (शृंगार निर्णय, 1 / 3)

हिन्दी के आधुनिक शास्त्रकारों ने वामन की मान्यताओं का अनुसरण करते हुए शब्द और अर्थ के सद्‌गुणों से सम्पन्न पद रचना को रीति कहा है। बलदेव उपाध्याय ने रीति की परिभाषा दी है – "लेखक अपनी रुचि के अनुसार विचित्र प्रकार से अपने अर्थों का प्रतिपादन करता है। अर्थप्रतिपादन की उसकी विशिष्ट भंगिमा होती है। यही उसकी 'रीति' होती है।" – (भारतीय साहित्यशास्त्र, पृष्ठ 137)

यहाँ बलदेव उपाध्याय ने 'रीति' का सम्बन्ध कुन्तक की तरह कवि-स्वभाव से जोड़ा है जबकि रामदहिन मिश्र ने 'रीति' को काव्य-शरीर में उपलब्ध शब्दों और अर्थों का उपकारक माना है – "शब्दार्थ-शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने, प्रभाव बढ़ाने वाली पदों की जो विशिष्ट रचना है, उसे रीति कहते हैं।" – (काव्य दर्पण, पृष्ठ 411)

जैसे नर-नारी की शरीर-रचना से सुकुमारता, मधुरता, कठिनता, रुक्षता आदि गुणों का ज्ञान होता है और उससे नर-नारी की विशेषता का बोध होता है, वैसे ही काव्य-रचना की विशेषता शब्द और अर्थ के गुणों से लक्षित होती है। रामदहिन मिश्र इसी विशिष्टता को रीति कहा है। देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भी इसी मत का समर्थन किया है लेकिन उनकी दृष्टि में रीति मार्ग अथवा पद्धति अवश्य है – "वह मार्ग या पद्धति जिसमें काव्य के अन्तर्गत शब्द-विन्यास की कला बतायी जाए, रीति कहलाती है।" – (काव्य के तत्त्व, पृष्ठ 42)

काव्य में शब्द विन्यास का वही महत्त्व है जो शरीर में अंग विन्यास का है। आँख की जगह कान हों, कान हाथी के कान जैसे हों, सिर की जगह हाथ हों तो यह शरीर का सौन्दर्य-विकार कहा जाएगा। इसी तरह कविता में भी समुचित शब्द और उपयुक्त अर्थ ही काव्य को सौन्दर्य प्रदान करता है। विद्यानिवास मिश्र ने 'रीति' की अवधारणा को विस्तार देते हुए लिखा है – "बोलने की काकु में अन्तर आने से या किसी शब्द की पुनरावृत्ति से या वाक्य में क्रम-भंग लाने से या प्रत्याशित विशेषण के स्थान पर अप्रत्याशित विशेषण लाने से जो एक प्रकार का वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है, उसको रीति की विचार-कोटि में लाया जाता है।" – (रीतिविज्ञान, पृष्ठ –16)

इस तरह विद्यानिवास मिश्र ने बताया है कि रीतिविधान शब्द प्रयोग के भीतर से ही उद्‌भूत है और व्याकरण कोटियों को एक अतिरिक्त अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए होता है।

इसी प्रकार नगेन्द्र के अनुसार – "रीति, शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है, जो माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त एवं परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में साधन रूप में सहायक होती है।" – (भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ – 31)

नगेन्द्र द्वारा दी गई रीति की यह परिभाषा संतुलित और समेकित है। बच्चन सिंह ने लिखा है – "गुण से संयुक्त पदरचना रीति है। गुणालंकार ही पद रचना को सौन्दर्य सम्पन्न बनाते हैं। शब्द और अर्थ तो काव्येतर ग्रन्थों में भी होते हैं पर गुण (रीति) संयुक्त होकर ही शब्द और अर्थ सौन्दर्यात्मक बनते हैं।" – (भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ – 46)

स्पष्ट है कि रीति की परिभाषाओं से कविता में शब्द और अर्थ के सौन्दर्यविधायक गुणों के उपकारक तत्त्व को ही मान्यता मिली है। भरत से लेकर साम्प्रत शास्त्रकारों तक रीति को विशिष्ट पदरचना की मान्यता मिली है। रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले वामन के अनुसार, रचना का सौन्दर्य रीति पर आश्रित है।

6.1.3 रीति का स्वरूप

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में रीति के अर्थ और स्वरूप के बारे में धारणाएँ बदलती रही हैं। वास्तविकता तो यह है कि इतना मत वैभिन्य और इतना मत विस्तार काव्य की आत्मा के रूप में चर्चित इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में सामने आया। रस, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य – किसी के स्वरूप पर 'रीति' जैसे मतान्तर नहीं मिलते। इसका मुख्य कारण रीति के कई समानार्थी शब्दों की उपस्थिति और रीति के प्रभेदों का भौगोलिक आधार रहा है। रीति-सिद्धान्त काव्यशास्त्र की चिन्तन-परम्परा में क्रमशः समाप्त हो गया। शैली-विज्ञान की अवधारणाओं के रूप में रीति-सिद्धान्त का ही पुनर्जन्म हुआ है।

6.1.3.1 प्राचीन भारतीय मत

भारतीय काव्य-चिन्तन में वामन की गणना श्रेण्य शास्त्रकारों में हैं। उनके गौरव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा कहा और एतद्विषयक उनकी मान्यताएँ सम्प्रदाय बनकर सामने आईं। 'रीति' की स्थापना नवीं शताब्दी के आस-पास वामन द्वारा हुई परन्तु रीति का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में वामन से पूर्व भी विद्यमान था जिसका उन्होंने निश्चित रूप से लाभ उठाया।

रीति का काव्यशास्त्रीय मूल भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है जहाँ उन्होंने विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित – आवन्ति, दक्षिणात्य, औड्रमागधी और पांचाली नाम की चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। भरत की इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध भाषा से न होकर देश तथा आचार आदि से है जबकि अपने पारिभाषिक रूप में 'रीति' का अर्थ है केवल भाषा-प्रयोग अर्थात् बोलने और लिखने का ढंग। इसमें सन्देह नहीं कि रीति के उद्भव और विकास में 'प्रवृत्ति' से निश्चय ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा ली गयी है।

वामन से पूर्व भामह ने 'काव्यालंकार' में रीतियों का विशद् प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'रीति' को 'मार्ग' कहते हुए वैदर्भ और गौड़ दो मार्गों का उल्लेख किया है। अलंकारों से समन्वित, अशिष्ट भाव से मुक्त, अर्थ चमत्कार से युक्त, न्यायसम्मत मतों से समृद्ध और शब्दाडम्बर से रहित काव्य ही भामह की दृष्टि में श्रेण्य है –

अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्ये न्याय्यमनाकुलम्।
गौड़ीयमपि साधीयः वैदर्भमपि नान्यथा॥

– (काव्यालंकार,1 / 35)

वैदर्भी और गौड़ीय मार्गों पर रचित काव्य को इन गुणों से विहीन होने पर भामह अच्छा नहीं मानते। भामह की यह रीति-धारणा परवर्ती आचार्यों के लिए एक दिशा-निर्देश अवश्य थी। दण्डी ने 'रीति' शब्द के स्थान पर 'मार्ग' का सर्वत्र उपयोग किया है। दण्डी के अनुसार, भरत द्वारा प्रतिपादित दस गुण कविता के सामान्य गुण न होकर काव्य के एक विशिष्ट मार्ग के गुण हैं। इस क्रम में दण्डी ने वैदर्भ मार्ग को उत्तम और गौड़ी को निकृष्ट बताया

है। रीति-चिन्तन में उनका यही विशिष्ट योगदान है कि दण्डी ने ही रीति भेदों के बीच वैदर्भी को श्लाघनीय और गौड़ को वर्जनीय बताया।

दण्डी के अनन्तर वामन आए, जिन्होंने रीति को काव्य की आत्मा की प्रतिष्ठा दी –

रीतिरात्मा काव्यस्य।

– (काव्यालंकारसूत्र, 1 / 2 / 6)

विशिष्ट पद रचना को उन्होंने रीति कहा है और गुणों को पदरचना की विशिष्टता की आत्मा बताया। गुणों को भी वामन ने अर्थगुण और शब्दगुण दो मुख्य संवर्गों में विभाजित किया। इन्हें ही उन्होंने काव्य का सर्वस्व बताया है। वैदर्भी और गौड़ी के साथ ही पांचाली रीति की कल्पना पहली बार वामन ने ही की। अपने रीति-निरूपण में वामन ने पहली बार रीति के संरचनात्मक विस्तार को चित्रकला के उदाहरण द्वारा समझाया है। जैसे रेखाओं में ही समस्त चित्रकला समन्वित रहती है वैसे ही रीतियों से भिन्न कविता का कोई अस्तित्व नहीं होता। इस क्रम में वामन ने शब्द और अर्थ से अधिक महत्त्व उसके उत्कर्षक रीति को दिया है। इसके अभाव में न तो काव्यत्व की कल्पना की जा सकती है और न काव्य का मंतव्य ही आस्वाद्य बनता है।

आचार्य भरत से वामन तक रीतियों का अध्ययन भौगोलिक सीमाओं के आधार पर होता रहा जबकि रुद्रट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में रीतियों का विभाजन समास की कसौटी पर किया। यद्यपि रुद्रट ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली के साथ एक नई रीति 'लाटीय' का समावेश भी किया, लेकिन उनकी मुख्य अवधारणा है समस्त पदों अथवा समासों की उपस्थिति। दसवीं शताब्दी के नाटककार राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में कल्पना की है कि काव्यपुरुष की तलाश में उनकी प्रियतमा साहित्यवधू देश की चार दिशाओं में पहुँचती है। इस तलाश में साहित्यवधू विभिन्न दिशाओं में विभिन्न वेश धारण करती है और भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवीन वचन-विन्यास भी करती है। यही वचन-विन्यास रीति है। राजशेखर ने रीति पर सम्यक् विचार करने के लिए 'रीतिनिर्णय' भी लिखा था लेकिन वह ग्रन्थ अब अनुपलब्ध है।

रीति के बारे में भोजराज, शारदातनय, बहुरूप मिश्र आदि ने भी चर्चा की है। इस दृष्टि से कुन्तक का नाम उल्लेखनीय है। वक्रोक्ति सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए कुन्तक ने रीति को कवि के आन्तरिक गुणों और स्वभाव की बाह्य अभिव्यक्ति कहा है। कुन्तक ने रीति को कवि के स्वभाव पर आश्रित माना है। इस क्रम में उन्होंने रीति को प्रचलित भौगोलिक प्रभेदों की जगह तीन मार्गों का उल्लेख किया है – सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग। उन्होंने इन मार्गों के गुणों का विस्तार से परिचय है। कुन्तक ने यह भी सूचित किया है कि रीति के इन सभी मार्गों में औचित्य और सौभाग्य का अलौकिक गुण ही काव्य रचना को शोभा प्रदान करता है। इसी ज़मीन पर क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में बताया कि गुण और अलंकार से युक्त होने पर भी काव्य औचित्य के बिना निर्जीव ही रहता है, चाहे वह किसी भी मार्ग का अवलम्बन करे। क्षेमेन्द्र ने यही प्रतिपादित किया है कि शब्द और

अर्थ का चमत्कार औचित्य के बिना उपस्थित नहीं होता। रीति चिन्तन के इतिहास में क्षेमेन्द्र ने शब्दार्थ से बनी काव्यरचना को औचित्य से सम्पृक्त किया।

संस्कृत के परवर्ती आचार्य प्रधानतया रसों की व्याख्या में व्यस्त रहे लेकिन उन्होंने अवसर मिलते ही रीति का विवरण दिया है। जैसे, विश्वनाथ ने लिखा है कि पदों की संघटना का नाम रीति है जो काव्य के आत्मरूप रसादि के उत्कर्ष का विधान करती है। विश्वनाथ के अनुसार रीति रचना-प्रकार के रूप में रसाभिव्यक्ति का साधन है। रस-प्राधान्य के कारण कालान्तर रीति-चिन्तन कमजोर होता गया। वास्तव में रस का तिरस्कार ही रीति-मत के क्रमशः अन्त का कारण बना लेकिन संस्कृत आचार्यों के रीतिविषयक विचारों ने भारतीय काव्य-चिन्तन को शब्द और अर्थ के विलक्षण गुणों और चमत्कार से अवश्य ही परिचित कराया।

6.1.3.2 आधुनिक भारतीय मत

काव्यशास्त्रियों की समकालीन विचारधारा पर प्राचीन संस्कृत आचार्यों का सीधा प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने अधिकांशतः प्राचीन मतों की ही पुनःप्रस्तुति की है लेकिन हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों पर पाश्चात्य चिन्तन का प्रभूत प्रभाव भी पड़ा है। रीति-चिन्तन के क्षेत्र में आधुनिक शास्त्रकारों ने किसी नए विचार की उद्भावना तब तक नहीं की, जब तक रीति-चिन्तन का नया विन्यास शैलीविज्ञान के रूप में नहीं हो गया। शैलीविज्ञान की चर्चा ने रीति-चिन्तन को नई वेश-भूषा दी।

मध्यकाल के आचार्य-कवियों के शास्त्रीय ग्रन्थ अलंकार और रस सम्बन्धी प्राचीन अवधारणा का ही शंखनाद करते रहे। इस पूरी परम्परा की समृद्धि में चिन्तन की मौलिकता के लिए अवकाश नहीं था लेकिन इन शास्त्रकारों ने संस्कृत के सिद्धान्त-प्रतिपादन, लक्षण-उदाहरण की परम्परा का निर्वाह अवश्य किया। इसी ज़मीन पर बीसवीं शताब्दी की प्रारम्भिक शास्त्रीय समीक्षा उपस्थित हुई। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और बलदेव उपाध्याय का काव्यशास्त्रीय चिन्तन इस तथ्य का उदाहरण है कि इन शास्त्रकारों ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ही रीति का उल्लेख भी किया है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने गुणों का उल्लेख किया है और बताया है कि रीतियों को रचना कहते हैं, रीतियाँ गुणों के आश्रित हैं, गुण रस के धर्म और नित्य सहचारी हैं। इस संक्षिप्त चर्चा से ही लक्षित होता है कि कन्हैयालाल पोद्दार की रीति-व्याख्या वामन के विचारों पर आधारित है।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसमीमांसा' में कविता और रस का घनिष्ठतर सम्बन्ध स्थापित किया है लेकिन 'रीति' के बारे में उनकी धारणा बहुत अनुकूल नहीं है – "काव्य-रीति का निरूपण थोड़ा-बहुत सब देशों के साहित्य में पाया जाता है। पर हमारे यहाँ के कवियों को रीति-ग्रन्थों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा, वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रन्थों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई, लक्षणों की कवायद पूरी करके वे अपने कर्त्तव्य की समाप्ति मानने लगे, काव्य का स्वरूप संघटित करने के स्थान पर वे बाहरी सजावट में अधिक उलझने लगे।" – (रस मीमांसा, पृष्ठ 74)

रामचन्द्र शुक्ल यहाँ 'रीति' की नहीं, मध्यकालीन रीति ग्रन्थों की बात करते हैं लेकिन किसी-न-किसी प्रकार कविता की बनावट और सजावट की चर्चा अवश्य की है। निश्चय ही काव्यक्षेत्र चमत्कारों का अजायबघर नहीं है। शब्द और अर्थ के सहारे रस का संसार सजाने वाले कवियों की इसी कला को वामन ने कभी श्रेष्ठ कवि कहा था। रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है – "साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं।" – (रसमीमांसा, पृष्ठ 81)

रामदहिन मिश्र ने शब्दार्थ के आत्मभूत रसादि का उत्कर्ष करने वाली विशिष्ट पद रचना को रीति कहा है। उनकी स्पष्ट मान्यता है – "यह पद-संघटना है पर यह पदसंघटना वैशिष्ट्य-मूलक है। वह विशिष्टता शब्दों की है। कैसे शब्द कहाँ रक्खे जाएँ, यही रीति है और इसका विचार ही रीति की रूप-रेखा है। कैसे शब्द का अभिप्राय शब्द की योग्यता से है। देखना होगा कि जिस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है वह विषय, भाव, संस्कार के अनुकूल है या नहीं। भाषा के सौन्दर्य और माधुर्य, विषय और वर्णन के योग्य है या नहीं। अनन्तर उसके स्थान का विचार करना होगा। कहाँ रखने से वह अपना वैभव प्रकाशित कर सकता है। ऐसा होने से ही रीति की मर्यादा अक्षुण्ण रह सकती है।" – (काव्यदर्पण, पृष्ठ – 411)

रामदहिन मिश्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि रचना में कहीं विषयानुरूप मधुर वर्णों अथवा ओज की प्रस्तुति करने वाले वर्ण अपेक्षित होते हैं। उनके अनुसार, उत्तम रीति वह है जिसमें भाव व्यक्त करने के लिए चयनित शब्द हों। रीतियों की अनेकता के सन्दर्भ में उनका मत है कि एक ही विषय को अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न कवि अपने-अपने प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। जैसे – पंचवटी-प्रसंग में तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त और निराला के वर्णन की रीतियों में पर्याप्त अन्तर है। इसी वर्णनात्मक विभिन्नता को रामदहिन मिश्र ने रीति का आधार कहा है।

बलदेव उपाध्याय ने रीति का विश्लेषण वामन और उनके पहले-बाद के रीति अध्येताओं के सन्दर्भ में किया है। उन्होंने लिखा है – "जिस प्रकार कामिनी के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन होता है, सब अंग एक नियत प्रकार से निबद्ध किए जाने पर ही शोभाधायक होते हैं, ठीक उसी प्रकार पदों की संघटना रीति कही जाती है और वह रस आदि काव्य-सौन्दर्य के उन्मीलन के लिए उपकार करने वाली होती है।" – (भारतीय साहित्यशास्त्र, पृष्ठ 197)

बलदेव उपाध्याय ने रेखांकित किया है कि रीति का चुनाव एक विशिष्ट कार्य है जिसके लिए कई रचनागत काव्यसाधनों का परीक्षण अपेक्षित होता है। इसी दृष्टि से रीति के नियामक तत्त्वों और विशिष्टताओं पर बलदेव उपाध्याय ने विस्तार से विचार किया है।

अपने रीति विवेचन में देवेन्द्रनाथ शर्मा ने बताया है कि उचित शब्द विन्यास ही रीति है। बच्चन सिंह ने रीति का सम्बन्ध आधुनिक चिन्तनधारा से जोड़कर नई व्याख्या की है – "सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से वामन का रीति-गुण निरूपण आज की सोच के अधिक निकट है। उसके रीति-गुण में अद्वैत का सम्बन्ध है।" – (भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 40)

नगेन्द्र ने सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया है। गुण को महत्त्व देने के कारण रीति-चिन्तन में अपने आप रस की व्याप्ति है। इसे इंगित करते हुए नगेन्द्र ने रीतिवाद को रस-सिद्धान्त का ही हिस्सा बताया है। उनके अनुसार, रीति-मत पूरी तरह सारहीन नहीं है और इतना एकांगी भी नहीं है जितना प्रतीत होता है।

विद्यानिवास मिश्र ने रीति को काव्यभाषा के विभिन्न स्तरों का सूचक घोषित किया है। रीति रचनाकार द्वारा चयनित साँचों और सम्भावनाओं का समुच्चय है, ऐसा मानते हुए उन्होंने अन्तर्गठन पर केन्द्रीय भारतीय काव्यदृष्टि का समर्थन किया है। उनकी रीति सम्बन्धी धारणा इतनी प्रबल है कि शैलीविज्ञान को उन्होंने रीति-विज्ञान कहा है।

आधुनिक रीति चिन्तन वामन-प्रवर्तित रीतिवाद से शैलीविज्ञान के दरवाजे तक चला आया है। इससे रीति के सन्दर्भ में शास्त्रकारों के विचारधारा के नवीन स्थापनाओं के संकेत मिलते हैं। भले ही रीति-सिद्धान्त को भारतीय काव्य-चिन्तन परम्परा में सम्यक् लोकप्रियता नहीं मिली लेकिन उसका प्रभाव आज तक लक्षित होता है।

6.1.4 पाठ-सार

भारतीय काव्य-चिन्तन की यात्रा में वामन ने पहली बार काव्य की आत्मा का प्रश्न प्रस्तुत किया। उन्होंने 'रीति' को काव्य की आत्मा का गौरव दिया। वामन के अनुसार शब्द और अर्थ से सुनिर्मित पदरचना ही रीति है। प्राचीनकाल से लेकर अब तक रीति की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं और सबका समाहार यही है कि शब्द और अर्थगत विशेष संरचना काव्य-सौन्दर्य का हर तरह से उपकार करती है। यही रीति है।

प्राचीन साहित्य-चिन्तन स्वीकार करता है कि अपने लिए नये मार्ग का उद्घाटन करने वाले कवि वन्दनीय होते हैं और विशिष्ट शैली से सम्पन्न होना ही कवित्व की श्रेण्यता है। रीतिशास्त्र में रीति के स्वरूप और उसके प्रभेदों की चर्चा भामह से प्रारम्भ होती है। अपने 'काव्यालंकार' में उन्होंने वैदर्भी और गौड़ीय दो काव्य-मार्गों का निर्देश किया है जबकि उनके पूर्ववर्ती कवि बाण ने भारतवर्ष की चार दिशाओं में प्रचलित चार प्रकार की रीतियों का उल्लेख किया था। भामह ने गौड़ देश के उन कवियों की सर्जना को गौड़ीयमार्ग को घोषित किया है जिनकी रचनाओं में अलंकारों की झंकार और शब्दों के आडम्बर का आकर्षण फैलता था। इसके विपरीत वैदर्भी रीति की प्रशंसा भामह ने की है क्योंकि विदर्भ के कवियों ने सरस और सरल हृदयस्पर्शी काव्य-सृजन किया।

रीति शब्द का पहली बार उपयोग करते हुए दण्डी ने वैदर्भी और गौड़ी काव्य-मार्गों का उल्लेख किया है। दण्डी की दृष्टि में भी इन दोनों काव्य-मार्गों की तुलनात्मक विवेचना के आधार पर दण्डी ने स्थापना की है कि श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, औदात्य, ओज, कान्ति और समाधि के कारण वैदर्भी श्रेयस्कर रीति है। रीति सम्बन्धी इस चर्चा में वामन ने यह मौलिक योगदान दिया कि उन्होंने वैदर्भी और गौड़ीय रीतियों के अतिरिक्त पांचाली नामक एक तीसरी रीति की कल्पना की। वामन के पूर्व रीति अथवा मार्ग का विश्लेषण

भौगोलिक आधार पर होता था। दण्डी जैसे विश्लेषकों ने गौड़ (बंगाल) के कवियों द्वारा प्रयुक्त शैली को गौड़ी और विदर्भ के कवियों द्वारा प्रयुक्त शैली को वैदर्भी घोषित किया। यद्यपि वामन ने भी पांचाली रीति की परिकल्पना भी पांचाल प्रदेश के आधार पर ही की लेकिन वामन यह छूट दी है कि कहीं का कोई कवि इन रीतियों का उपयोग कर सकता है। वामन ने यह सलाह भी दी है कि इन तीन रीतियों में से केवल वैदर्भी का ही अभ्यास और स्वीकार कवियों को करना चाहिए।

वामन के अनन्तर रीति तत्त्व का विश्लेषण भौगोलिक पीठिका से उतर कर पदों की सामासिकता पर केन्द्रित हो गया। रुद्रट ने गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली रीतियों के अतिरिक्त लाटीय नामक चौथी रीति की परिकल्पना की और इन रीतियों का विभाजन पदों की सामासिकता के आधार पर किया। जिन पदों की रचना में समास बिल्कुल नहीं होता, उन्हें रुद्रट ने वैदर्भी रीति कहा है और लघु समास, मध्य समास, दीर्घ समाज के पदों से निर्मित रीतियों को क्रमशः पांचाली, लाटीय और गौड़ीय सम्बोधित किया है।

रीति सम्बन्धी चर्चा को राजशेखर ने वृत्तियों के साथ जोड़ा और गौड़ी पांचाली तथा वैदर्भी रीति को नयी व्याख्या दी। उनके 'कर्पूरमंजरी' नाटक की प्रस्तावना में मागधी रीति का उल्लेख भी मिलता है और उनके 'बाल रामायण' में मैथिली रीति का परिचय भी उपलब्ध है।

भोजराज ने भी अपने 'सरस्वती कण्ठाभरणम्' में रीतियों की संख्या में विस्तार किया है और कुल छह रीतियों की व्याख्या की है – पांचाली, गौड़ीय, लाटीय, वैदर्भी, मागधी और अवन्तिका।

रीति विश्लेषण को वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता कुन्तक ने नयी दिशा दी और बतलाया कि रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से है। इसीलिए परम्परागत भौगोलिक नामकरणों का निषेध करते हुए कुन्तक ने कवि स्वभाव के आधार पर रीतियों को तीन मार्गों में विभक्त किया – सुकुमार, विचित्र और मध्यम। कविता में माधुर्य, लावण्य, आभिजात्य और प्रसादत्व की अभियोजना के आधार पर कुन्तक ने इन तीनों रीतियों का मूल्यांकन किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र रीति के बारे में जितनी अधिक मीमांसा करता रहा है, उतनी ही विचार-ग्रन्थियाँ सामने आयी हैं। समग्रतः यह स्वीकार लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उत्तम शब्दों की उत्तम रचना के रूप में रीति का प्रादुर्भाव होता है और इसे कवि के स्वभाव और रचनात्मक संरचना से अलग नहीं किया जा सकता। काव्यभाषा में आकर्षण और मौलिकता के जितने तन्तु विद्यमान हैं, उन सबका सम्बन्ध रीति से है, इसमें सन्देह नहीं।

6.1.5 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

01. 'रीति' को काव्य की आत्मा का पद किसने दिया ?
   - (क) राजशेखर
   - (ख) भामह
   - (ग) वामन
   - (घ) जगन्नाथ

02. 'रीति' के लिए दण्डी और कुन्तक ने किस शब्द का उपयोग किया है ?
   - (क) गति
   - (ख) मार्ग
   - (ग) पद्धति
   - (घ) विधि

03. वामन के शास्त्रीय ग्रन्थ का क्या नाम है ?
   - (क) एकावली
   - (ख) काव्यदर्पण
   - (ग) काव्यालंकारसूत्र
   - (घ) सरस्वतीकण्ठाभरणम्

04. 'विशिष्ट पदरचना रीति' किसका कथन है ?
   - (क) वामन
   - (ख) मम्मट
   - (ग) भामह
   - (घ) रुद्रट

05. 'रीति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया ?
   - (क) मम्मट
   - (ख) भरत
   - (ग) आनन्दवर्धन
   - (घ) वामन

06. राजशेखर के अनुसार साहित्यवधू किसकी खोज में निकली ?

(क) काव्यात्मा

(ख) काव्यपुरुष

(ग) रीति

(घ) ध्वनि

07. रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक का नाम है –

(क) रसकलश

(ख) रीतिविज्ञान

(ग) रसमीमांसा

(घ) अलंकार मुक्तावली

08. विद्यनिवास मिश्र की पुस्तक का नाम है –

(क) समीक्षाशास्त्र

(ख) साहित्य सहचर

(ग) अलंकार मंजूषा

(घ) रीतिविज्ञान

09. वामन ने कविता में किसकी महत्ता स्थापित की है ?

(क) रस

(ख) अलंकार

(ग) गुण

(घ) शोभा

10. 'रीति' का समकालीन विकल्प क्या है ?

(क) भाषा

(ख) शैली

(ग) शब्दार्थ

(घ) अलंकार

लघु उत्तरीय प्रश्न

01. रीति सिद्धान्त के जन्मदाता वामन के मत का उल्लेख कीजिए।
02. वामन के अनुसार रीति का क्या अर्थ है ?
03. रीति के समानार्थी कुछ अन्य शब्दों का उल्लेख कीजिए।
04. रीति और मार्ग में क्या अन्तर है ?
05. वामन से पूर्व किन आचार्यों ने 'रीति' का विवेचन किया था ?
06. वामन के बाद किन आचार्यों ने 'रीति' का विवेचन किया ?
07. भारतीय काव्य-चिन्तन के चार आधुनिक शास्त्रकारों का उल्लेख कीजिए।
08. मध्यकालीन आचार्यों ने 'रीति' शब्द के किन पर्यायों को चुना है ?
09. रीति चिन्तन का नया विकास किस नाम से हुआ है ?
10. क्या रीति चिन्तन काव्यभाषा के सौन्दर्य का शास्त्र है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

01. 'रीति' के शब्दार्थ का निरूपण करते हुए उसका केन्द्रीय अर्थ स्पष्ट कीजिए।
02. 'रीति' के पर्यायों का परिचय देते हुए 'रीति' शब्द की श्रेष्ठता प्रतिपादित कीजिए।
03. 'रीति' की परिभाषाओं के आधार पर उसकी विशिष्टताओं का उल्लेख कीजिए।
04. "'रीति' की विभिन्न परिभाषाएँ उसे शब्दार्थ संरचना का कौशल प्रमाणित करती हैं।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
05. 'विशिष्ट पदरचना रीति' – वामन की इस परिभाषा के आधार पर रीति का विश्लेषण कीजिए।
06. रीति के सम्बन्ध में प्राचीन काव्यशास्त्रियों के मतों का सर्वेक्षण कीजिए।
07. भारतीय काव्यशास्त्र में 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले वामन की मान्यताओं का अनुशीलन कीजिए।
08. रीति के बारे में आधुनिक शास्त्रकारों के मतों का सर्वेक्षण कीजिए।
09. "रीति के बारे में आधुनिक काव्यशास्त्रियों की विचारधारा में नए शास्त्रीय मूल्य उभरते गए हैं।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
10. रीतिवाद की परम्परा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

6.1.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

01. उपाध्याय, बलदेव (1950) भारतीय साहित्यशास्त्र, वाराणसी, प्रसाद परिषद्
02. त्रिपाठी, राममूर्ति (1990), भारतीय काव्य विमर्श, दिल्ली, वाणी प्रकाशन

03. त्रिपाठी, राधावल्लभ त्रिपाठी (2000), भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन
04. सिंह, बच्चन (1994, संस्करण - 2) हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, दिल्ली, वाणी प्रकाशन
05. तिवारी, बालेन्दु शेखर (2015, संस्करण - 3), वस्तुनिष्ठ काव्यशास्त्र, दिल्ली, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
06. मिश्र, भगीरथ (2008, संस्करण - 6), काव्यशास्त्र, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन
07. हीरा, राजवंश सहाय (1973) भारतीय साहित्य शास्त्र कोश, पटना, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
08. मिश्र, शोभाकान्त (2011, संस्करण -3), भारतीय काव्य-चिन्तन, पटना, अनुपम प्रकाशन

6.1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. वामन (1995, संस्करण-3), काव्यालंकारसूत्र, वाराणसी, चौखम्भा विद्याभवन
02. मम्मट (1995, संस्करण-6), काव्यप्रकाश, वाराणसी ज्ञानमण्डल
03. भामह (1970) काव्यालंकार, पटना बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
04. उपाध्याय, बलदेव (1948), भारतीय साहित्यशास्त्र, वाराणसी, प्रसाद परिषद्
05. पोद्दार, सेठ कन्हैयालाल (1941, संस्करण-4) काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, आगरा, साहित्य रत्न भंडार
06. मिश्र, रामदहिन (1947) काव्यदर्पण, पटना, ग्रन्थमाला कार्यालय
07. मिश्र, विद्यानिवास (1973), रीतिविज्ञान, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन
08. शुक्ल, रामचन्द्र (1966, संस्करण-4), रसमीमांसा, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा
09. नगेन्द्र (1965) भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस
10. शर्मा, देवेन्द्रनाथ (1994, संस्करण-4), काव्य के तत्त्व, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन
11. सिंह, बच्चन (1994, संस्करण-2) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, चण्डीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादेमी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 6 : रीति-सिद्धान्त

इकाई – 2 : रीति के भेद, रीति एवं शैली

इकाई की रूपरेखा

6.2.0 उद्देश्य कथन
6.2.1 प्रस्तावना
6.2.2 रीति के प्रभेद
    6.2.2.1 रीति-भेदों की प्रारम्भिक चर्चा
    6.2.2.2 वामन प्रवर्तित रीति-भेद
        6.2.2.2.1 वैदर्भी रीति
        6.2.2.2.2 गौड़ी रीति
        6.2.2.2.3 पांचाली रीति
    6.2.2.3 वामन के परवर्ती रीति-भेद
6.2.3 रीति और शैली
    6.2.3.1 शैली और अवधारणा
    6.2.3.2 रीति और शैली का अन्तराल
6.2.4 पाठ-सार
6.2.5 बोध प्रश्न
6.2.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची
6.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

6.2.0 उद्देश्य कथन

i. काव्यशास्त्रीय चिन्तन परम्परा में रीति का विवेचन काव्य की आत्मा के रूप में हुआ है। स्वभावतः रीति के प्रभेदों का उल्लेख भी किया गया है। प्रस्तुत पाठ में रीति के भेदों का विवेचन है।

ii. रीति के प्रभेद कई स्तरों पर निर्धारित हैं। कभी भौगोलिक स्तर पर तो कभी भाषिक स्वभाव के स्तर पर रीतियों का वर्गीकरण शास्त्रकारों ने किया है। प्रस्तुत पाठ में रीति के वर्गीकरण के विभिन्न स्तरों की चर्चा है।

iii. रीति के साथ साम्य अथवा वैषम्य रखने वाले अन्य सिद्धान्तों की चर्चा भी प्रस्तुत पाठ में है।

iv. समकालीन साहित्यशास्त्र में रीति का विश्लेषण शैली के सन्दर्भ में हो रहा है। प्रस्तुत पाठ में रीति और शैली के अन्तस्सम्बन्धों का विवेचन भी है।

6.2.1 प्रस्तावना

विशिष्ट पदों की रचना के रूप में रीति को काव्य की आत्मा के रूप में वामन ने प्रतिष्ठित किया। रचना में यह विशिष्टता गुणों से उत्पन्न होती है। इसी कारण रीति मत को गुण-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। रीति को काव्यमूल्य के रूप में प्रतिष्ठा भरत के 'नाट्यशास्त्र' में ही मिल गयी थी। स्पष्टतः रीति का उल्लेख न करते हुए भी उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। प्रवृत्तियों का सम्बन्ध नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार से था। यहीं से रीति भेदों की चर्चा प्रारम्भ हुई। रीति की स्पष्ट चर्चा भामह के 'काव्यालंकार' में मिलती है पर वहाँ वैदर्भ और गौड़ की चर्चा रीति रूप में न होकर काव्यभेद के अन्तर्गत है। दण्डी ने सर्वप्रथम 'रीति' के अर्थ में 'मार्ग' का प्रयोग किया। वाणी के मार्ग की अनेकता को स्वीकारते हुए उनमें सूक्ष्म भेद की बात की। रीति को दण्डी ने आत्मगत तत्त्व माना और यह भी स्पष्ट किया कि प्रत्येक कवि की अपनी रीति होती है। स्वाभाविक है कि इसके बाद वामन के लिए रीतिभेदों की व्याख्या का रास्ता खुल गया। वामन ने रीति के तीन भेद सूचित किए – वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली। बाद के काव्यशास्त्रियों ने इस संख्या में लगातार संवृद्धि की। जैसे, रुद्रट ने लाटीय, राजशेखर ने मैथिली, भोजराज ने मागधी और अवन्तिका रीतियों का उल्लेख किया है। कुन्तक ने रीतियों को स्वभाव के अनुसार विभाजित किया। इतने सारे प्रभेदों के बीच रीति के वामन द्वारा प्रवर्तित तीन प्रभेद सर्वाधिक मान्य हैं।

रीति के प्रभेदों की देशीय अथवा भौगोलिक कल्पना समीक्षा के केन्द्र में रही है लेकिन वामन की रीति धारणा बदलते समय में भी चर्चित है। वामन ने काव्य को विशिष्ट प्रकार का बंध माना है और यह बंध शब्दार्थों का होता है। वामन की दृष्टि इस सन्दर्भ में वस्तुनिष्ठ और व्यावहारिक है। काव्य बंध ही तो है। वामन की दृष्टि में रीतियों में काव्य उसी प्रकार सुशोभित है जैसे रेखाओं में चित्र। रीति की आत्मा गुणविवेचन कहकर वामन विषय की वैज्ञानिकता को स्वर देने में सक्षम हुए हैं और यही वह बिन्दु है जो रीति को शैली जैसे तत्त्व से जोड़ देता है।

समकालीन साहित्यशास्त्र में रीति का अध्ययन शैली का अध्ययन हो गया है। निश्चय ही रीति का सीधा सम्बन्ध पदरचना के साथ है और शैली को अभिव्यंजना का व्यापक क्षेत्र प्राप्त है फिर भी रीति की साम्प्रत व्याख्या शैली के आलोक में हो रही है। भाषिक दृष्टि से रचना के निर्माण और मूल्यांकन में रीति और शैली के तत्त्व कहीं-न-कहीं एकाकार नजर आते हैं।

6.2.2 रीति के प्रभेद

'रीति' शब्द का प्रचलन वामन के समय से हुआ लेकिन काव्यशास्त्र में कविता के अपरिहार्य तत्त्व के रूप में 'रीति' की प्रतिष्ठा पहले ही हो चुकी थी। भरत ने 'रीति' को ही 'प्रवृत्ति' कहते हुए उसके प्रभेद निरूपित किए। बाद में क्रमशः भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, राजशेखर, भोजराज आदि ने भी रीतियों का वर्गीकरण किया। यह प्रभेदीकरण समय के साथ विस्तृत और बहुआयामी होता गया है।

6.2.2.1 रीति-भेदों की प्रारम्भिक चर्चा

भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' से रीति अथवा प्रवृत्ति के प्रभेदों की चर्चा का सूत्रपात किया। भरत की व्याख्या के अनुसार, 'प्रवृत्ति' वह है जो धरती पर विभिन्न क्षेत्रों की भाषा, वेश, आचार आदि का संकेतन करे–

पृथिव्यां नानादेशवेष, भाषाचार वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।

– (नाट्यशास्त्र, 14 / 35)

भरत ने रीति का विवेचन नहीं कर भाषा की प्रदेशाधार जिन चार प्रवृत्तियों का विवेचन किया है उनका सम्बन्ध रीतियों से है। भरत के द्वारा उल्लिखित चार भाषिक प्रवृत्तियाँ या रीतियाँ हैं – आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली और औड्रमागधी। इस तरह अवन्ती, दक्षिण, पांचाल, उड़ीसा और मगध में प्रचलित चार प्रकार की भाषा-शैलियों को प्रवृत्तियों के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इतिहास साक्षी है कि बाणभट्ट के समय भी चार शैलियाँ प्रचलित थीं जिनकी विशेषताओं का निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है –

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थगौरवम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥

– (हर्षचरित, 1 / 7)

इससे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी तक इस देश की चार दिशाओं में काव्य-सृजन की चार रीतियाँ उपलब्ध थीं। बाणभट्ट ने उन्हीं चार काव्य-रीतियों का उल्लेख किया है जो समग्रता में काव्य का उपकार करती हैं।

भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में रचनाकारी के दो मार्गों का उल्लेख किया है – वैदर्भी मार्ग और गौड़ीय मार्ग। उन्होंने यह भी निर्देश दिया है कि वैदर्भी मार्ग श्रेष्ठ है जबकि गौड़ीय मार्ग हीन है। रीति और उसके प्रभेदों के बारे में भामह की दृष्टि बहुत ही विवेचनापूर्ण थी। भामह की मान्यता के अनुसार वैदर्भ काव्य स्पष्ट, सरल तथा कोमल होता है। फिर भी अर्थ गाम्भीर्य और वक्रोक्ति के होने पर ही उसे सत्काव्य माना जाना चाहिए। गौड़ काव्य भी अलंकारयुक्त, ग्राम्यत्व दोष से मुक्त, अर्थवान्, न्याय-संगत और अनाकुल अर्थात् अति-दीर्घ समास-रहित होने पर सुन्दर होता है, भामह के वैदर्भ काव्य को वैदर्भी रीति काव्य और गौड़काव्य को गौड़ी रीति काव्य के समकक्ष माना जा सकता है। स्पष्ट है कि भामह के अनुसार अलंकारयुक्त होना, ग्राम्यत्व दोष-मुक्त होना आदि गुण वैदर्भ और गौड़; दोनों काव्यों में साधारण रूप से अपेक्षित है, पर कोमलत्व, श्रुतिपेशलत्व एवं प्रसन्नत्व केवल वैदर्भ काव्य के गुण है। स्पष्ट है कि भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का किसी रीति या मार्ग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं मानने पर भी वैदर्भ और गौड़ काव्य के कुछ गुणों का उल्लेख कर दिया है।

इसी स्तर पर भामह ने श्रेष्ठता और हीनता का अन्तर भी दूर कर दिया है। भामह के अनुसार, वैदर्भ और गौड़ दोनों ही काव्य अलंकारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान्, अनाकुल तथा न्यायसंगत होने पर सुन्दर होते हैं। इनके अभाव में दोनों असुन्दर हो सकते हैं। ये गुण दोनों में समान रूप में वांछनीय होते हैंपरन्तु कोमलता, श्रुतिपेशलता और प्रसन्नता वैदर्भ काव्य की विशेषताएँ हैं।

रीति चर्चा के इतिहास में दण्डी का नाम विशिष्ट है क्योंकि रीतियों के प्रभेदीकरण का विस्तृत निरूपण उन्होंने ही किया। दण्डी ने 'रीति' की जगह 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार, काव्य के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर बहुत सूक्ष्म अन्तर है। उन्होंने वैदर्भ और गौड़ मार्गों का विवेचन किया है जिनकी प्रकृति में स्पष्ट अन्तर है। मार्गों या रीतियों का विभाजन दण्डी ने गुणों के आधार पर किया है। उनके अनुसार गुण मार्ग का विभाजन करने वाले अलंकार को कहते हैं। दो मार्गों के स्वरूप का निर्देश करते हुए उन्होंने कहा है कि श्लेष, प्रसाद, समता आदि सभी दस गुण वैदर्भ मार्ग में रहते हैं जबकि गौड़ मार्ग में इन सब का विपर्यय पाया जाता है। इस तरह, दण्डी वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ और गौड़ मार्ग को हेय घोषित करते हैं। कारण यह है कि श्लेष, प्रसाद आदि भिन्न स्वभाव वाले गुणों को वैदर्भ मार्ग में एक साथ रहना सम्भव नहीं। दूसरी बात यह कि गौड़ मार्ग में इनका प्रायः 'विपर्यय' रहता है, यह विचार भी स्पष्ट नहीं है। गुण के विपर्यय को दोष माना जा सकता है और ऐसी स्थिति में आक्षेप किया जा सकता है कि दण्डी गौड़ मार्ग को सदोष मार्ग मानते थे जो उचित नहीं। उल्लेख्य है कि एक गुण के विपरीत स्वभाव वाला दूसरा गुण भी हो सकता है और दण्डी ऐसे ही गुणों का सद्भाव गौड़ मार्ग में मानते थे। वैदर्भ और गौड़ मार्ग का स्वभाव परस्पर भिन्न और विपरीत अवश्य है, केवल इस अर्थ में कि जहाँ वैदर्भ मार्ग सुकुमार मार्ग है, वहाँ गौड़ मार्ग उद्धत और कठोर मार्ग। दोनों का अपना-अपना महत्त्व और सौन्दर्य है। मधुर भावों की अभिव्यंजना में यदि वैदर्भ मार्ग की कोमल प्रकृति अनुकूल और सुन्दर मानी जाएगी तो प्रदीप्त भावों की व्यंजना में गौड़ मार्ग की परुष प्रकृति ही अनुकूल और रमणीय होगी। अतः किसी मार्ग, रीति या शैली को निरपेक्ष रूप में सुन्दर या असुन्दर मान लेना समीचीन नहीं। यद्यपि दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में वैदर्भ मार्ग को उत्कृष्ट और गौड़ मार्ग को निकृष्ट नहीं कहा है फिर भी उनके विचार के मूल्यांकन से यह स्पष्ट है कि उनका झुकाव वैदर्भ मार्ग की ओर अधिक था। दोनों मार्गों के गुणों और उनके विपर्ययों की स्थिति दण्डी ने इस प्रकार प्रस्तुत की है –

वैदर्भ मार्ग गुण	**:**	**गौड़ मार्ग विपर्यय**
01. श्लेष	:	शैथिल्य
02. प्रसाद	:	व्युत्पन्न
03. समता	:	वैषम्य
04. माधुर्य	:	वर्णानुप्रास
05. सौकुमार्य	:	दीप्त
06. अर्थव्यक्ति	:	–
07. औदार्य	:	–
08. ओज	:	ओज

09. कान्ति	:	अत्युक्ति
10. समाधि	:	–

वैदर्भी की तुलना दण्डी ने उस कुलवधू के साथ की है जो स्वाभाविक सौन्दर्य और सरस वचनों से समादर पाती है। दूसरी ओर गौड़ी की समता उस गणिका से की गई है जिसके वस्त्राभूषण बनावटी चकाचौंध उत्पन्न करते हैं।

स्पष्ट है कि भरत से लेकर दण्डी तक रीति भेदों की चर्चा का आधार वैदर्भ, गौड़ जैसी भौगोलिक सीमाओं पर केन्द्रित है। रीतिवाद के प्रस्तावक वामन का वर्गीकरण भी इससे भिन्न नहीं है।

6.2.2.2 वामन प्रवर्तित रीति-भेद

रीतिवाद का सूत्रपात करते हुए वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया। उनके अनुसार, रीति का लक्षण है, 'विशिष्ट पद रचना'। निश्चय ही वामन ने सुन्दर पद-रचना को रीति माना और उसी को काव्य का प्राण-तत्त्व सिद्ध किया। वामन शब्दगत गुणों को पद-बंध का गुण मानते थे परन्तु रीति में अर्थगुणों का होना भी वांछनीय मानते थे। उनके अनुसार, अर्थ-गुण रीति के महत्त्व को बढ़ाते हैं। वामन के अर्थगुणों का स्वरूप बहुत व्यापक है। कान्ति अर्थगुण तो काव्य के रसमय होने का गुण है। स्पष्ट है कि वामन रीति का सम्बन्ध मुख्यतः तो पदों की सुन्दर संरचना से मानते हैं परन्तु उसमें अर्थ-सौन्दर्य की भी अपेक्षा रखते हैं।

पूर्व आचार्यों द्वारा मान्य रीति-भेदों में पांचाली का समावेश करते हुए वामन ने तीन रीतियों की चर्चा की है – वैदर्भी, गौड़ीय, पांचाली। इन्हीं तीन रीतियों पर वामन का सम्पूर्ण रीति-चिन्तन आश्रित है। इन्हीं तीन भेदों का उल्लेख परवर्ती आलंकारिकों और रीतिशास्त्रियों ने भी किया है। वामन द्वारा प्रवर्तित तीन रीति-भेद हैं –

6.2.2.2.1 वैदर्भी रीति

माधुर्य व्यंजक वर्णों की ललित रचना को वामन ने वैदर्भी रीति कहकर सम्बोधित किया है। समास रहित अथवा छोटे समास वाली सुकुमार काव्य रचना को वैदर्भी कहा गया है, क्योंकि माधुर्य और लावण्य, सारस्य और प्रसादत्व की विलक्षण योजना ही वैदर्भी को मूर्त करती है। माधुर्य गुण से ओतप्रोत वैदर्भी रीति के उदाहरणस्वरूप तुलसीदास की चौपाइयाँ हैं –

चली संग लै सखी सयानि। गावत गीत मनोहर बानी॥
सोह नवल तनु सुन्दर सारी। जगत जननि अतुलित छबि भारी॥
भूषण सकल सुदेस सुहाए। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥

– (रामचरितमानस, बालकाण्ड, 248 / 1-4)

इसी तरह सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'वसन्त की परी के प्रति' कविता में भी वैदर्भी रीति लक्षित है –

आओ, आओ फिर मेरे वसन्त की परी –
छवि विभावरी।
सिहरो, स्वर से भर-भर, अम्बर की सुन्दरी –
छवि विभावरी।
बहे फिर चपल ध्वनि-कलकल तरंग
तरल मुक्त नव-नव छल के प्रसंग,
पूरित परिमल निर्मल सजल-अंग
शीतल-सुख मेरे तट की निस्तल निर्झरी –
छवि विभावरी।

– (निराला रचनावली, भाग-1, पृष्ठ 362)

6.2.2.2.2 गौड़ी रीति

ओज को साकार करने वाले वर्णों से युक्त बहुत सारे सामासिक पदों और आलंकारिक आडम्बरों से युक्त चमत्कारपूर्ण रीति को वामन ने गौड़ी कहा है। इसे ही कुन्तक ने कविता का विचित्र मार्ग घोषित किया है क्योंकि इसमें अलंकारों की इतनी अधिक सजावट होती है कि उक्ति की विचित्रता ही गौड़ी रीति का उद्देश्य बन जाती है। गौड़ी रीति को परुषा वृत्ति भी कहते हैं। इसके उदाहरणस्वरूप तुलसीदास की पंक्तियाँ हैं –

कुंभकरन रन रंग बिरुद्धा। सन्मुख चला काल जनु कुद्धा॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टीड़ी गिरि गुहाँ समाई॥
कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा॥
मुख नासा श्रवनन्हि कीं बाटा। निसरि पराहिं भालु कपि ठाटा॥

– (रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, 67 / 1-4)

इसी तरह सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' की इन पंक्तियों में भी ओजवर्धक गौड़ी रीति लक्षित है –

विच्छुरित वह्नि-राजीवनयन-हत लक्ष्य-बाण,
लोहितलोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर,

– (निराला रचनावली, भाग-1, पृष्ठ 329)

6.2.2.2.3 पांचाली रीति

पांचाली रीति की कल्पना करते हुए वामन ने स्थापना दी है कि वैदर्भी और गौड़ी रीतियों से बचे हुए वर्णों से युक्त और छोटे सामाजिक पदों से रचित काव्य शैली पांचाली कही जा सकती है। इस मध्यम मार्ग में न तो सौकुमार्य का लावण्य है और न अलंकारों की सजावट। कवियों ने इस दोनों का समन्वय करते हुए पांचाली रीति का अनुगमन किया है। पांचाली का उदाहरण तुलसीदास का यह भक्तिसम्भव दोहा है–

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुवीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भवभीर॥

– (रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 130-क)

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'सरोज स्मृति' की अन्तिम पंक्तियाँ इसी पांचाली रीति का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं –

मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दु:ख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ, आज जो नहीं कही।

– (निराला रचनावली, भाग-1, पृष्ठ 323)

वामन की मान्यता है कि इन तीन रीतियों में समग्र काव्य उसी तरह समाविष्ट रहता है। जैसे रेखाओं में ही समग्र चित्रकला समाविष्ट रहती है। जैसे रेखा से अलग चित्र का अस्तित्व नहीं, वैसे ही रीतियों से पृथक् काव्य की सत्ता नहीं। महत्त्व की दृष्टि से इन तीन रीतियों में तारतम्य माना गया है। समग्र गुण-सम्पन्न वैदर्भी सर्वोत्कृष्ट रीति है। इस रीति के संस्पर्श से काव्य की वस्तु आस्वाद्य बन जातीहै। यदि काव्य की वस्तु भी सुन्दर हो और उसे इस उत्कृष्ट रीति में प्रस्तुत किया गया हो तो उस स्थिति में उस काव्य-वस्तु के प्रभाव का तो कहना ही क्या। जहाँ वस्तु तुच्छ और उपेक्षणीय भी होती है वहाँ भी यदि वैदर्भी रीति का प्रयोग होता है तो वह वस्तु रमणीय और आस्वाद्य बन जाती है। गुणों की विशदता और गुणों की समग्रता की दृष्टि से वामन ने वैदर्भी रीति में सभी गुणों और सभी काव्यगत विशेषताओं का समाहार स्वीकार किया है। रीतियों में वैदर्भी को श्रेष्ठ मानते हुए भी वामन ने गौड़ी और पांचाली को भी काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण माना है।

वैदर्भी आदि रीतियों का नामकरण विदर्भ आदि प्रदेशों के नाम पर किया गया है। स्वयं वामन ने यह स्पष्ट किया है कि इन प्रदेशों में अर्थात् इन प्रदेशों के कवियों के काव्य में इन रीतियों का विशेष प्रयोग मिलता है। वैदर्भ, गौड़ और पांचाल देशों में वहाँ के कवियों ने क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियों का उनके वास्तविक रूपों में, मुख्यतः प्रयोग किया है इसलिए इनके नाम विदर्भादि के नामों पर रखे गये हैं। वस्तुतः यह प्रदेश का प्रभाव नहीं

है। वामन का अभिमत है कि तत्त्व रूप में रीतियों की सत्ता पहले थी और उनका प्रदेशानुसार नामकरण बाद में हुआ है। रीतियों के नामकरण के प्रादेशिक आधार की कल्पना सर्वथा निराधार नहीं है, उसके पीछे एक व्यावहारिक तर्क है। फिर भी इसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि मानव का स्वभाव अथवा व्यक्तित्व प्रादेशिकता में आबद्ध नहीं है। कवि का व्यक्तित्व असाधारण प्रतिभा और वैशिष्ट्य सम्पन्न होता है, अतः उसके लिए प्रादेशिकता का बन्धन और भी सामान्य होता है। वामन के रीति-भेद का यही आधार है।

6.2.2.3 वामन के परवर्ती रीति-भेद

वामन के अनन्तर रीति-चिन्तन में भौगोलिक प्रभेदों की जगह नए प्रभेद-आधार विकसित हुए इस नयेपन का समारम्भ रुद्रट ने किया। रुद्रट ने ही सर्वप्रथम रीतियों का सम्बन्ध रस से जोड़ दिया और वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों के अतिरिक्त 'लाटीय' नाम की एक नवीन रीति का उद्‌भावना की उनके अनुसार, रीतियाँ चार हैं – वैदर्भी, पांचाली, लाटीय और गौड़ी। शृंगार और करुण जैसे कोमल रसों में वैदर्भी रीति की, भयानक और अद्‌भुत रसों में रीति की और रौद्र रस में गौड़ी अथवा लाटीय रीति की योजना अनुकूल होती है। स्पष्ट है कि रुद्रट ने वैदर्भी और पांचाली रीतियों को कोमल तथा गौड़ी और लाटीय रीतियों को ओजस्वी माना है। वे रस के माधुर्य और ओज के अनुरूप कोमल और ओजस्वी रीतियों की योजना को काम्य मानते थे। रीतियों के स्वरूप-विवेचन में रुद्रट ने समास-रहित, दीर्घ-समास, स्वल्प-समास और मध्यम समास के आधार पर चार रीतियों का स्वरूप निर्धारित किया है। उनके अनुसार वैदर्भी रीति में समास नहीं होता, शेष रीतियों के सन्दर्भ में रुद्रट का मत है –

पांचाली	–	लघु समास
लाटीय	–	मध्य समास
गौड़ीय	–	दीर्घ समास

समास की मौलिक कल्पना और लाटीय रीति की उद्‌भावना द्वारा रुद्रट ने परवर्ती रीति चिन्तकों को नए प्रयोग करने का अवसर दिया।

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इस प्रयोग को एक काल्पनिक कथा का आधार दिया। उनकी कल्पना है कि काव्यपुरुष की प्रियतमा साहित्यवधू देश की चार दिशाओं में प्रियतम की तलाश करती है और जहाँ जाती है वहाँ के विलक्षण वेश एवं वाणीविन्यास को ग्रहण करती है। वचनों के इसी विन्यास के क्रम को राजशेखर ने रीति कहा है। काव्यपुरुष की खोज में गौड़, पांचाल, अवन्ति और दक्षिण की ओर गई साहित्यवधू भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रवृत्तियों और वृत्तियों से जुड़ी। राजशेखर का विवरण इस प्रकार है –

क्षेत्र	प्रवृत्ति	वृत्ति	रीति
गौड़	औड्रमागधी	भारती	गौड़ी
पांचाल	पांचालमध्यमा	सात्वती	पांचाली

अवन्ति	आवन्ती	कौशिकी	–
विदर्भ	दक्षिणात्या	कौशिकी	वैदर्भी

राजशेखर ने वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी के साथ ही साथ अपने नाटक 'कर्पूरमंजरी' में मागधी रीति का उल्लेख किया है और 'बालरामायण' नाटक में मैथिली रीति का वर्णन किया है। वामन द्वारा प्रवर्तित तीन रीतियों के समानान्तर मागधी और मैथिली जैसी नई रीतियों की उद्‌भावना राजशेखर ने की। उनकी 'मागधी' रीति की चर्चा बाद में भोजराज ने भी की है। साथ-ही-साथ भोजराज ने 'अवन्तिका' रीति के रूप में एक नई रीति का संकेत भी दिया। भोजराज के अनुकरण पर रीतियों की संख्या लगातार बढ़ती गई। जैसे, शारदातनय के 'शृंगार प्रकाश' में 105 रीतियों का उल्लेख है। उन्होंने सौराष्ट्री और द्राविड़ी जैसी रीतियों का विस्तार करते हुए कहा है कि रीतियाँ उतनी हैं जितने उनका वचन-व्यवहार करने वाले मनुष्य हैं।

कुन्तक ने रीति चिन्तन को वक्रोक्ति विश्लेषण के क्रम में रीतिभेदों की भौगोलिक चर्चा का निषेध किया। उनका मत है कि रीति तो कवि के आन्तरिक स्वभाव और शब्दार्थ-विलास की अभिव्यक्ति है, देश विशेष से उसका क्या सम्बन्ध है। इसी आधार पर कुन्तक ने सर्वथा मौलिक रूप में गुण और रीति के स्वभाव का विवेचन किया है। वे गुण और रीति का अविभाज्य सम्बन्ध मानते थे। कुन्तक ने सर्वप्रथम रीति या मार्ग का सम्बन्ध कविव्यक्तित्व या कवि-स्वभाव के साथ जोड़ा। उन्होंने वैदर्भ और गौड़ मार्गों की जगह क्रमशः सुकुमार और विचित्र जैसे नवीन नामों का प्रयोग किया। इन दोनों के बीच, उनके अनुसार मध्यम मार्ग है। उन्होंने कुछ गुणों को इन मार्गों का विशिष्ट धर्म माना है। जैसे, माधुर्य सुकुमार मार्ग का प्रथम गुणहै। विचित्र मार्ग में वैचित्र्य या कृत्रिम विन्यास की प्रधानता रहती है। मध्यम मार्ग में दोनों मार्गों के स्वभाव का मिश्रण रहता है। कुन्तक ने अपने द्वारा प्रतिपादित मार्गों के गुणों का उल्लेख भी किया है–

मार्ग	–	**गुण**
सुकुमार मार्ग	–	माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, आभिजात्य
विचित्र मार्ग	–	माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, आभिजात्य, औचित्य
मध्यम मार्ग	–	माधुर्य, प्रसाद, औचित्य, सौभाग्य

कुन्तक के अनन्तर रीति भेदों का विवेचन पूरी तरह भौगोलिक वर्गीकरण से मुक्त हो गया।

आनन्दवर्धन ने गुण और पद-संघटना का सम्बन्ध-भेद स्पष्ट करते हुए रीतियों का सम्बन्ध विविध प्रकार की संघटनाओं से माना है। संघटना तीन प्रकार की होती है– असमासा या समास-रहित अलग-अलग पदों की संघटना। ऐसी संघटना को वैदर्भी रीति के समान माना जा सकता है। इसे उपनागरिका वृत्ति के समान भी माना जा सकता है। इस प्रकार वैदर्भी रीति, उपनागरिका वृत्ति और असमासा संघटना की प्रकृति एक-सी है। इनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं। इसी प्रकार दीर्घ समास वाली संघटना गौड़ी रीति और परुषा वृत्ति तत्त्वतः एक हैं। मध्यम समास वाली संघटना, पांचाली रीति और कोमला वृत्ति में तात्त्विक भेद नहीं। इस साम्य के कारण ही मम्मट आदि

आचार्यों ने रीति एवं वृत्ति को पर्याय मान लिया है। वास्तविकता तो यह है कि मम्मट ने रीतियों का अलग से विवेचन नहीं कर अनुप्रास अलंकार के सन्दर्भ में उपनागरिका, कोमला और परुषा तीन वृत्तियों का उल्लेख किया है और इन्हें क्रमशः पूर्ववर्ती वामन आदि आचार्यों की वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी रीतियों से अभिन्न माना है किन्तु तथ्य यह है कि वामन की वैदर्भी आदि रीतियों से उपनागरिका आदि वृत्तियों में कुछ साम्य तो अवश्य है पर अभिन्नता नहीं है। साम्य यह है कि दोनों का सम्बन्ध पदों या वर्णों की संघटना से है और उपनागरिका वृत्ति और वैदर्भी रीति में मधुरता, परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति में परुषता तथा कोमला वृत्ति और पांचाली रीति में कोमलता समान रूप में पायी जाती है। इतनी समता होने पर भी दोनों में जो भेद है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वृत्तियाँ केवल गुण-व्यंजन वर्णों पर आधृत हैं जबकि वामन ने रीतियों के स्वरूप-निर्धारण में पद-योजना के साथ अर्थ पर भी विचार किया है। रीतियों के स्वरूप में रस, भाव आदि काव्य के व्यापक तत्त्व का भी समावेश कर दिया गया है किन्तु वृत्तियाँ शब्दगत अलंकार, अनुप्रास के भेद-मात्र हैं। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा का गौरवमय पद प्रदान किया परन्तु मम्मट की वृत्तियाँ काव्य को अलंकृत करने वाले बाह्य उपादान के भेद के रूप में ही स्वीकृति पा सकीं। स्पष्ट है कि वामन की रीतियों की प्रकृति मम्मट की वृत्तियों की प्रकृति से कुछ मिलती-जुलती अवश्य है परन्तु दोनों अभिन्न नहीं हैं। मम्मट ने रीति और वृत्ति को पर्याय मानकर वृत्ति-विवेचन में ही रीति के स्वरूप का विवेचन किया है।

विश्वनाथ ने वृत्ति और रीति के स्वरूप पर अलग-अलग विचार किया है। वे भरत की तरह वृत्तियों का सम्बन्ध नाट्य-प्रयोग से मानते थे। उन्होंने आचार्य भरत के द्वारा विवेचित चार वृत्तियों – कौशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी को नाट्य-प्रयोग की वृत्तियों के रूप में स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने रीतियों के स्वरूप का पृथक् प्रतिपादन किया है जो मम्मट की वृत्तियों के स्वरूप के समान हैं। रुद्रट की तरह विश्वनाथ भी रीतियों के चार प्रकार मानते हैं – वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी। इनके अनुसार, काव्य में रीति का वही स्थान है जो मनुष्य के व्यक्तित्व में अवयवों के सुसंघटन का है। रीति काव्य की आत्मा रस आदि का उपकार करती है। आनन्दवर्धन ने रीति का प्रयोग किये बिना पदों की विविध संघटनाओं पर विचार किया था। मम्मट की पदसंघटना धारणा और मम्मट की वृत्ति-धारणा के आधार पर ही रीतियों के स्वरूप पर विचार किया है।

प्रारम्भ में रीतियों का नामकरण देश अथवा क्षेत्र के भौगोलिक आधार पर किया गया लेकिन उनके स्वरूप का निर्धारण गुण, स्वभाव और पदरचना के आधार पर ही किया गया। इसी कारण क्रमशः भौगोलिक वर्गीकरण के स्थान पर रीति के प्रभेदीकरण के नए मानक उभरते गए।

6.2.3 रीति और शैली

'रीति' शब्द साहित्य-शास्त्र में प्राचीन सामान्य पद-रचना या रीतियों के लिए ही रूढ़ बनकर रह गया। हिन्दी और अन्य आधुनिक भाषाओं में रीति के स्थान पर 'शैली' शब्द का प्रचलन है। आजकल शैली में व्यक्तित्व और भाषिक व्यवहार पर अधिक बल दिया जाता है। यह एक संयोग ही है कि ये दोनों शब्द अपने अर्थ की सार्थकता प्रकट कर रहे हैं। रीति का अर्थ पद्धति, रिवाज, मार्ग, ढंग आदि है। इसमें परम्परा का अंश अधिक

रहता है। अतः सामान्य मार्ग या सामान्य पद्धतियों के रूप में ही रीति शब्द अपनी सार्थकता प्रकट कर सकता है। दूसरी ओर शैली रीति का आधुनिक नाम मात्र नहीं है। रीति के तात्पर्य से व्यापक और नए अर्थों में शैली को स्वीकार किया गया है। रीति और शैली के बीच साम्य और अन्तराल के कई स्तर शास्त्रकारों के बीच चर्चा और विवाद के केन्द्र में है।

6.2.3.1 शैली और अवधारणा

शब्दकोशों के अनुसार शैली का अर्थ है – प्रणाली, कथन या सृजन की विशेष भंगिमा और विशिष्ट कार्यपद्धति। शैली अंग्रेजी शब्द STYLE के अनुवाद या विकल्प के तौर पर प्रचलित है। STYLE की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'स्टाइलस' है जिसका अर्थ है – तीखी और नुकीली कलम। इतिहास साक्षी है कि कालान्तर में 'स्टाइलस' का यह अर्थ रहा नहीं। विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया की भंगिमाओं के बीच इसका मूल अर्थ सुरक्षित नहीं रह सका और जब मूल अर्थ रहा ही नहीं तो फिर कितने ही अर्थ बनते गये। लिखने का ढंग, लिखित रचना, लेखक विशेष की अभिव्यक्ति की विशिष्टता, साहित्य रचना की रूपगत विशेषताएँ बोलने का लहजा, रीति या प्रथा और किसी रचनाकार की रचना पद्धति विषयक विशिष्टता का युग, जाति, देश या वर्ग-विशेष के कलाकारों की रचना पद्धति विषयक वैशिष्ट्य जैसे कई अर्थ उभरते ही गए। स्पष्ट है कि जिस 'स्टाइल' शब्द का अर्थ केवल लेखनी था, वह कई अर्थों के मार्ग से गुजरता हुआ 'रचनाकार' के वैशिष्ट्य तक जा पहुँचा।

शैली शब्द ने काफी परिधि बना ली है और हमारे जीवन के कितने ही व्यावहारिक क्रिया धर्मों और तौर-तरीकों तक में प्रवेश कर गया है। यही कारण है कि आज की 'स्टाइलिश' दुनिया में हर चीज का 'स्टाइल' बन गया है। चाहे वह वस्त्र-विक्रेता या वस्त्र निर्माता हो या दर्जी हो, वकील हो, शिक्षक हो, पहलवान हो, नौकर हो, सभी के अपने अपने काम की एक 'स्टाइल' है या बन गया है। बात यहाँ तक आ पहुँची है कि आजकल तो प्रेम करने और प्रिय-प्रिया के विरह में रोने या आँसू बहाने और आत्मीयजनों द्वारा सहानुभूति और सांत्वना प्रदर्शित करने तक का 'स्टाइल' बन गया है। हर रोज बदलती दुनिया में 'स्टाइल' नये से नये रूप में सामने आ रहा है। ऐसी स्थिति में 'स्टाइल' शब्द में 'सामान्यत्व' आ गया है और वह 'पद्धति-विशेष' का ही वाचक बनकर रह गया है। हिन्दी का शैली शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है किन्तु अन्तर यही है कि शैली शब्द का प्रयोग साहित्यिक या कलात्मक सन्दर्भों में ही करते हैं जबकि शैली या स्टाइल दैनिक जिन्दगी में भी प्रवेश कर गया है। एक दुनिया केवल साहित्यकारों और कलाकारों की है और दूसरी ओर जीवन-चक्र में संलग्न शेष लोगों की दुनिया है। शैली सभी स्तरों पर व्याप्त है, उपयोगी है।

साहित्यिक सन्दर्भ में वैयाकरणों के अनुसार 'शैली' शब्द 'शील' धातु से स्वार्थ में 'अङ्' प्रत्यय के योग एवं डीप् आदेश से व्युत्पन्न हुआ है। स्वभाव, आचरण और प्रकृति वाचक 'शील' धातु से व्युत्पन्न यह शब्द कालप्रवाह में किस प्रकार रीति, मार्ग, पद्धति आदि का वाचक बन गया, यह शब्द विज्ञान और अर्थ विज्ञान के पृथक् रोचक शोध का विषय है। शैली की नव्य संकल्पना प्रधानतया भाषा से जुड़ी हुई है इसीलिए भाषा की विविध रूपता के विभिन्न उपकरण ही शैली के नियामक हैं। शैली का आधार भाषा है लेकिन भाषा की शैली नहीं

है। शैली अभिव्यक्ति की एक पद्धति है लेकिन अभिव्यक्ति शैली नहीं है। शैली में वस्तु का समावेश होता है लेकिन वस्तु प्रस्तुति ही शैली नहीं है। शैली के सन्दर्भ में यह सोचना तनिक भी अप्रासंगिक नहीं है कि उसका सम्बन्ध रचनाकार के अन्तर्गत व्याप्त शील, भाषा के रागात्मक उपकरणों और साहित्य के सर्जनात्मक संकल्पों से हो। इसी कारण शैली ने पारिभाषिक शब्द के रूप में अनेक व्याख्याएँ ग्रहण की है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका मनमाना उपयोग होता रहा है। कभी इसका सम्बन्ध व्यक्तित्व से जोड़ा गया है तो कभी समूह से, कभी इसे सामाजिक सन्दर्भ से जोड़ा गया है तो कभी सांस्कृतिक सन्दर्भ से। किसकी शैली है अथवा किसमें शैली है, के नजरिए से 'शैली' को परिभाषित करने की परम्परा जब श्रान्त हुई तब शैली के अनेक नए पारिभाषिक प्रतिमान सामने आए। जैसे –

भोलानाथ तिवारी के अनुसार – "शैली भाषिक अभिव्यक्ति का वह विशिष्ट ढंग है जो प्रयोक्ता के व्यक्तित्व तथा विषय से सम्बद्ध होता है तथा जो विलन, चयन, सुसंयोजन, समानान्तरता एवं अप्रस्तुत विधान आदि सामान्य अभिव्यक्ति के लिए असुलभ उपकरणों पर आधृत होता है।" – (शैलीविज्ञान, पृष्ठ –21)

इस शृंखला में शैली की अनेक परिभाषाओं और कई तत्सम्बन्धी विचारों को एकत्र किया जा सकता है। उनके आधार पर शैली की अधोलिखित सूत्र विशेषताएँ उभरती हैं –

1. शैली व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है।
2. शैली विचारों का परिधान है।
3. शैली भाषिक सम्प्रेषण का साधन है।
4. शैली रचना में वांछित प्रभावात्मकता का उत्पादक है।
5. शैली चिन्तन और अभिव्यक्ति की मौलिकता है।
6. शैली भाषिक संरचना है।
7. शैली चयनित शब्दों का विशिष्ट प्रयोग है।
8. शैली भाषिक मानस से किया गया प्रस्थान है।
9. शैली व्याकरण की सम्भावनाओं की दिग्दर्शक है।

'शैली सर्जनात्मक आशय से सम्पृक्त अस्मिताव्यंजक अभिव्यक्ति उपस्कर है – "आस्वाद और सम्प्रेषण के धरातल पर अपनी भाषिक संभावनाओं के कारण निरन्तर नवीन सुनियोजित संरचना"। भाषिक अभिव्यक्ति का शैलीय विश्लेषण सर्जक और पाठक-आलोचक की परस्पर सम्बद्धता का परिचय देता है। बोलचाल की जो भाषा इन दोनों ही वर्गों के लिए सुपरिचित तथा बोधगम्य होती है, रचनाकार उसी भाषा को अपनी निजी क्षमता, अनुभूति और अभिव्यंजक मनीषा के द्वारा माँज कर सही शब्दावली के विनियोग द्वारा संगत संरचना प्रदान करता है। रोग के शीघ्र एवं समूल निदान के लिए सतर्क चिकित्सक जैसे सुचिन्तनपूर्वक सही औषधि का चुनाव करता है वैसे ही रचनाकार सही शैली के विनियोग द्वारा अपनी बात स्पष्टतया वैविध्यपूर्वक प्रभावशाली भंगिमा में प्रस्तुत

करता है। शैली में बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक तीनों ही स्तरों पर विभिन्न गुणों या विशिष्टताओं की अपेक्षा की जाती है।

बौद्धिक गुण	भावात्मक गुण	सौन्दर्यात्मक गुण
स्पष्टता	भावना	लालित्य
बोधगम्यता	अनुभूति	लावण्य
प्रसादत्व	भावावेश	औदात्य
सरलता	संवेदना	आरोह-अवरोह
गूढ़ता	कारुणिकता	सामंजस्य
दुरूढ़ कल्पना	सत्यता	राग
दुरूहता	कृत्रिमता	प्रगीतात्मकता
गहनता	अपकर्ष	काव्यात्मकता
गुह्यता	कपट	—
निगूढ़ता	निरालापन	—
वस्तुपरकता	परिहास	—
आत्मपरकता	वाग्वैदग्ध्य	—
सजीवता	विडम्बना	—
अकाट्यता	भर्त्सना	—
ऊर्जस्विता	कटाक्ष	—
ओजस्विता	उपहास	—
दीप्ति	दुर्वचन	—
प्रभावात्मकता	अपवादन	—
कृत्रिमता	ताड़न	—
पारम्परिकता	गर्हणा	—
शास्त्रीयता		
स्वच्छन्दता		

शैली का उल्लेख इन सब धागों से बुने हुए ऐसे जाल के रूप में किया गया है जो अर्थ की ऊँचाइयों को छूने, कथ्य को पुरस्सर बनाने और अभिव्यक्ति को प्रभाव-तीव्र बनाने के लिए गठित होता है। शैली के क्षेत्र में भाषा शैलीविहीन नहीं होती लेकिन रचनात्मक भाषा के शैलिकीय उपादान अपने सूक्ष्मतम रूप में भी मुखर रहते हैं। वर्ण से लेकर वाक्य तक, मुहावरों से लेकर विराम-चिह्नों तक के स्वर शैली में सुनाई पड़ते हैं। इसी कारण रचना की परोसी हुई थाल का आस्वादन इस औत्सुक्य का उदय करता है कि व्यंजन किन तत्त्वों से बना है। इस तरह अभिव्यक्ति की सफलता और विफलता के नियामक उपादानों के समुच्चय का नाम शैली है।

शैली कृति के माध्यम से कृतिकार के मंतव्य तक पहुँचने का साधन है। शैली वैज्ञानिकों ने प्रयास किया है कि कृति की संरचना और गठन के माध्यम से कृतिकार को अभिचिह्नित किया जाय और भाषा केन्द्रित चिन्तन की पड़ताल की जाय। स्वभावतः किसी शैली का चिन्तन वस्तुपरक होता है और दृष्टि भाषावादी होती है। इसी कारण शैली के नियामक घटकों की सूची में शिल्प और संरचना के विविध उपकरण एक साथ समाविष्ट होते हैं। अब शैली से अभिप्राय रचना विशेष के लिए स्वीकृत विद्या के शैल्पिक अभिव्यंजना-फलकों से ही नहीं है, अपितु सामान्य से भिन्न भाषिक कथन, चयन, प्रतिमान से विचलन, सादृश्य की विलक्षणताओं और व्याकरण की अमित सम्भावनाओं से शैली का निर्माण होता है क्योंकि शैली भाषा का ही एक विशिष्ट प्रकार्य है, इस नाते शैली के तमाम उपकरण भाषागत होते हैं। भाषा की संग्राहक शक्ति और संवाहक सामर्थ्य को शैली के विविध उपकरण जीवित रखते हैं। शैलीय तत्त्वों की परख के बिना न रचनात्मक भाषा की अंतरंग पड़ताल सम्भव है और न शब्द मैत्री से निखरती हुई अर्थ छवियों का इन्द्रजाली प्रभाव ही लक्षित किया जा सकता है। हर रचना अपने सर्जक के अनुकूल शैलीय उपकरणों से बुनी होती है और उसकी बुनावट वैचारिक नियन्त्रण और संरचनात्मक लालित्य की एकमात्र परिणति होती है। प्रभावपूर्ण सम्प्रेषण द्वारा भाषा की विन्यासधर्मी सजग संरचना के सूत्रों का संकेत शैली से होता है। कथ्य और रूप, विचार और अभिव्यक्ति का यह एक गंगा-जमुनी प्रयास हैं। निष्कर्ष यह कि शैली सबसे पहले भाषा है और अन्त में भी भाषा ही है।

न तो कोई भाषा किसी ने अकेले रची है और न कोई भाषा किसी के एकल उपयोग में आती है। भाषा समूचे परिवेश की सम्पदा है और हम एक-दूसरे तक अपने मंतव्यों को पहुँचाने के लिए इसी सम्पदा के विविध उपकरणों का सहारा लेते हैं। समाज का पारस्परिक सम्पर्क और जीवन का सारा कार्य-व्यापार सामान्य भाषा के सहारे चलता है।

सामान्य भाषा एक लोचदार बहुव्याप्त भाषिक संकल्पना है। पद, वाक्य, ध्वनि और अर्थ की अनेकानेक परतों का उपयोग हमारे सामान्य भाषा-व्यवहार में होता है। इस क्रम में सामान्य भाषा की अभिव्यक्ति-क्रिया एक सुनिश्चित व्यवस्था के अधीन होती है। वक्ता द्वारा भेजे गए सन्देश को श्रोता सहजतापूर्वक स्वीकार करता है। सन्देश के सम्पूर्ण कथ्य के लिए एक पूर्व निश्चित मानक संकेत (कोड) व्यवस्था है, जिससे विचलित होने की संभावना नहीं के बराबर होती है लेकिन सही सामान्य भाषा जब साहित्यिक उपादान के रूप में व्यक्त होने लगती है तब रचनात्मक भाषा का एक भव्य आलोक विकीर्ण होता है। सामान्य भाषा में उपस्थित शब्द और अर्थ के समवायों को रचनाकार अपनी प्रयोग संरचना द्वारा एक चमत्कारपूर्ण विच्छलता प्रदान करता है। स्वभावतः सामान्य भाषा से रचनात्मक भाषा का अलगाव वास्तुशिल्पीय संरचना के स्तर पर कम होता है, उद्देश्य के धरातल पर अधिक लक्षित होता है। सामान्य भाषा और रचनात्मक भाषा का पार्थक्य स्थूलतः प्रस्तोता, प्रस्तुति और ग्रहणकर्त्ता पर आधृत है। सामान्य भाषा से रचनात्मक भाषा का केन्द्रीय अलगाव नियमों से विपरीत और मनचाही अभिव्यंजना में परिलक्षित होता है। साहित्यिक सर्जना का लक्ष्य केवल तथ्यों की प्रस्तुति ही नहीं है। सामान्य भाषा इतनी अप्रीतिकर और आरोहावरोहरहित होती है कि उसमें अर्थ संकेत के सतही धरोहर के ऊपर सम्प्रेषण सम्भव नहीं होता। सामान्य भाषा को रचनात्मक भाषा का संव्यान देने की बहुविधि कोशिशें हुई हैं। इसी तरह

यथावसर रचनात्मक भाषा और सामान्य भाषा को एकरूप कर देने के प्रयास हुए हैं। सहज दैनिक व्यवहार के शब्दों के प्रयोग की संस्तुति करने वालों ने हमेशा यह तर्क दिया है कि यथार्थ के स्पन्दन से सृजनशीलता को जोड़ने का सबसे सहज मार्ग है, 'बोलचाल की भाषा का काव्यभाषा के रूप में स्वीकार', लेकिन रचनात्मक भाषा जब सामान्य भाषा की तरह तथ्यों की सूची प्रस्तुत करने लगती है तो लगता है जैसे कोई सुकुमारी चौराहे पर खड़ी होकर बाजार भाव सुना रही हो। यद्यपि रचनात्मक भाषा के मूलभूत उपकरण सामान्य भाषा से ही ग्रहण किये जाते हैं तथापि ये शैलीय उपकरण रचनाकार की विशिष्ट अनुभूति तथा सम्प्रेषण-लालित्य से जुड़कर एक चमत्कारपूर्ण भाषा-संसार की सर्जना कर डालते हैं। जीवन की प्राणोर्जा से बिंधी हुई यह भाषा सूक्ष्मतम अनुभवों की तीव्रतम अभिव्यक्ति में समर्थ होती है। न कोई साहित्यिक सर्जना अपने परिवेश से अनालिंगित रहती है और न रचनात्मक भाषा सामान्य भाषा की अर्थ-छटाओं का पालन करती है।

स्पष्ट है कि सामान्य भाषा से रचनात्मक भाषा का अलगाव लक्ष्य और संकल्पना के अनेक स्तरों पर है। सबसे मोटी बात तो यह है कि सामान्य भाषा एक उच्चरित एवं सूचनात्मक भाषा है जबकि रचनात्मक भाषा लिखित एवं सम्प्रेषणात्मक होती है। एक निश्चित और सूचित अर्थ की सत्ता सामान्य भाषा का नियमन करती है जबकि रचनात्मक भाषा अनिश्चित अर्थ से सम्पृक्त सम्प्रेषण को प्रस्तुत करती है। बोलचाल की भाषा में प्राथमिक इकाई के रूप में वाक्य को स्वीकार किया गया है जबकि रचनात्मक भाषा सुविन्यस्त शब्दक्रम द्वारा संगठित होती हैं। बोलचाल की भाषा में कदाचित वक्ता और श्रोता के आमने-सामने होने के कारण मात्र शब्द विन्यास से प्रभावोत्पादन का प्रश्न नहीं रहता है। अपनी अभिधात्मक सूचनाओं के लिए सामान्य भाषा को वाणी के अतिरिक्त हाथ, पैर, आँख आदि की चेष्टाओं का सहारा लेना पड़ता है जबकि जटिलतर सांकेतित अभिव्यंजना के लिए भी रचनात्मक भाषा को अपने शैलीय उपकरणों के सहारे ही प्रभामण्डल का निर्माण करना पड़ता है। सामान्य भाषा का व्याकरण धर्मी संगठन तर्क को प्रोत्साहित नहीं करता जबकि भाषा की अवैयाकरणिक रचनात्मक संरचना तर्क की अनन्त यात्रा पर लगातार निकली रहती है। सामान्य भाषा व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन नहीं करती और भाषा की पुराव्यवस्था को प्रौढ़ता प्रदान करती है जबकि रचनात्मक भाषा व्याकरण के नियमों को तोड़ती हुई भाषा की नव व्यवस्था को जन्म देती है। भाषा की यही नई व्यवस्था शैली है। शैली के कारण ही रचनात्मक भाषा का एक नए सर्जना लोक की सर्जना करती है। अपनी अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं की प्रस्तुति के लिए जिन साधनों और प्रक्रियाओं का उपयोग रचनाकार अपनी पहचान बनाने के लिए करते हैं, वह भंगिमा ही शैली है।

6.2.3.2 रीति और शैली का अन्तराल

रीति और शैली दोनों ही काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। कई स्तरों पर रीति को ही शैली मान लेने की परम्परा रही है। विद्यानिवास मिश्र ने तो 'शैली' शब्द की जगह 'रीति' को मान्यता दी है – "उपयुक्त भाषागत सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को बोधित करने के लिए 'शैली' का प्रयोग उतना संगत नहीं जान पड़ता। इस अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि शुद्ध रूप से सामान्य भाषा के विशेष गुणों के आधार पर विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करने के लिए ही 'रीति' शब्द प्रयुक्त हुआ है।" – (रीतिविज्ञान, पृष्ठ 14)

लेकिन आज के काव्य-चिन्तन में क्रमशः 'रीति' की जगह 'शैली' ने ले ली है क्योंकि रीति की अपेक्षा शैली का अर्थ विस्तार व्यापक है और उसमें सम्प्रेषण की तमाम दिशाओं को छूने का कौशल है। विशेषतः रचनात्मक अभिव्यक्ति में स्थित व्यक्तित्व की वाहिका बनकर शैली अपनी पहचान बनाती है। स्पष्ट है कि शैली वह पद्धति है जो व्यक्ति का कलाकार के विचार या भाव वैशिष्ट्य, व्यक्तित्व वैशिष्ट्य, भाषा एवं प्रयोजन-वैशिष्ट्य को सघन किन्तु प्रभावकारी ढंग से अभिव्यक्त करती है वह सर्जनात्मक पद्धति है जिसमें अभिव्यंजन का समस्त गौरव पुंजीभूत है।

रीति और शैली के बीच साम्य-वैषम्य की अनेक रेखाएँ लक्षित की गई हैं। जैसे –

1. रीति पद रचना की विशिष्टता है तो शैली वह अभिव्यंजना पद्धति है जिसमें वामन वाली पद रचना जनित विशिष्टता का समावेश कम रचनाकार के व्यक्तित्व से निष्पन्न विशिष्टता का समावेश अधिक है। विशिष्टता दोनों में है किन्तु एक की विशिष्टता बाह्य है या गुणों पर निर्भर है। वामन की 'विशेषो गुणात्मक' वाली बात यही है तो दूसरे की विशिष्टता का आधार रचनाकार का व्यक्तित्व, विषयजनित वैशिष्ट्य और भाषा का विशेष प्रयोग है। इनमें पहला तत्त्व ज्यादा महत्त्वपूर्ण है या कहिए सर्वाधिक महत्त्व का है किन्तु अन्य दोनों उपेक्षित नहीं है।
2. रीति और शैली दोनों ही रचना-पद्धति हैं किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर निर्विशेषता और सविशेषता को लेकर है। रीति एक ऐसी पद्धति है जो सामान्य है जबकि शैली विशिष्ट पद्धति है। सामान्य पद्धति रीति के अन्तर्गत है जबकि व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित पद्धति शैली है।
3. रीति में स्थिरता का भाव है जबकि शैली में विकसनशीलता का। रीति का एक साँचा है जिसे बदलना कठिन है जबकि शैली व्यक्ति-वैशिष्ट्य सम्पन्न होने से समयानुकूल परिवर्तित होती रहती है। एक अर्थ में वह सभ्यता के ज्यादा नजदीक है जो गतिशील और अपने नये स्वरूप से आकर्षण बनाये रखने में सक्षम है।
4. रीति में पूर्व नियोजन या पूर्व संकल्प का भाव है। वह रूढ़ि है जो आकर्षणविहीन भी हो सकती है जबकि शैली में ऐसा नहीं है। उसमें सम्भावानाओं के लिए सदैव गुंजाइश रहती है। जब शैली में भी एकरसता या 'मैनरिज्म' विकसित होने लगता है तो वह रीति बनकर रह जाती है। उसका व्यक्तित्व मर जाता है और वह 'लीक पीटने' का पर्याय बनकर रचनाकार के भाव और चिन्तन का भार ढोती है। उसकी उम्र चुक जाने से जीवन्तता समाप्त हो जाती है।
5. रीति और शैली का एक अन्तर प्रयोजनगत और प्रकृतिगत भी है। रीति का प्रयोजन कार्य को पूरा करने तक शुद्धतः और नियमतः पूरा करने तक ही है। जबकि शैली का प्रयोजन कार्य पूर्ति के साथ-साथ उसमें नवीनता व चमत्कार से एक वैशिष्ट्य लाना है। रीति का स्वभाव आदर्शवादी, मर्यादा प्रधान और नियमों में बँधकर चलने का है जबकि शैली में जन्मतः स्वच्छन्दता और समयानुकूलता का भाव है। एक स्थिर है तो दूसरी गतिशील। एक में अपने तत्त्वों को धरोहर मानकर सुरक्षित रखने का भाव है तो दूसरी में धरोहर

से कोई लगाव नहीं है। वह सामयिक जीवन के प्रवाह से अपने लिए वह तत्त्व चुन लेती है जो उसे आकर्षक और तरोताजा बनाये रख सके।

6. प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रीति विशिष्ट पद रचना ही बनी रही जबकि शैली में अभिव्यंजना की अन्य कई दिशाओं के संकेत हैं।
7. रीतियों का वर्गीकरण भौगोलिक अथवा स्वभावगत विशेषताओं के आधार पर ही किया जाता रहा जबकि शैली ने ऐसे अपर्याप्त विभाजनों का निषेध किया है। नव्य शैली विज्ञान ने अपने लिए नए पारिभाषिक शब्द विकसित किए हैं।

इसी आधार पर इधर के शास्त्रकारों ने रीति और शैली को एक दूसरे का पर्याय मानने से इन्कार किया है। फिर भी इतना तय है कि रीति और शैली दोनों ही अभिव्यक्ति कौशल की ओर संकेत करते हैं। शैली ही रूढ़ होकर रीति बनती है और रीति ही शैली को जन्म देती है।

6.2.4 पाठ-सार

कविता के विशिष्ट तत्त्व के रूप में रीति का उल्लेख भारतीय काव्यशास्त्र में प्रारम्भ से ही होता रहा है। प्रवृत्ति और मार्ग के रूप में प्रचलित 'रीति' को वामन ने विशिष्ट पद रचना कहकर सम्मानित किया। शब्दार्थ के धर्म अथवा सौन्दर्य की सबसे पुरानी मान्यताएँ वामन के मत का समर्थन करती हैं। इस क्रम में वामन ने काव्यवस्तु की अपेक्षा कविता की विशिष्ट संरचना पर अधिक ध्यान दिया। वास्तव में रीति-भेदों का निर्धारण इसी विचारधारा पर केन्द्रित है।

भारत के 'नाट्यशास्त्र' में चार प्रकार की भाषिक प्रवृत्तियों की चर्चा है – आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली एवं औड्रमागधी। भामह ने काव्य-सृजन के दो मार्गों की चर्चा की है – वैदर्भी और गौड़ीय मार्ग। इसी परम्परा में दण्डी ने गुण और स्वभाव की दृष्टि से विदर्भ और गौड़ मार्ग का उल्लेख किया है। इनके बाद ही रीति को काव्य आत्मा मानने वाले वामन का उदय हुआ। वामन ने इन तीन श्रेणियों की रीतियों की व्याख्या की है – वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली।

1. वैदर्भी : विदर्भ देश के कवियों द्वारा अधिक प्रयोग में आने के कारण इसका नाम वैदर्भी है। माधुर्यव्यंजक वर्णों के द्वारा की हुई समास सहित अथवा छोटे समासों से युक्त मनोहर रचना को वैदर्भी कहते हैं। वामन और मम्मट इसे उपनागरिका भी कहते हैं। वैदर्भी रीति काव्य में श्रेष्ठ मान्य है। वामन वैदर्भी को 'समग्र गुणा वैदर्भी' कहते हैं। माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त, दीर्घ समासों से रहित अथवा छोटे समासों वाली ललित पद-रचना का नाम वैदर्भी है। यह शृंगार आदि ललित एवं मधुर रसों के लिए अधिक उपयुक्त होती है।

2. गौड़ी : ओज गुण को उत्पन्न करने वाली, कठिन शब्दों और दीर्घ समासों से सम्पन्न रीति गौड़ी है। इस रीति में संयुक्ताक्षरों का प्राचुर्य होता है और कर्णकटु वर्ण अधिक होते हैं। गौड़ी को परूषा वृत्ति भी कहते हैं।
3. पांचाली : इस रीति का प्रथम उल्लेख वामन ने किया है। उनके अनुसार, यह माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न है और अगठित, भाव-शिथिल, छायायुक्त (कान्तिरहित), मधुर और सुकुमार वर्णों से युक्त होती है। इसे प्रसाद गुण और शान्त रस की प्रस्तुति के लिए श्रेष्ठ माना गया है।

वामन के अनन्तर रीतियों का प्रभेदीकरण भौगोलिक स्तर पर लोकप्रिय नहीं रह गया। रुद्रट ने समास के व्यवहार पर रीतियों का विभाजन किया है। उन्होंने ही पहली बार लाटीय रीति का उल्लेख किया। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में चार प्रकार की रीतियाँ सूचित की हैं – गौड़ी, पांचाली, आवन्ती एवं वैदर्भी। इस संख्या में भोजराज और शारदातनय ने भी विस्तार किया। रीति-भेदों के निरूपण में कुन्तक का योगदान महत्त्वपूर्ण था क्योंकि उन्होंने पहली बार सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग की अवधारणा सामने रखी। इतने सारे मतान्तरों के बावजूद वामन द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों का अस्तित्व ही मान्य है।

रीति के साथ शैली के सम्बन्धों पर व्यापक चर्चा होती रही है। कई आचार्यों के अनुसार शैली रीति का पर्याय है लेकिन साम्प्रत शैलीवैज्ञानिक अध्ययन ने इनके बीच पार्थक्य का विस्तृत विवेचन किया है। शताब्दियों से चर्चित रीति की मूल अवधारणा – सौन्दर्य विधायक तत्त्वों से निर्मित शब्द-अर्थ की कलात्मक संरचना-रीति को शैली की धारणा से स्वतन्त्र रूप प्रदान करती है। शब्द और अर्थ की सुन्दर संरचना होने के कारण रीति काव्य के रूप की धारणा के निकट पहुँच जाती है। पर कहीं-कहीं रीति का काव्य के अर्थ या उसकी वर्ण्य वस्तु से भेद भी मान लिया गया है और इस प्रकार रीति को शैली के निकट ला दिया गया है। शैली विचारों और अभिव्यक्तियों को वहन करने का माध्यम है। शैली विज्ञान की स्पष्ट धारणा है कि रचनात्मक भाषा सिर्फ शब्दों का चमत्कार और वाक्यों का जाल ही नहीं तैयार करती, खामोशी के साथ एक नए लोक की सर्जना भी करती है। इसी कारण रचनात्मक भाषा के रास्ते अनुभवों और अर्थों के कलात्मक स्थापत्य को समझना कृति से सीधा साक्षात्कार समझा गया है। रचनाकार, रचना और पाठक-समीक्षक के बीच पारगामी समझ के लिए यह अनिवार्य है कि सर्जनात्मक भाषा के सम्पूर्ण रचना-तन्त्र का वेबाक विश्लेषण किया जाय। रचनाकार अपनी सर्जना को भाषा के विशिष्ट उपयोग द्वारा केवल बेलबूटेदारी से चटक ही नहीं बनाता है अपितु सम्प्रेषण की नई-नई मंजिलों की ओर भी अग्रसर होती है।

रचनात्मक भाषा जानबूझकर पारस्परिक प्रतिमानों की अवमानना करती है, सामान्य अभिव्यक्ति से सर्वथा अनुशासित आचरण करके ही रचना की भाषा में प्रभावक मौलिकता के बीज अंकुरित होते हैं। बोल-चाल की भाषा सर्जक और पाठक, लेखक और समीक्षक दोनों के लिए सुपरिचित, ग्राह्य तथा बोधगम्य होती है। इस प्रचलित भाषा को ही अपनी व्यक्तिगत मनीषा और क्षमता के सहारे माँजकर रचनाकार एक अनूठी शक्ल प्रदान करता है। आकृति का यह अनूठापन, प्रेषण की यह नव्यता, सामान्य भाषा के क्रोड़ से निकली हुई विलक्षणता ही शैली है। शैली का काम सर्जक द्वारा रचना के प्रथम शब्द स्फुरण से प्रारम्भ हो जाता है और लेखनी से अन्तिम

शब्द निकलने तक चलता रहता है। भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भाषा के जो अलग-अलग चेहरे उभरते हैं, उनकी अपेक्षा रचनात्मक भाषा का स्वरूप शैली के संस्पर्श के कारण ही विशिष्ट, सप्रयोजन एवं निजतापूर्ण होता है। भाषा के अर्थवान् प्रयोग की इसी पद्धति को कभी वामन ने 'विशिष्ट पदरचना रीतिः' कहकर आत्मत्व प्रदान किया था। विशिष्ट पदरचना के रूप ने लम्बे अरसे तक साहित्यशास्त्रियों को रचनात्मक अभिव्यंजना पद्धति के पर्यायस्वरूप आकर्षित किया। रीति के इस परम्परागत विश्लेषण को शैली विज्ञान की साम्प्रत उपलब्धियों ने नयी दिशा दी है। निश्चय ही रीति का चिन्तन वस्तुपरक होता है और रीतिशास्त्री की दृष्टि संरचनात्मक लालित्य पर केन्द्रित होती है। भाषा की कार्य क्षमता को रेखांकित करना ही रीति का केन्द्रीय संकल्प है लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि अब ललित कलाओं के अभिव्यंजक-विधान को शैली स्वीकारने के सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं है।

6.2.5 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भरत ने 'रीति' को कौन-सा नाम दिया है ?
   (क) रीति
   (ख) वृत्ति
   (ग) प्रवृत्ति
   (घ) मार्ग

2. भामह के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का नाम है –
   (क) नाट्यशास्त्र
   (ख) लोचन
   (ग) काव्यकौतुक
   (घ) काव्यालंकार

3. वामन के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का नाम है –
   (क) काव्यमीमांसा
   (ख) रसगंगाधर
   (ग) काव्यालंकारसूत्र
   (घ) साहित्यदर्पण

4. 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' किसकी रचना है ?
   (क) मम्मट

(ख) रुद्रट
(ग) वामन
(घ) भोजराज

5. वामन ने किस नई रीति की प्रस्तावना की है ?
(क) पांचाली
(ख) वैदर्भी
(ग) अवन्तिका
(घ) मागधी

6. गौड़ी रीति में किस रस का समावेश है ?
(क) हास्य
(ख) शान्त
(ग) वीर
(घ) भयानक

7. कुन्तक ने रीति के लिए नया नाम दिया –
(क) मार्ग
(ख) रीति
(ग) गुण
(घ) प्रवृत्ति

8. कुन्तक ने वैदर्भी रीति को क्या नाम दिया ?
(क) प्रथम मार्ग
(ख) श्रेष्ठ मार्ग
(ग) सुकुमार मार्ग
(घ) उत्तम मार्ग

9. शैली का अंग्रेजी पर्याय है –
(क) MEANING
(ख) STYLE
(ग) PROSE
(घ) ART

10. रीति पर्याय है –
    (क) विशिष्ट पद रचना
    (ख) रचनात्मक भाषा
    (ग) कवि व्यक्तित्व
    (घ) शैली

लघु उत्तरीय प्रश्न

01. भामह के रीति भेदों का उल्लेख कीजिए।
02. दण्डी की रीति भेद धारणा का परिचय दीजिए।
03. वामन ने किन रीति भेदों का उल्लेख किया है ?
04. वैदर्भी रीति की विशेषताएँ सूचित कीजिए।
05. गौड़ीय रीति की कौन-सी विशेषताएँ हैं ?
06. पांचाली रीति की विशिष्टताओं का परिचय दीजिए।
07. राजशेखर ने रीति भेदों के सन्दर्भ में कैसी नई कल्पना की है ?
08. शैली की परिभाषा दीजिए।
09. सामान्य भाषा और रचनात्मक भाषा में क्या अन्तर है ?
10. "रीति का नया नाम शैली नहीं है।" – अपना मत दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

01. रीति-भेदों के विभाजन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कीजिए।
02. वामन से पूर्व प्रतिपादित रीतिभेदों का विवरण दीजिए।
03. वामन से पूर्व रीतिभेदों की प्रस्तुति में आचार्यों की मान्यताओं का उल्लेख कीजिए।
04. वामन द्वारा प्रवर्तित रीति भेदों का परिचय दीजिए।
05. वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों की आधारभूत विशेषताओं का परिचय दीजिए।
06. वामन के अनन्तर प्रतिपादित रीतिभेदों का विवरण दीजिए।
07. शैली के स्वरूप का विस्तृत परिचय दीजिए।
08. शैली की प्रमुख विशेषताओं का मूल्यांकन कीजिए।
09. "सामान्य भाषा-शैली ही रचनात्मक भाषा की ओर प्रस्थान करती है।" सिद्ध कीजिए।
10. रीति और शैली के अन्तराल का रेखांकन कीजिए।

6.2.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. उपाध्याय, बलदेव (1950) भारतीय साहित्यशास्त्र, वाराणसी, प्रसाद परिषद्

2. सिंह, बच्चन (1994, संस्करण-2) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, चण्डीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादेमी
3. नगेन्द्र (1976) शैली विज्ञान, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस
4. प्रसाद, रामचन्द्र (1973) शैली, पटना, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
5. शर्मा, कृष्ण कुमार (1975) शैलीवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिदर्श,जयपुर, संघी प्रकाशन
6. मिश्र, शोभाकान्त (2011, संस्करण-3), भारतीय काव्य-चिन्तन, पटना, अनुपम प्रकाशन
7. कुमार, सुरेश (1977) शैलीविज्ञान, दिल्ली, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया
8. सिंह, योगेन्द्र प्रताप (2010, संस्करण-4), भारतीय काव्यशास्त्र, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन

6.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. भरत (2001, संस्करण -5) नाट्यशास्त्र, वाराणसी, चौखम्भा विद्या भवन
02. वामन (1995, संस्करण-3), काव्यालंकारसूत्र वाराणसी, चौखम्भा विद्या भवन
03. भामह (1970) काव्यालंकार, पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
04. मम्मट (1995, संस्करण-6) काव्यप्रकाश, वाराणसी, ज्ञानमण्डल
05. बाणभट्ट (2000, संस्करण-4), हर्षचरित, वाराणसी, संजय बुक सेंटर
06. तुलसीदास (2000, संस्करण-89), रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर
07. नवल, नन्दकिशोर (2014, संस्करण-5) निराला रचनावली, प्रथम भाग, सम्पादित,दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
08. पोद्दार, सेठ कन्हैयालाल (1941, संस्करण-4), काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, आगरा, साहित्य रत्न भण्डार
09. तिवारी, भोलानाथ (1977) शैलीविज्ञान, दिल्ली, शब्दकार प्रकाशन
10. नगेन्द्र (1975) शैलीविज्ञान, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड –7 : वक्रोक्ति सिद्धान्त

इकाई – 1 : वक्रोक्ति की अवधारणा, अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

7.1.0 उद्देश्य कथन
7.1.1 वक्रोक्ति की अवधारणा
7.1.2 वक्रोक्ति का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
7.1.2.1 वक्रोक्ति का अर्थ
7.1.2.1.1 संस्कृत काव्यशास्त्रियों का वक्रोक्ति-चिन्तन
7.1.2.1.2 हिन्दी काव्यशास्त्रियों का वक्रोक्ति-चिन्तन
7.1.3 वक्रोक्ति : काव्य आत्मा
7.1.4 वक्रोक्ति में अलंकार और अलंकार्य
7.1.5 वक्रोक्ति और अन्य काव्य-सिद्धान्त
7.1.6 वक्रोक्ति विरोधी आचार्य
7.1.7 वक्रोक्ति सिद्धान्त या सम्प्रदाय

7.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. वक्रोक्ति की अवधारणा, अर्थ, परिभाषा और स्वरूप से परिचित हो पाएँगे।
ii. संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्रियों के वक्रोक्ति-चिन्तन से अवगत हो सकेंगे।
iii. वक्रोक्ति और अन्य काव्य-सिद्धान्तों की पारस्परिकता को समझ सकेंगे।

7.1.1 वक्रोक्ति की अवधारणा

वक्रोक्ति-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त प्रौढ़ काव्य-चिन्तन है। ग्यारहवीं सदी के अन्त में 'राजानक' की उपाधि से पुरस्कृत काव्यशास्त्री 'कुन्तक' ने अपनी पुस्तक 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रोक्ति को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे 'काव्य की आत्मा' माना और 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की स्थापना की। हालाँकि व्यवहार में वक्रोक्ति तभी से रही है जब मनुष्य ने भाषा का व्यवहार पूर्ण रूप में सीख लिया। आज भी श्रोता को चमत्कृत करने के लिए लोग अस्वाभाविक वक्र अथवा टेढ़े कथनों का सहारा लेते हैं। कुन्तक काव्य और उसके सभी तत्त्वों-प्रभेदों का समावेश इसी वक्रोक्ति में करते हैं।

संस्कृत साहित्य समीक्षा के इतिहास में 'वक्रोक्ति' अलंकार 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' के आने से पहले ही मौजूद था। अलंकार, रस, रीति और ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी। ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने

तथा रीति सिद्धान्त में गुण को वामन द्वारा काव्य शोभा-धर्म मानने के बाद अलंकार की प्रतिष्ठा कम हो गई थी। अलंकार आभूषण के अर्थ में संकुचित हो गया था। इस प्रकार एक नए सिद्धान्त की स्थापना के लिए कुन्तक के पास उर्वरा भूमि थी। इससे स्पष्ट होता है कि 'वक्रोक्ति अलंकार' और 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' समय-समय पर व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में प्रयोग होता रहा।

7.1.2 वक्रोक्ति का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

7.1.2.1 वक्रोक्ति का अर्थ

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रचलन अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है। इस विषय में बहुत सारे आचार्यों का अभिमत हमें प्राप्त होता है जिसमें से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण लोगों के अभिमत से हम लोग प्रस्तुत पाठ में परिचित होंगे। भारतीय काव्यशास्त्र में 'काव्य की आत्मा' की खोज के लिए छह मुख्य काव्य सम्प्रदायों का विकास हुआ है। हम यहाँ विस्तार से वक्रोक्ति सिद्धान्त के बारे में अध्ययन करेंगे और जानेंगे कि कोई सिद्धान्त कब सिद्धान्त से सम्प्रदाय बन जाता है। वक्रोक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है – वक्र + उक्ति। वक्र का अर्थ है – 'विलक्षण' या 'कुटिल' तथा उक्ति का अर्थ है – कथन। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ – बाँकपन और विलक्षणता से भरा हुआ कथन। किसी कथन को सामान्य ढंग से कहने से विलक्षणता नहीं आती है अपितु उसे चामत्कारिक ढंग से कहने से उसका बाँकपन या विलक्षणता का उभार होता है। जहाँ बोलचाल की सामान्य भाषा और शास्त्रीय ग्रन्थों की भाषा अलंकारहीन, चमत्कारशून्य, सीधी-सपाट, अभिधात्मक होती है वहीं काव्य की भाषा अलंकृत होने के कारण अनूठी, भंगिमामय और चमत्कारपूर्ण होती है। यहाँ हम वक्रोक्ति शब्द के विकास के अनुक्रम में कुछ काव्यशास्त्रियों के अभिमत से परिचित होते हैं।

7.1.2.1.1 संस्कृत काव्यशास्त्रियों का वक्रोक्ति-चिन्तन

भामह :

वक्रोक्ति की प्रथम बार परिभाषा करने का श्रेय अलंकारवादी आचार्य भामह को है। उन्होंने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया। उनका मानना था कि लोकोत्तर वचन या अनूठी उक्ति को अतिशयोक्ति कहा जाता है। उनके कथन में अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति एक जैसे अर्थ वाले शब्द हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में लिखा है –

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोस्याम कविना कार्यः को अलंकारों अनया बिना॥

– (काव्यालंकार 2.85)

अर्थात् वह अतिशयोक्ति ही सर्वत्र वक्रोक्ति है। इसी के द्वारा अर्थ में चमत्कार या दीप्ति आती है। अतः कवियों को वक्रोक्ति क्षेत्र में प्रयास करना चाहिए। इस वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार नहीं होता है। उनके अनुसार इसके बिना कोई रचना काव्य न होकर कथन समुदाय या वार्ता मात्र रह जाती है। वे 'काव्यालंकार' में लिखते हैं कि "न कांतामपि निर्भूषम विभाति वनितामुखं" अर्थात् नारी का सुन्दर मुख आभूषण रहित होने पर सुशोभित नहीं होता है। उन्होंने इसकी परिभाषा में कहा – "लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम् ।" अर्थात् लोक की साधारण कथन प्रणाली से भिन्न वचन ही वक्रोक्ति है। इस तरह भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया और सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को माना।

दण्डी :

दण्डी ने सम्पूर्ण वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है – स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। "द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।" स्वभावोक्ति में दण्डी के अनुसार पदार्थों का साक्षात् वर्णन होता है और वह आद्य अलंकार है। शास्त्रों में उसका एकच्छत्र साम्राज्य है। वक्रोक्ति इससे सर्वथा भिन्न है। उसमें सहज, स्वाभाविक सीधा, साक्षात् वर्णन नहीं उसमें वक्र अर्थात् चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है। दण्डी के अनुसार श्लेष के सम्पर्क से वक्रोक्ति और भी खिल उठती है। भामह की वक्रोक्ति कल्पना को ही दण्डी ने भी स्वीकार किया है। दोनों लोकवार्ता से भिन्न, विशिष्ट, चमत्कारपूर्ण वाक्-भंगिमा को वक्रोक्ति मानते हैं। उन्होंने अपने 'काव्यादर्श' में स्वभावोक्ति को छोड़कर शेष उपमा आदि सभी अलंकारों को वक्रोक्ति (श्लेष) का पर्याय माना है –

श्लेशः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु किंचन।

– (काव्यादर्श)

वामन :

वामन पहले आचार्य हैं जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे शब्दालंकार नहीं, अर्थालंकारों में स्थान दिया है अर्थात् वामन ने वक्रोक्ति की व्याप्ति को दण्डी से भी अधिक सीमित कर दिया। उन्होंने वक्रता की सीमा केवल 'सादृश्याश्रित लक्षणा' तक मानी –

सादृश्य लक्षणा वक्रोक्तिः ।

– (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 4.3-8)

अर्थात् सादृश्य पर आधारित (गौड़ी) लक्षणा वक्रोक्ति अलंकार कहलाता है। वामन ने वक्रोक्ति को सर्वथा उपेक्षणीय नहीं समझा है। रीति को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए भी 'विशिष्ट पद रचना रीति' में जो विशिष्टता है, वह वक्रोक्ति से बिल्कुल भिन्न नहीं है। वामन का ओज, श्लेष, उदारता, कान्ति आदि शब्द-गुण-बीज-ओज आदि साभिप्राय कुन्तक की पर्याय वक्रता और विशेषण वक्रता का समानधर्मा है। निश्चय ही वामन ने

वक्रता का अनेक रूपों में वर्णन किया है किन्तु अपनी दृष्टि से और अपने ढंग से । वक्रोक्ति का लोकोत्तर चमत्कार उन्हें पूर्णतया ग्राह्य है – केवल शब्दावली भिन्न है । हालाँकि वामन की यह अवधारणा कहीं से भी स्वीकृत नहीं हो सकी ।

रुद्रट :

रुद्रट ने वक्रोक्ति को केवल शब्दालंकार तक सीमित करते हुए इसके दो भेद माने – (i) काकु वक्रोक्ति और (ii) सभंग वक्रोक्ति।

– (काव्यालंकार 2.14 -17)

उन्होंने भामह और दण्डी के समान इसको मान नहीं दिया । उनके अनुसार 'काकु वक्रोक्ति' में उच्चारण एवं स्वर के उतार-चढ़ाव द्वारा उक्ति का वक्र अर्थ किया जाता है और 'श्लेष वक्रोक्ति' में श्लेष के द्वारा ।

भोजराज :

कुन्तक के समकालीन आचार्य भोजराज ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ ग्रहण कराते हुए 'वक्र वचन' को काव्य माना और समस्त काव्य को तीन रूपों में विभाजित किया – (i) वक्रोक्ति (ii) रसोक्ति और (iii) स्वभावोक्ति ।

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।

– (सरस्वती कण्ठाभरणम् : 5.8)

आनन्दवर्धन :

आनन्दवर्धन का समय नवम शती का मध्य भाग है । उन्होंने वक्रोक्ति को विशिष्ट अर्थालंकार के रूप में ग्रहण किया है । इसके पश्चात् मम्मट और विश्वनाथ ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार मात्र माना और रुय्यक, विद्यानाथ और अप्पयदीक्षित ने एक अर्थालंकार मात्र।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त वक्रोक्ति का प्रयोग बहुत व्यापक रूपों में हुआ है । छठी शताब्दी के रचनाकार बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'कादम्बरी' में जिस राजा शूद्रक को नायक बनाया है उसे वे 'वक्रोक्तिमार्ग निपुण' कहते हैं ।

सुबंधुबाणभट्टश्च कविराजः इति त्रयः ।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

– (राघवपाण्डवीयम्)

11वीं सदी में कविराज नामक आचार्य ने 'राघवपाण्डवीयम्' नामक ग्रन्थ में बाणभट्ट को 'वक्रोक्ति निपुण' कहा है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरितम' में वक्रोक्ति को 'नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट अक्षरबंध वाला बताया है –

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेशो क्लिष्ट स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबंधश्च क्रित्स्नमेकत्र दुर्लभं॥

– (हर्षचरितम्)

इस प्रकार संस्कृत साहित्य समीक्षा में वक्रोक्ति व्यापक और सामान्य रूप से आरम्भ से ही मौजूद रहा है। संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में भी इसे व्यापक स्वीकारोक्ति मिली है। आइए, यहाँ उसका भी निदर्शन करते हैं –

7.1.2.1.2 हिन्दी काव्यशास्त्रियों का वक्रोक्ति-चिन्तन

रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य का प्रयोग हिन्दी में भी कम नहीं है। हालाँकि हिन्दी में आलोचना का पाश्चात्य ढाँचा काफी मुखरित हुआ है परन्तु उस पर संस्कृत आलोचना का प्रभाव भी कम नहीं है। समीक्षा के प्रतिमान बदलते रहे हैं और नए ज्ञान और अनुभव के कारण सभी सिद्धान्तों को ठीक-ठीक बैठा पाना थोड़ा कठिन है पर वक्रोक्ति काव्य का पर्याय है तो इससे मुक्ति कैसे मिल सकती है ! संस्कृत में अधिकतर समीक्षा सिद्धान्त 'कला कला के लिए' से ओतप्रोत हैं। कोई भी समीक्षा सिद्धान्त आज भी आप्रसंगिक नहीं लगते हैं और साहित्य में इसकी उपस्थिति हम लोग निरन्तर देख सकते हैं। समीक्षा सिद्धान्त आते हैं और समय के साथ अपना प्रारूप भी बदलते रहते हैं। वक्रोक्ति की विदग्धता को हम हर साहित्य में देखते हैं। अलंकार और रस के बाद आज हम 21वीं सदी में हैं परन्तु ये दो हजार बरस के काव्य हिन्दी में मुखर रूप से कुन्तक की वक्रता का भले ही उल्लेख न हुआ हो परन्तु वक्रता-वैभव प्राचीनकाल से लेकर आज तक के साहित्य में प्राप्य है।

स्वयंभू और विद्यापति के काव्य में मनोहर अक्षरविन्यास तथा अलंकारविधान वक्रता के ही रूप हैं। भक्ति युग के पूर्वार्द्ध में सन्तों की वाणी को भी वक्रता का बल प्राप्त था। कबीर की कविता में व्युत्पत्तिजन्य चारुता तो विशेष नहीं है परन्तु प्रतिभाजन्य विदग्धता इतनी अधिक है कि आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक को उनकी प्रशंसा करनी पड़ी। सगुणभक्ति काव्य में यद्यपि रसवाद की प्रधानता रही फिर भी भाव की समृद्धि के साथ-साथ कला वैचित्र्य का भी सम्यक् विकास हुआ। लीला पुरुषोत्तम की क्रीड़ाओं ने कृष्णभक्त कवियों के लिए वक्रता विलास का अपार क्षेत्र उद्घाटित कर दिया। सूर के काव्य में वक्रता के दोनों पक्षों का सौन्दर्य रूप और विदग्ध उक्तियों का अक्षय वैभव है। गोपियाँ उद्धव से अपने कथन में इसी वक्रोक्ति का सहारा लेती हैं।

रीतियुग के अधिकांश समर्थ कवियों की रचनाओं में वर्ण-वक्रता, पद-वक्रता तथा वाक्य-वक्रता की छटा दर्शनीय है। खण्डिता तथा वचन-विदग्धा एवं क्रिया विदग्धा नायिकाओं की उक्ति में वैदग्ध्य का अपूर्व चमत्कार प्राप्य है। रीतिकाव्य के लक्ष्य काव्य में वक्रता का चरम विकास घनानन्द के कवित्तों में मिलता है। आचार्य केशव ने काव्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह यह दोहा कहा है –

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजहीं, कविता, वनिता, मित्त ॥

इसमें 'सुलक्षणी' शब्द का प्रयोग ही वक्रोक्ति है। केशव कदाचित रीतिकाल के एक मात्र आचार्य सिद्ध होते हैं जिन्हें वक्रोक्ति के व्यापक विभावन का अभिज्ञान था। कविप्रिया के बारहवें प्रभाव में उक्ति अलंकार के पाँच भेदों का उन्होंने वर्णन किया है। इसमें प्रथम ही भेद वक्रोक्ति का है –

केशव सूधी बात में वर्णत टेढ़ो भाव।
वक्रोक्ति तासों कहें सही सवै कविराज ॥

जहाँ पर शब्द सीधे-सादे हों, पर तात्पर्य गूढ़ व्यंग्य हो तो वक्रोक्ति होतीहै। रीतिकाल में वक्रोक्ति के प्रसंग में केशव की दृष्टि युगीन रूढ़ि का अतिक्रमण करती है।

केशव के परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने इसे शब्दालंकार ही माना है और रुद्रट के आधार पर उसके काकु और श्लेष दो भेद किये हैं –

जहाँ श्लेष सों काकु सों, अरथ लगावे और।
वक्र उक्ति वाको कहत, भूषन कवि-सिरमौर ॥

– (भूषण)

काकु वचन अश्लेष करि, और अरथ है जाई।
सो वक्रोक्ति सुबरनिये, उत्तम काव्य सुभाई ॥

– (देव)

आधुनिक युग के आलोचकों ने वक्रोक्ति पर विचार किया है। भारतेन्दु युग में डॉ॰ रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने वक्रोक्ति की महिमा को थोड़ा समझा है। द्विवेदीयुगीन कविता में काव्य के प्रतिमान बदले हैं तथा मूल्यांकन की पद्धति में मौलिक परिवर्तन उपस्थित हुए है। द्विवेदी युग में संस्कृत, हिन्दी की रीति परम्परा से भिन्न पाश्चात्य पद्धति पर आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्म हुआ। द्विवेदीजी ने कला चमत्कार का समर्थन किया – "शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में कोई चमत्कार नहीं, विलक्षणता ही नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।" महावीरप्रसाद द्विवेदी ने "लाइन क्लियर सी

सपाट" शैली को आविष्कृत किया और व्यवहृत भी। उनका अभिमत है कि शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना अति आवश्यक है। यदि कविता में कोई चमत्कार नहीं, कोई विलक्षणता नहीं, तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

छायावादी युग में काव्यशैली में वक्रता (विदग्धता और चारुता) का विशेष महत्त्व स्वीकृत हुआ है। यह वक्रता मात्र शैलीगत न होकर वस्तुगत रूप में परिलक्षित हुई है। प्रसाद ने भी कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्रसाद ने वक्रता को वास्तविक काव्यगुण माना है। पन्त ने नवीन विचारों के प्रकाश में वक्रता की व्याख्या में योगदान किया। इस प्रसंग में काव्यभाषा तथा अलंकार के सम्बन्ध में उनके वक्तव्य उल्लेखनीय हैं – "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों ... जो झंकार में चित्र तथा चित्र में झंकार हों। अलंकार वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे वाणी के हास, अश्रुख स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।

7.1.3 वक्रोक्ति : काव्य आत्मा

भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक मूलतः देहवादी आचार्य हैं। अतएव उनका संसर्ग भामह, दण्डी तथा वामन आदि अलंकार रीतिवादियों के साथ स्वभाव से ही अधिक घनिष्ठ है। उनका काव्य लक्षण भी इन पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य लक्षणों की परम्परा का ही विकास है। कुन्तक के अनुसार काव्य उस कवि कौशलपूर्ण रचना को कहते हैं जो अपने शब्द सौन्दर्य व अर्थ सौन्दर्य के अनिवार्य सामंजस्य द्वारा काव्य मर्मज्ञ को आह्लादित कर देती है। इस प्रकार वक्रोक्ति-चिन्तन काव्यशास्त्र का प्रौढ़ काव्य-सिद्धान्त है। कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवितम्' में इस पर विचार किया है। उनके अनुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति की परिभाषा कुन्तक के अनुसार इस प्रकार है –

प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धाभावः, कविकर्म कौशलं, तस्य भंगीविच्छतिः तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।

अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है) वैदग्ध्य का अर्थ है – विदग्धता-कवि कर्म कौशल, उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता) उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति।

संक्षेप में विचित्र अभिधा (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार –

1. वक्रोक्ति का अर्थ विचित्र अभिधा या उक्ति (कथन प्रकार)।
2. विचित्र का अभावात्मक अर्थ है – प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न। प्रसिद्ध शब्द का स्वयं कुन्तक ने दो स्थलों पर स्पष्ट किया है – (i) "शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबंध व्यतिरेकः"। शास्त्र आदि में उपनिबंध शब्द अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न अर्थ। (ii) अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने

वाली प्रसिद्ध (वक्रोक्ति)। प्रसिद्ध से अभिप्राय है सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त। इन दोनों के आधार पर प्रसिद्ध का अर्थ है – "शास्त्र व व्यवहार में प्रयुक्त"।

3. विचित्र का भावात्मक अर्थ है – वैदग्ध्यजन्य चारुता से युक्त। कुन्तक ने स्थान-स्थान पर विचित्र, चारु आदि शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है।
4. वैदग्ध्य से अभिप्राय है कवि-कर्म कौशल का । अतएव वैदग्ध्यजन्य चारुता का अर्थ हुआ कवि कौशलजन्य चमत्कार।
5. कवि कौशल के लिए कुन्तक ने कवि व्यापार शब्द का अधिक प्रयोग किया है – "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि"। यहाँ कवि व्यापार का अर्थ है कवि प्रतिभा पर आश्रित कर्म – "व्यापारस्य कवि प्रतिभोल्लिखि तस्य कर्मणः"।

प्रतिभा की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की –

प्राक्तनाद्यतप संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभाकाचिदेव कवि शक्तिः ।

अर्थात् पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परितोष से प्रौढ़ कवि शक्ति का नाम प्रतिभा है इस प्रकार कवि कौशल से अभिप्राय उस व्यापार से है जो पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कवि-शक्ति द्वारा अनुप्रेरित होता है।

6. वक्रोक्ति के इस वैचित्र्य या वक्रत्व के लिए कुन्तक ने एक अनिवार्य उपालम्भ रखा है – तद्विदाह्लादकारित्व । अर्थात् उक्ति का विचित्र अथवा लोकशास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबंध से भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है और कवि कौशल पर आश्रित होना भी अन्तिम प्रमाण नहीं है। इसमें तो सहृदय का मनःप्रसादन करने की क्षमता अनिवार्यतः होनी चाहिए। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं कि वक्रोक्ति केवल शब्द क्रीड़ा व अर्थ क्रीड़ा नहीं है और दूसरा वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति से कोई विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावोक्ति में स्वभाव वर्णन की सहज चारुता और उसके कारण मनःप्रसादन की क्षमता निश्चय ही वर्तमान रहती है अर्थात् वक्रोक्ति का विरोध इतिवृत्त वर्णन, या भामह आदि के शब्दों में वार्ता से ही है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति उस युक्ति या कथन शैली का नाम है जो लोक व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबंध से भिन्न, कवि प्रतिभा जन्य चमत्कार के कारण सहृदय आह्लादकारी होती है।

काव्यात्मा से अभिप्राय है कि काव्य का वह तत्त्व जो शरीर में आत्मा के समान काव्य में निहित हो। दूसरे शब्दों में काव्य की आत्मा उस तत्त्व को कहा जाता है जिसके बिना काव्य, काव्य होकर भी काव्य नहीं है। जिसकी सत्ता के बिना काव्य की प्रस्तुति ही सम्भव नहीं है। कुन्तक की विशेषता यह है कि वे काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़ते हैं। वे आत्मा या परमतत्त्व के रूप में किसी इतर वस्तु की खोज नहीं करते हैं। वे काव्य को छोड़कर रस अथवा ध्वनि की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। उनके आकर्षण का केन्द्र स्वयं रचना है। कलाओं के

आस्वाद का परम रहस्य होने के कारण रस में आलोचकों को काव्य से विलग कर देने की बड़ी मोहक शक्ति है। रस की अलौकिकता अन्तःशब्दों से निस्सृत होती है। काव्यालोचन का वह सिद्धान्त जो अनुभूति के दर्शन पर आधारित है, आलोचक के लिए कई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। अतएव आलोचक की व्यावहारिक सुविधा का ख्याल कर कुन्तक ने काव्य की आत्मा की खोज नहीं की और वे अनुभूतिवादी दर्शन से बचकर निकल गए। इसी कारण वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का जीवित बतलाया। यह साहित्यिक आलोचना का विशुद्ध सिद्धान्त है।

7.1.4 वक्रोक्ति में अलंकार और अलंकार्य

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का उल्लेख करते हुए अलंकार और अलंकार्य का उल्लेख किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए समग्र कवि-कर्म-कौशल को वक्रोक्ति कहा है और इसे शोभाकारक धर्म या अलंकार्य माना है। यह वक्रोक्ति काव्य का विधायक होने से अलंकार है। यहाँ कुन्तक ने 'अलंकार' का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए काव्य के समस्त सौन्दर्य विधायक तत्त्व को 'अलंकार' कहा है। अब प्रश्न उठता है कि अगर वक्रोक्ति अलंकार है तो 'अलंकार्य' कौन है ? इस सम्बन्ध में कुन्तक की मान्यता है कि शब्द और अर्थ दोनों ही सम्मलित रूप में अलंकार्य हैं और चातुर्यपूर्ण भंगिमामयी उक्ति के रूप में वक्रोक्ति शब्द और अर्थ दोनों को अलंकृत करने वाला सौन्दर्य विधायक तत्त्व अलंकार है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के दो तत्त्व हैं – अलंकार (वक्रोक्ति) और अलंकार्य (शब्द और अर्थ)। किन्तु वे दोनों को पृथक् सत्ता नहीं मानते। उन्होंने केवल समझने-समझाने के लिए यह वर्गीकरण किया है। कुन्तक अलंकार और अलंकार्य तथा शब्द और अर्थ की अभिन्नता का मूल स्रोत कवि के रचनाधर्मी स्वभाव को मानते हैं जिसमें प्रतिभा, विदग्धता और अभ्यास संयुक्त रूप से समाहित रहते हैं। प्रतिभा कवि स्वभाव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति है।

7.1.5 वक्रोक्ति और अन्य काव्य-सिद्धान्त

परम्परागत रूप से साहित्य में सौन्दर्य-चेतना की भाववादी तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण का विवेचन होता रहा है। भाववादी सौन्दर्य के पक्षधर सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक- चेतना से मानते हैं जो अपरोक्ष और सूक्ष्म होता है। इसके ठीक विपरीत भौतिक सौन्दर्य के पक्षधर यह मानते हैं कि सौन्दर्य का सम्बन्ध वस्तुसत्ता से है जिसका भोक्ता मनुष्य स्वयं होता है। इस सौन्दर्य का उपभोग मनुष्य अपनी अनुभूति से करता है। किसी भी सुन्दर वस्तु का अस्तित्व मनुष्य की अनुभूति पर निर्भर करती है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भावतत्त्व का सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन वर्षों तक विस्तार से किया जाता रहा है। पाश्चात्य विद्वानों ने भावतत्त्व को साहित्य के सन्दर्भ में काफी महत्त्व दिया है जिसे पाश्चात्य विद्वानों 'डेकार्टेज', 'एडिसन', 'हुम' आदि विचारकों ने कला के माध्यम से भावों की उद्दीप्ति से सौन्दर्यानुभूति होना स्वीकारा है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वच्छन्दतावाद और छायावाद के दौर तक सौन्दर्य का दृष्टिकोण भाववादी था किन्तु सन् 1935 के प्रगतिशील आन्दोलन के विकास के साथ ही यह बोध वस्तुवाद के निकट होकर मेहनतकश के सामाजिक संघर्ष और वस्तु-चेतना के उस परिवर्तित रूप पर केन्द्रित

हो गया जिनमें वैज्ञानिक चिन्तन और सामाजिक विकास की दिशाएँ मौजूद थीं। 'मार्क्स', 'एंगेल्स' और 'लेनिन' के कतिपय मूल्यों का परिष्कार कर सौन्दर्य-बोध के नये पक्षों पर रचनाकारों का ध्यान केन्द्रित हुआ जिसमें सामाजिक, राजनैतिक-चेतना विद्यमान है।

वक्रोक्ति और रस :

अर्थ की विभूतियों में सबसे मूल्यवान् रस है। अतएव रस वक्रोक्ति रूपिणी काव्यकला का परम तत्त्व है। काव्य की प्राण चेतना वक्रता है और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार रस-सम्पदा है। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का सम्बन्ध लगभग वही है जो ध्वनि के साथ है। रस और ध्वनि दोनों आत्मनिष्ठ है, अतएव उनका सम्बन्ध अधिक अंतरंग है। वक्रोक्ति मूलतः वस्तुनिष्ठ है। अतः रस के साथ उसका सम्बन्ध आधार-आधेय का ही है। वक्रोक्ति के अन्तर्गत रस का स्थान क्या है ? अलंकार्य मान लेने से रस को अधिक पराकाष्ठा प्राप्ति नहीं होती। अलंकार्य शरीर है और अलंकार आभूषण। वह आत्मा तो नहीं बन सकता। किसी भी काव्य का रसत्व ही उसका काव्यत्व है। इसकी महिमा से कुन्तक इतने अभिभूत हैं कि प्रकारान्तर से वे उसका अलंकारत्व स्वीकार कर लेते हैं। रस की औचिती कुन्तक प्रबन्ध में मानते हैं। कुन्तक ध्वनिकार की भाँति रस को काव्य का परम तत्त्व मानते हैं। प्रबन्ध वक्रता के विवेचन में उन्होंने यह स्पष्ट किया है। प्रबन्ध वक्रता वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ व उत्कृष्ट रूप है। कुन्तक के अनुसार काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रबन्ध है –

प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः।

वक्रोक्ति और अलंकार :

कुन्तक ने अलंकारों पर अपने 'जीवित' के जिस उन्मेष (तृतीय) में विचार किया है। वह खण्डित रूप में प्राप्य है अतएव इन अलंकारों पर उनके सूक्ष्म चिन्तन मनन के पूर्ण ज्ञान से हम वंचित रह जाते हैं। उन्होंने इन अलंकारों पर विचार करते हुए विश्लेषण की सूक्ष्मशक्ति, वस्तु की पकड़ और स्वाधीन चिन्तन का प्रमाण पद-पद पर दिया है। वे भामह के तीन प्रकार के दीपक का खण्डन करते हैं और इसी प्रकार अनेक अलंकारों के अलंकारत्व का प्रत्याख्यान करते हैं। यदि उनके ग्रन्थ का यह भाग त्रुटि रहित मिला होता तो मम्मट और रुय्यक जैसे ध्वनि सम्प्रदाय में दीक्षित आचार्यों पर उनके प्रभाव का सही-सही विश्लेषण हो पाता। उन्होंने अपने ग्रन्थ के कारिका भाग का नामकरण 'काव्यालंकार' किया। भामह, वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने भी काव्यालंकार नाम से अपने ग्रन्थों की रचना की और काव्य के उपमा, व्यतिरेक, श्लेष आदि शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरूपण किया है परन्तु कुन्तक जिस काव्यालंकारकी रचना कर रहे हैं, वह विशिष्ट प्रकार का अलंकार है और वह है वक्रोक्ति। उनका कहना है कि यद्यपि बहुत से 'काव्यालंकार' विद्यमान हैं परन्तु उनमें से किसी से इस प्रकार के लोकोत्तर वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यही अलंकार का विशिष्ट प्रयोग है। 'वाक्य वक्रता' के अन्तर्गत उन्होंने उपमादि अलंकार वर्ग का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना और साथ ही अलंकार भी –

उभावेतानलंकार्यो तयोः पुनरलंकृति। वक्रोक्तिरेव ... ।

इस प्रकार वक्रोक्ति नाम भेद से अलंकार-सिद्धान्त ही ठहरता है । कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यत' कहकर भी अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार कर ली । दोनों के दृष्टिपरक तथा काव्य को कवि कौशल पर ही आश्रित माना गया है । वर्णसौन्दर्य से लेकर प्रबन्धसौन्दर्य तक समस्त काव्य रूप चमत्कार प्राण है । एक में उसे अलंकार कहा गया है दूसरे में वक्रता । अतः यह शब्द का भेद है । अर्थ का नहीं तथा दोनों में उक्ति वैदग्ध्य का ही प्राधान्य है तथा रस को उक्ति के आश्रित माना है । इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त से कहीं अधिक श्रेष्ठ, उदार, सूक्ष्म व पूर्ण है ।

वक्रोक्ति एवं रीति :

भारतीय काव्यशास्त्र में रीति के क्षेत्र में भी वक्रोक्ति सिद्धान्त ने विलक्षण क्रान्ति उपस्थित की है । पहला सोपान वह है जब रीति देश से सम्बद्ध मानी जाती थी । दूसरा सोपान वह है जब वह देश के आसंगों से मुक्त होकर वस्तु के साथ जोड़ दी गई । तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण सोपान यह है कि कुन्तक ने अपनी प्रखर मेधा व साहित्यिक प्रतिभा का उपयोग करते हुए इसे कवि स्वभाव से सम्बद्ध बताया और पुरानी रीतियों के स्थान पर नयी रीतियों की स्वतन्त्र उद्भावना की । रीति सिद्धान्त अलंकारों के अति सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था । रीतिवाद ने यह स्थापना दी कि कवि के प्रस्थान का मार्ग ही वह साँचा है जिसमें ढलकर अलंकार स्वयं निस्सृत होते हैं । कुन्तक ने रीति पर विचार करने में भामह की ही प्रौढ़ि का परिचय दिया है । उन्होंने पहली बार रीति की भौगोलिक संज्ञाओं का पूर्ण तिरस्कार किया । उन्होंने सुकुमार व विचित्र दो मुख्य प्रकार बताए हैं । उनके अनुसार सुकुमार व विचित्र मार्ग क्रमशः वैदर्भी और गौड़ी के स्थानापन्न हैं । कुन्तक ने प्रथम बार यह स्थापित किया कि रीति का पार्थक्य कवि-स्वभाव के कारण उत्पन्न होता है न कि देशभेद के कारण । भारतीय काव्यशास्त्र को उनकी यह अनन्य साधारण देन है ।

वक्रोक्ति और ध्वनि :

अभिनव गुप्त के समय में ही ध्वनि सम्प्रदाय के विरुद्ध विद्रोह शुरू हो गया । कुन्तक और महिमभट्ट ने ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देते हुए क्रमशः वक्रोक्ति व अनुमान की प्रतिष्ठा की । वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म वास्तव में प्रत्युत्तर रूप में हुआ था लेकिन ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देना और ध्वनि सम्प्रदाय की समग्र उपलब्धियों को नकारना एक ही बात नहीं है । विचारों के इतिहास का विद्रोह प्राक्तन चिन्तन का समग्र अस्वीकार न होकर उसमें किंचित् संशोधन ही होता है । कुन्तक-कृत वक्रोक्ति की परिभाषा-प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है । यह कैसी है ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति । वैदग्ध्य का अर्थ है – कवि कर्म कौशल प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ है । इस प्रकार हम ध्वनि और वक्रोक्ति की तुलना कर सकते हैं –

1. शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न तथा,
2. प्रचलित (सामान्य) व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने वाला।

इन दोनों परिभाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने पर ध्वनि और वक्रोक्ति का साम्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

वक्रोक्ति और औचित्य :

कुन्तक ने अपने प्रायः सभी वक्रता भेदों में किसी-न-किसी रूप में औचित्य का आधार स्वीकार किया है। वर्णविन्यास वक्रता के विवेचन में कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है कि वक्रतापूर्ण वर्णयोजना अनिवार्य रूप से प्रस्तुतौचित्यशोभिनी होती है अर्थात् काव्य के अन्तर्गत वर्णों का विन्यास प्रस्तुत प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, उससे स्वतन्त्र नहीं। इस प्रकार पद पूर्वार्द्ध वक्रता तथा प्रत्यय वक्रता के अनेक प्रमुख भेद भी औचित्य मूलक ही हैं। कुन्तक लिखते हैं –

1. पर्यायवक्रता का आधार है उचित पर्याय का चयन अथवा पर्यायौचित्य।
2. विशेषणवक्रता का आधार है उचित विशेषण का निर्वचन।
3. वृत्तिवक्रता में समास रचना का औचित्य अपेक्षित होता है।
4. लिंग वक्रता का आधारभूत सौन्दर्य लिंग प्रयोग के औचित्य के ही आश्रित है। इसी प्रकार प्रत्यय वक्रता के भी प्रमुख भेदों में कारक, पुरुष, संख्या, काल, उपग्रह आदि में औचित्य का ही चमत्कार वर्तमान रहता है जो वक्रता का चतुर्थ भेद है।

वास्तव में वक्रोक्ति व औचित्य दोनों सिद्धान्त की प्रतिपादन योजना में ही मूलगत साम्य है। कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों ने काव्य में सूक्ष्मतम से लेकर महत्तम रूप तक प्रायः एक ही क्रम से अपने सिद्धान्त का विस्तार कर उसे सर्वव्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार वर्ण, लिंग तथा कारक आदि से लेकर वाक्य प्रकरण तथा प्रबन्ध तक वक्रता का साम्राज्य है, उसी प्रकार औचित्य का भी –

पदे, वाक्ये, प्रबन्धार्थे, गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां, कारके, लिंगे वचने च विशेषणे।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।

परन्तु इस योजना साम्य का कारण कदाचित् यह नहीं है कि क्षेमेन्द्र ने कुन्तक का अनुकरण किया है। इस साम्य का कारण यह है कि दोनों ही ध्वनिकार की योजना को आदर्श मानकर चले हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त औचित्य से पूरी तरह अनुशासित है। वक्रता के लगभग सभी प्रकारों में औचित्य वस्तु अथवा रस के सम्बन्ध में उद्‌भासित हुआ है। वक्रोक्ति औचित्य का ही दूसरा नाम है। वक्रोक्ति व औचित्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का जीवन मानते हुए भी दोनों को एक रूप ही माना है।

वक्रता अथवा काव्य-सौन्दर्य का मूल आधार औचित्य है क्योंकि उन्हीं के शब्दों में औचित्य की यत्किंचित् हानि से भी सहृदय के आह्लाद में व्याघात उत्पन्न हो जाता है।

7.1.6 वक्रोक्ति विरोधी आचार्य

वक्रोक्ति सिद्धान्त को कुन्तक की देन अनन्यतम है किन्तु यह सैद्धान्तिक आधार कुन्तक के साथ ही विलुप्त हो गया। 'वक्रोक्तिजीवितम्' के लोप हो जाने के कारण इसके स्वतन्त्र अस्तित्व का भी लोप हो गया परन्तु कुन्तक की वक्रता तो काव्य का कोई विशेष अंग न होकर वस्तुतः कवि व्यापार का पर्याय है। उसकी स्थापना साहित्य में वैदग्ध्य अथवा कवि कौशल अर्थात् साहित्य के कला पक्ष की प्रतिष्ठा है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में कुन्तक की वक्रता का भले ही उल्लेख न हुआ हो पर वक्रता वैभव प्राचीनकाल से लेकर आज तक के साहित्य में प्राप्य है। कुन्तक, अभिनव गुप्त और भोज के पश्चात् वक्रोक्ति सिद्धान्त की महत्ता क्षीण होने लगती है। ध्वनि सिद्धान्त के अन्यतम विरोधी महिमभट्ट ने भी वक्रोक्ति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा – "सहृदयता का अभिनय करने वाले कुछ लोग शास्त्र आदि में प्रचलित शब्दों और अर्थों की योजना से भिन्न जो वैचित्र्य है उसे वक्रता कहते हैं जो समीचीन नहीं है। इसी तरह से दूसरे आचार्य मम्मट वक्रोक्ति को संकुचित अर्थ में ग्रहण करते हैं।

7.1.7 वक्रोक्ति सिद्धान्त या सम्प्रदाय

यह सवाल अमूमन पूछा जाता है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त है या सम्प्रदाय ? कोई भी सिद्धान्त सम्प्रदाय तब बनता है जब एक लम्बी परम्परा निरन्तर उसका विस्तार करती है। उससे और दूसरे काव्य-सिद्धान्त उद्भूत होते हैं या उनका विस्तार होता है। वक्रोक्ति को यह सौभाग्य नहीं मिल सका। इस सिद्धान्त को जिस उद्देश्य को संज्ञान में लेकर बनाया गया था उसका सम्यक् विस्तार नहीं हो सका। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे अलंकार विशेष का रूप प्रदान करके इसे उक्ति वैचित्र्य का साधन घोषित कर दिया। अलंकार सिद्धान्त के बहुत करीब आकर वह मात्र एक अलंकार ही रहा गया। कुन्तक के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहना उचित नहीं समझा। इस तरह से यह सिद्धान्त व्यापक प्रसिद्धि नहीं पा सका और सिद्धान्त तक सीमित रह गया।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/

❖❖❖

खण्ड – 7 : वक्रोक्ति सिद्धान्त

इकाई – 2 : वक्रोक्ति के भेद

इकाई की रूपरेखा

7.2.0 उद्देश्य कथन
7.2.1 वक्रोक्ति सिद्धान्त
7.2.2 वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद
7.2.2.1 वर्ण-विन्यास वक्रता
7.2.2.2 पद पूर्वार्द्ध वक्रता
7.2.2.3 पद परार्द्ध वक्रता
7.2.2.4 वाक्य-वक्रता
7.2.2.5 प्रकरण-वक्रता
7.2.2.6 प्रबन्ध-वक्रता
7.2.3 वक्रोक्ति और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त
7.2.4 वक्रता और औदात्य
7.2.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद
7.2.6 पाठ-सार
7.2.7 बोध प्रश्न
7.2.8 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

7.2.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेदों से परिचित हो पाएँगे।
ii. वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद के मध्य साम्य और वैषम्य को समझ सकेंगे।

7.2.1 वक्रोक्ति सिद्धान्त

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा अपने पूर्व के अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के स्थान पर एकदम नवीन काव्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया और इसके अन्तर्गत प्रचलित सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार किया। साथ ही उन्होंने समस्त काव्यांगों – वर्ण चमत्कार, शब्द सौन्दर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना आदि को वक्रोक्ति में स्थान दिया है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति केवल वाक् चातुर्य अथवा उक्ति चमत्कार नहीं है, वह कवि व्यापार अथवा कवि कौशल है।

7.2.2 वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद

वक्रोक्ति सिद्धान्त बहुत सीमा तक व्यापक ही नहीं अपितु समन्वयशील सिद्धान्त है। आधुनिक भाषाविद् इसे विशिष्ट सैद्धान्तिक विषय स्वीकार करते हैं इसीलिए यह भी स्वीकार करते हैं कि यह सिद्धान्त भाषाविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति पर परखा जा सकता है। स्पष्ट है इससे 'वक्रोक्ति' की महत्ता, सार्वजनीनता और इसके संगत होने के अनेक कारण विद्यमान हैं। वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य के सूक्ष्मतम रूप से प्रारम्भ होकर उसके महत्तम रूप तक में दिखाई देता है। इस सिद्धान्त में कुन्तक वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्ध आदि का क्रमिक और वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ हम वक्रोक्ति के क्रमिक विकास की झलक से परिचित होते हैं। कुन्तक के अनुसार 'वक्रोक्ति' काव्य की आत्मा है। इसे वे शब्द और अर्थ की सृष्टि मानते हैं। उनका मानना है कि शब्द और अर्थ अलंकार्य है (जिससे अलंकृत किया जाता है) और वक्रोक्ति उनका अलंकार (जिसे अलंकृत किया जाता है) है। कुन्तक वक्रोक्ति को छह भागों में विभाजित करते हैं जो इस प्रकार है – वर्ण-विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध वक्रता, पद परार्द्ध वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता, प्रबन्ध-वक्रता।

वक्रोक्ति के इन भेदों का संक्षिप्त परिचय यहाँ उदाहरण सहित दिया जा रहा है –

7.2.2.1 वर्ण-विन्यास वक्रता

वर्ण-विन्यास वक्रता वस्तुतः व्यंजन-चारुता है। इस व्यंजन-चारुता का दूसरा नाम 'अनुप्रास' है। कुन्तक इसमें शब्दालंकारों, जैसे – अनुप्रास, यमक, शब्द गुणों, विभिन्न वृत्तियों आदि को शामिल करते हैं। वर्ण-विन्यास में सिद्ध कवि सहज ही सौन्दर्य और संगीत की सृष्टि करने में सक्षम होता है। वर्णों के ललित और पुरुष स्वभाव का सीधा सम्बन्ध रसास्वादन से होता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहरायी जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रता से सहज ही प्रभावित होता है। आचार्य कुन्तक ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जब वर्णों का विन्यास उसके सामान्य प्रयोग की अपेक्षा भिन्न ढंग से अथवा विचित्रता उत्पन्न करने वाले रूप में किया जाए तभी इस प्रकार की वक्रोक्ति सहृदय के हृदय को द्रवित करने वाली हो सकती है। व्यंजन का सामान्य प्रयोग वर्णविन्यास वक्रता नहीं हो सकती है। कविकर्म का प्रथम सोपान वर्ण-विन्यास वक्रता ही है। वर्ण-विन्यास में सिद्ध कवि सहज ही सौन्दर्य और संगीत की सृष्टि करने में सक्षम होता है। वर्णों के ललित और पुरुष स्वभाव का सीधा सम्बन्ध रसास्वादन से होता है। वर्णों का लालित्य और पुरुषता का स्वभाव चित्त की द्रुति और दीप्ति में सहायक होता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहरायी जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रता से सहज ही प्रभावित होता है। शब्द और अर्थ में दो विशेषताएँ होनी चाहिए –

1. कवि की उक्ति, प्रसिद्ध वचन व्यापार से भिन्न, वक्रता से युक्त होनी चाहिए।
2. वह उक्ति सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होनी चाहिए।

वर्णविन्यास वक्रता के अनेक भेद हो सकते है और इस वर्णवक्रता की परिधि बहुत विस्तृत है, फिर भी प्रमुख प्रकार इस तरह हैं –

एकौ द्वौ बहवो वर्णोबध्यमानः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यास वक्रता।
वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरूक्तास्त-ल-नादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः॥

अर्थात् जिसमें एक, दो अथवा बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार (उसी रूप में) ग्रंथित होते हैं, वर्णविन्यास-वक्रता अर्थात् वर्ण रचना की वक्रता कहलाती है। आचार्य कुन्तक ने एक ओर यदि इसकी परिधि विस्तृत की है, वृत्तियों का वर्णविन्यास-वक्रता में अन्तर्भाव करके यमक, यमकाभास आदि तथा यमक से साम्य रखने वाले अन्य अलंकारों को भी इसी के अन्तर्गत रखकर, तो वर्णविन्यास कौशल को सीमित भी किया है, उस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाकर। राजानक कुन्तक सजग थे कि कहीं वर्णविन्यास-वक्रता के चक्कर में पड़ कर कवि, कविता के वास्तविक उद्देश्य से भटक न जाये अथवा निरंकुश न हो उठे अतः उन्होंने वर्णविन्यास वक्रता के लिये कुछ प्रतिबन्धों को आवश्यक माना है। इस प्रकार कुन्तक ने वर्णविन्यास वक्रता के प्रमुख छह भेद किये हैं –

1. एक वर्ण की आवृत्ति

वर दे, वीणावादिनी वर दे।

2. दो वर्णों की आवृत्ति

परपीड़ा से पूर पूर हो,
थक-थककर औ चूर-चूर हो।
अमल धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर तुम कब तक सोये थे।
रोया यक्ष कि तुम रोये थे,
कालिदास, सच-सच बतलाना।

3. तीन वर्णों की आवृत्ति

कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ इहिं पाऐं हीं बौराइ॥

उपर्युक्त उदाहरणों में एक वर्ण, दो वर्ण तथा दो से अधिक वर्ण की उपस्थिति को देखा जा सकता है।

4. वर्णान्तरयुक्त स्पर्श वर्ण

आचार्य कुन्तक वर्ण विन्यास वक्रता के द्वितीय प्रकार का सौन्दर्योन्मीलन करते समय इसे तीन भागों में विभक्त कर देते हैं। वर्गान्त से युक्त स्पर्श, ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग स्पर्श कहलाते हैं, उनके अन्त के ङकार

आदि के साथ संयोग हो तो वे वर्गान्तयोगी है इनकी पुनःपुनः आवृत्ति वर्ण विन्यास वक्रता का प्रथम प्रकारहै। कुन्तक की उपर्युक्त परिभाषा का आशय इस प्रकार है कि –

क वर्ग से लेकर प वर्ग तक के 25 वर्ण अर्थात् –

क वर्ग	:	क ख ग घ ङ
च वर्ग	:	च छ ज झ ञ
ट वर्ग	:	ट ठ ड ढ ण
त वर्ग	:	त थ द ध न
प वर्ग	:	प फ ब भ म

– जब अपने अन्त्य वर्ण अर्थात् क ख ग घ – 'ङ' के साथ, च छ ज झ – 'ञ' के साथ, ट ठ ड ढ – 'ण' के साथ, त थ द ध – 'न' के साथ, प फ ब भ – 'म' के साथ, संयुक्त होकर बारबार निबद्ध हो तो इस प्रकार के सौन्दर्य का सृजन होता है। यह सौन्दर्य वर्गान्त्य युक्त वर्ण के चमत्कार की श्रेणी में आता है। उदाहरणार्थ –

चंचल, अंचल था खिसक रहा कंचन काया से।

5. त, ल, न आदि के द्वित्य रूपों की वक्रता

इसमें त, ल, न द इत्यादि वर्णों की द्वित्त्व आवृति से चमत्कार की सृष्टि होती है। उदाहरणार्थ –

वल्लरियों में प्राण बल्लभा की आभा थी।

6. रकार युक्त वर्ण (रेफ) की आवृत्ति

स्पर्श वर्णों के साथ रकार वर्णों की आवृत्ति से यह वर्ण वक्रता पैदा होती है। उदाहरणार्थ –

चित्र भी चित्र और विचित्र भी, रह गए थे चित्रस्थ से सौमित्र भी।

कुन्तक सुन्दर वर्ण के विन्यास को एक तरह का चमत्कार स्वीकार करते हैं परन्तु वे वर्णों का प्रयोग कुछ प्रतिबन्धों के परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि कोई भी वर्ण आग्रहपूर्वक न आया हो, विषयानुकूल प्रयोग हो, असुन्दषर वर्ण न हो, वैचित्र्य पूर्ण हो पर पुनः आवृत्त न हो, प्रसाद गुण से युक्त हो और सुनने में श्रुतिमधुर हो।

7.2.2.2 पद पूर्वार्द्ध वक्रता

वर्ण विन्यास के उपरान्त काव्य का दूसरा अवयव पद है अतः आचार्य कुन्तक ने वर्ण के पश्चात् क्रम के अनुसार पद-वक्रता का विवेचन किया है। पद के दो अंग हैं – पद पूर्वार्द्ध और पद परार्ध। वर्णों के योग से शब्द निर्मित होते हैं किन्तु जब वही शब्द सुबन्त या तिङ्न्त से संयुक्त हो जाते हैं तो पद का स्वरूप धारण कर लेते हैं। विभाजन की दृष्टि से प्रकृति और प्रत्यय पदों के दो भेद हैं। पद के प्रारम्भ में किये गए वैदग्ध्यपूर्ण वर्णन को पद पूर्वार्द्ध वक्रता एवं पदों में वैचित्र्यता के समावेश को कवि की कुशलता माना जाता है। कवि सहज एवं स्वाभाविक रूप से काव्य के अन्तःकरण की अनुभूतियों का यदि सौन्दर्य एवं चमत्कृत रूप से अपनी श्रेष्ठ कवि धर्मिता के द्वारा वर्णन करने लगे तो निश्चित ही वह पद के पूर्वार्द्ध की वक्रता कही जायेगी। कुन्तक ने इसे विभिन्न रूपों में विभक्त किया है। व्याकरणिक दृष्टि से पद सुबन्त (संज्ञा) और तिङ्न्त (क्रिया) के रूपों को कहते हैं। पद के दो अंग हैं – पद पूर्वार्द्ध और पदपरार्ध। वर्णों के योग से शब्द निर्मित होते हैं किन्तु जब वही शब्द सुबन्त या तिङ्न्त से संयुक्त हो जाते हैं तो पद का स्वरूप धारण कर लेते हैं। विभाजन की दृष्टि से प्रकृति और प्रत्यय पदों के दो भेद हैं। मोटे तौर पर संज्ञा वैचित्र्य वक्रता और क्रिया वैचित्र्य वक्रता के विविध रूप इसके अन्तर्गत आते हैं। कुन्तक ने पद पूर्वार्द्ध वक्रता को आठ भागों में विभाजित किया है।

1. रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता

रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता रूढ़ि (प्रसिद्ध अर्थ) के वैचित्र्य पर आश्रित है। रूढ़ि क्या है ? रूढ़ि से अभिप्राय है, 'परम्परागत अथवा कोश तथा लोक व्यवहार में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ'। किसी अर्थ विशेष पर रोहण करना रूढ़ि है। रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता वस्तुतः संज्ञा शब्दों की वक्रता है। रूढ़ि दो प्रकार की होती है – (i) नियत सामान्य वृत्तिता और (ii) नियत विशेष वृत्तिता। एक उदाहरण देखिए –

कितना खून पिया है, जाती नहीं खुमारी !
सुर्ख और लम्बी है मइया जीभ तुम्हारी।

उपर्युक्त उदाहरण में काली माई की जगह 'मईया' का प्रयोग रूढ़ अर्थ में नहीं अपितु व्यक्ति विशेष के लिए हुआ है। 'मईया' खून पीने के लिए जानी जाती हैं पर यहाँ 'मईया' का अर्थ कुछ दूसरा ही है।

2. पर्याय वक्रता

किसी भी शब्द के समान अर्थ का बोध कराने वाले शब्द पर्यायवाची कहलाते हैं। पर्याय पर आश्रित वक्रता का नाम पर्यायवक्रता है। पर्याय से अभिप्राय है समानार्थक संज्ञा शब्द। स्त्री के लिए कामिनी, भामिनी, स्त्री, महिला आदि बहुत सारे शब्द प्रयोग होते हैं पर गुप्तजी के यहाँ 'अबला' शब्द कितना कुछ व्यक्त कर देता है –

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी

3. उपचार वक्रता

कुन्तक ने उपचार को परिभाषित करते हुए लिखा है – "उपचरणमुपचारः।" अर्थात् सादृश वश गौण चरण को उपचार कहते हैं। सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले 'प्रस्तुत' पर 'अप्रस्तुत' का आरोप, जिसका प्रस्तुत के साथ नाममात्र सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ –

पिय बिन साँपिन काली रात।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वई जात॥

यहाँ काली रात पर साँपिन का आरोप उपचार वक्रता से युक्त है।

4. विशेषण वक्रता

जहाँ विशेषण के विशिष्ट प्रयोग के कारण अभिव्यक्ति में चमत्कार उत्पन्न होता है वहाँ विशेषण वक्रता होती है। विशेषणों का सौन्दर्य श्रेष्ठ कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता है। कुन्तक के अनुसार – "जहाँ कारक या क्रिया के महात्म्य या प्रभाव से वाक्य का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, वहाँ विशेषण वक्रता होती है।"

डॉ॰ धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' में अन्धी प्रवृत्ति, नपुंसक व्यक्तित्व, रोगी मर्यादा, उद्धत अनास्था आदि रूप में विशेषण वक्रता के बहुत सारे उदाहरण देखे जा सकते हैं –

उस अंधी संस्कृति
उस रोगी मर्यादा की
रक्षा हम करते रहे।

5. संवृत्ति वक्रता

संवृत्ति का अर्थ ढाँपना या छुपाना होता है। जब उक्ति में भंगिमा या नई अर्थ दीप्ति उत्पन्न करने के उद्देश्य से सर्वनाम आदि के प्रयोग द्वारा किसी बात को छुपाया जाय तो संवृत्ति वक्रता होती है। कला का सौन्दर्य पूर्ण उन्मोचित नहीं होता है। 'अर्द्ध ढकत छति देत है' वाली सूक्ति सिद्ध है। अनेक भाव स्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें कवि संकेतों से काम चला लेता है। वह सब कुछ न कहकर कुछ बोल कर काम चला लेता है। कॉलरिज की एक बात याद आती है – "कविता पूरी तरह आनन्द तब देती है जब हम उसे पूरी तरह न समझकर मोटे तौर पर ही समझते हैं।" कविता में अर्थ की कई परतें होती हैं और सभी परतों का अर्थ एक बार ही नहीं खुलता है। इससे कविता का आर्कषण और भी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए –

सम्पूर्ण देशों में अधिक किस देश का उत्कर्ष है।
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन भारतवर्ष है॥

और भी,

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-जहाँ हमारा॥

यहाँ पर किस, उसका, वह कौन, कुछ आदि शब्दों में हम संवृत्ति वक्रता को देख सकते हैं।

6. वृत्ति-वक्रता

समास, कृदन्त, तद्धित आदि के विशिष्ट प्रयोग से रचना में जो वैशिष्ट्य आता है उसे वृत्ति वक्रता कहते हैं। उदाहरण देखिए –

है अमानिशा उगलता गगन घन अन्धकार।

– (निराला)

यहाँ अमा अथवा निशा में से कोई भी शब्द अन्धकार को व्यक्त कर देता किन्तु अमानिशा के समास से अन्धकार के अतिशय और गहराई में वृद्धि हो रही है।

7. लिंग वैचित्र्य वक्रता

जहाँ पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग के प्रयोग के कारण वक्रता होती है वहाँ लिंग वैचित्र्य वक्रता होती है। उदाहरणार्थ –

सिखा दो न हे मधुपकुमारी
मुझे भी अपने मीठे गान।

– (पन्त)

यहाँ यह पहचान पाना कठिन है कि कोई मधुप भ्रमर है या भ्रमरी किन्तु कोमल हृदय कवि भ्रमरी से ही मीठे गान सीखने की कामना करता है। छायावादी काव्य में प्रकृति पर नारी के आरोप द्वारा बहुत सारे चमत्कार सृजित किये गए हैं। यहाँ कवि 'मधुपकुमार' शब्द भी रख सकता था पर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति न होती।

8. क्रिया वैचित्र्य वक्रता

जहाँ क्रिया के विशिष्ट प्रयोग के द्वारा चारुता उत्पन्न की जाय वहाँ क्रिया वैचित्र्य वक्रता होती है। उदाहरणार्थ –

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात॥

बिहारी के इस दोहे में क्रियाओं कहत, नटत, रीझत, खिजत, मिलत, खिलत, लजियात के प्रयोग से जो चारुता पैदा हो रही है वह कितनी शोभनीय है।

7.2.2.3 पद परार्द्ध वक्रता

जो वक्रता पद के परार्ध अर्थात् प्रत्यय से उत्पन्न होती है उसे प्रत्यय वक्रता कहते हैं। पदों (सुबन्त और तिङ्न्त) के परार्ध अर्थात् प्रत्यय के वैचित्र्य से जिस वक्रता का जन्म होता है, वह पदपरार्ध वक्रता होती है। अतः पद-परार्ध वक्रता को प्रत्यय-वक्रता भी कहते हैं। पद-परार्ध वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने जिन प्रभेदों का वर्णन किया है, उनका प्रतिपादन ध्वनि के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने भी किया है –

सुप तिङ्वचन सम्बन्धेस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत तद्धित समासेश्च द्योत्योऽलक्ष्य क्रमः क्वचित्॥

अर्थात् सुप्, तिङ्. वचन, सम्बन्ध, कारक शक्ति, कृत-तद्धित और समास से कहीं-कहीं असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि अभिव्यक्ति होती है। 'च' शब्द से निपात, उपसर्ग, कालादि का प्रयोग अभिव्यक्त होता देखा जाता है। कुन्तक ने उनका प्रयोग अपने काव्य में किया है जो आनन्दवर्धन की दृष्टि में ध्वनि के निष्पादक है। वे ही कुन्तक के मत में वक्रता के उत्पादक तत्त्व है। यहाँ पदपरार्ध या उत्तरार्द्ध के अन्तर्गत पदों के उत्तरार्द्ध पर विचार किया गया है। यह सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप होता है। पदपरार्ध-वक्रता के निम्नलिखित उपभेद हैं – (i) काल वैचित्र्य वक्रता, (ii) कारक-वक्रता, (iii) वचन-वक्रता, (iv) पुरुष वक्रता, (v) उपग्रह वक्रता, (vi) प्रत्यय वक्रता, (vii) उपसर्ग वक्रता, (viii) निपात वक्रता। यहाँ कुछ प्रमुख उपभेदों का परिचय दिया जा रहा है –

1. काल वैचित्र्य वक्रता

जहाँ काल के विशिष्ट प्रयोग से उत्पन्न भंगिमा होती है वहाँ काल वैचित्र्य वक्रता होती है। यहाँ जो भी चारुता आती है वह भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल की स्थितियों की तुलनात्मक स्थिति के परिणाम स्वरूप आती है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

पिछली रात
ठीक 3.22 पर एक हादसा हुआ ...
मई-जून को वो भरी-पूरी झेलम
नील-निर्मल प्रवाहों वाली वो वितस्ता।
मेरे ऊपर से होकर गुजरी – पिछली रात !
लगातार आधा घंटा तक, नहीं 45 मिनट लगे !
प्रवाहित होती रही मुझ पर से

मैं लेटा रहा, निमीलित-नेत्र ...... ।

– (नागार्जुन)

यहाँ समय के अभूतपूर्व वर्णन द्वारा चारुता पैदा हो रही है ।

एक अन्य उदाहरण देखिए –

हाय ! मिलेगा मिट्टी में यह वर्ण-सुवर्ण खरा।
सूख जायेगा मेरा उपवन जो है आज हरा ।

– (मैथिलीशरण गुप्त)

2. कारक वक्रता

कारक के परिवर्तन द्वारा जहाँ अभिव्यक्ति में वैचित्र्य की सृष्टि की जाती है वहाँ कारक वक्रता होती है । संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार "क्रियान्वयित्वं कारकत्वं" अर्थात् वाक्य की क्रिया से जिसका अन्वय (सीधा सम्बन्ध) हो, वह कारक है । हिन्दी में कारकों की संख्या कितनी मानी जाए, इसमें भी मतभेद है । कामताप्रसाद गुरु ने आठ, किशोरीप्रसाद वाजपेयी ने छह कारक माने हैं और भाषाविदों का एक दल पाँच कारक ही मानता है । कर्त्ता (ने), कर्म (को), करण (से), सम्प्रदान (के लिए), अपादान (से – पृथक्त्व), सम्बन्ध (का, के, की), अधिकरण (में, पे, पर) तथा सम्बोधन (हे, रे, अरे) – ये आठ कारक सामान्य रूप में माने जाते रहे हैं । एक उदाहरण देखिए –

कोमल अंचल ने पोंछा मेरी गीली आँखों को ।
वायु उड़ा ले गई कहाँ रंगीन मृदुल पांखों को॥

यहाँ पर अंचल और वायु का कतृवाचक प्रयोग चमत्कारपूर्ण है । कवि ने करण कारक बिजली एवं प्रभात को कर्त्ता कारक के रूप में चित्रित कर कारक विपर्यय को यहाँ उद्भासित किया है । कारकों का विपर्यय ही यहाँ सौन्दर्य कारक है ।

3. संख्या (वचन) वक्रता

एकवचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग जहाँ काव्य में विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दे वहाँ वचन-वक्रता होती है । अरस्तू ने अपने भाषण शास्त्र में भाषा को प्रभावशाली बनाने की विधियों का उल्लेख किया है । उसमें तीसरी विधि है – एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग । अरस्तू के परवर्ती आचार्य लोंगिनुस ने वचन वक्रता पर किंचित् विस्तार से विचार किया है । कभी-कभी एक वचन के लिए

बहुवचन का प्रयोग कानों पर और भी गहरा असर डालता है। नागार्जुन अपनी कविता में कितना सटीक उदाहरण देते हैं –

बाबाजी, अब हम
चुटला भी रखेंगे माथे पे
अब हम चन्दन का टीका भी
रोज लगाते रहेंगे ... ।
बाबाजी, अब हम
अपना नाम भी तो 'परेम परकास' बतलाते हैं ... ।

नागार्जुन की कविता में रिक्शा चालक अपने लिए बहुवचन का प्रयोग करता है। वह अपने लिए जहाँ 'हम' शब्द का प्रयोग करता है वहीं अपना नाम प्रेमप्रकाश बताने के लिए 'बतलाते हैं' प्रयुक्त करता है। कविता में एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग बड़े ही मनोहारी रूप में चित्रित हुआ है।

4. पुरुष वक्रता

पुरुष का चमत्कारपूर्ण प्रयोग ही पुरुष वक्रता है। यह प्रयोग वस्तुतः भाषागत रूढ़ि न होकर मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। जहाँ सौन्दर्य के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत रूप में प्रयोग होता है, वहाँ कुन्तक के अनुसार पुरुष वक्रता होती है। उदाहरण –

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये।

– (मैथिलीशरण गुप्त)

यहाँ 'मेरा' (उत्तम पुरुष) के स्थान पर 'इस जन' (अन्य पुरुष) का प्रयोग हुआ है। एक अन्य उदाहरण देखते हैं –

और, उस रोज
आपका, दु:ख का यह अभिनय
सचमुच अनोखा था!
वैसा अपूर्व मंचन
शायद ही कभी किसी ने देखा हो!
दु:ख की उस एक्टिंग के क्या कहने!
शाबाश, महान अभिनेत्री!

– (नागार्जुन)

वर्णित उदाहरण में कवि व्यक्ति विशेष पर एक गहरा व्यंग्य आरोपित कर रहा है। नागार्जुन की व्यंग्य भरी रचनाओं में अन्य पुरुष का प्रयोग बहुतायत हुआ है। उपर्युक्त उदाहरण में मध्यम पुरुष के स्थान पर जहाँ अन्य-पुरुष की वक्रता रोचकता पैदा कर रही है वहीं पर व्यंग्य भी सार्थक रूप में व्यक्त हो रहा है।

5. उपग्रह वक्रता

उपग्रह का अर्थ है धातु-पद। संस्कृत में धातुओं के दो पद होते हैं – आत्मनेपद (अपने लिए कथित) और परस्मैपद (दूसरे के लिए कथित)। कुन्तक के अनुसार, जहाँ पर औचित्य के कारण, सौन्दर्य सृष्टि के लिए, आत्मने पद और परस्मै पद दोनों पदों में से किसी एक का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है, उसे उपग्रह वक्रता कहते हैं। यहाँ किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य का प्रस्फुटन होता है। प्रसाद-कृत 'कामायनी' की निम्नलिखित पंक्तियाँ कतृवाच्य की परिणति कर्मवाच्य में होने से वैचित्र्य की सृष्टि हो रही है –

मैं जभी तोलने को करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।

– (कामायनी)

6. प्रत्यय वक्रता

पदपरार्ध वक्रता प्रत्यय-वक्रता का ही चमत्कार है किन्तु कहीं-कहीं उपर्युक्त प्रत्यय-प्रयोगों से भिन्न, एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगा कर मर्मज्ञ कवि एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है। उसी को कुन्तक ने स्वतन्त्र रूप से प्रत्यय-वक्रता का नाम दिया है। हिन्दी में प्रत्यय की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी संस्कृत में। जैसा संस्कृत के सुबन्त् और तिड्न्त पदों में मिलता है वैसा शब्द के मूल प्रत्यय का अस्तित्व तो हिन्दी में प्रायः रहा ही नहीं है। अतएव हिन्दी में प्रायः दुहरा प्रत्यय ही लक्षित होता है – जैसा संदेसड़ा, घइलवा आदि। उसमें वाचक 'ड़ा' 'वा' और लगा कर 'संदेसड़ा' तथा 'घइलवा' का निर्माण हुआ है –

पिय सों कह्यो संदेसड़ा, हे भौरा हे काग।

– (जायसी)

और भी,

आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड्याँ छाल्या पड्या, राम पुकारि पुकारि॥

– (कबीर)

7.2.2.4 वाक्य-वक्रता

जो वक्रता वाक्य के प्रयोग कौशल के कारण आती है उसे वाक्य, वाच्य या वस्तु वक्रता कहते हैं। वर्णों से पदों का निर्माण होता है और पदों का समुदाय वाक्य कहलाता है। वस्तु वक्रता को वाच्य वक्रता अथवा अर्थ वक्रता भी कहते हैं। यह कवि की विशिष्ट प्रतिभा या कवि कौशल पर निर्भर करती है। वस्तु वक्रता से अभिप्राय वस्तु अर्थात् काव्य के वर्णनीय विषय की वक्रता से है। वाक्य वक्रता में सभी अर्थालंकार आ जाते हैं। कवि वस्तुतः अपनी वर्णनीय वस्तु का उत्पादक नहीं होता अपितु वह तो लोक में पूर्व विद्यमान पदार्थों में कुछ इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है कि जिससे वे सहृदयों के हृदय का हरण करने वाली किसी अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते हैं। कुन्तक इसी वक्रता के अन्तर्गत विभिन्न अलंकारों का समावेश करते हैं। कुन्तक ने वाक्य या वस्तु वक्रता के दो उपभेद बताए हैं – (i) सहजा वस्तु-वक्रता और (ii) आहार्या वस्तु-वक्रता।

1. सहजा वस्तु-वक्रता

सहज का अर्थ है स्वाभाविक, सहजशक्ति से उत्पन्न। इसके अन्तर्गत वस्तु का या उसके स्वभाव का सहज सुन्दर वर्णन आता है। कुन्तक के अनुसार वयःसन्धि, ऋतु-सन्धि, नारी अंगों का सौन्दर्य, प्रकृति की उज्ज्वल आभा, सहज उदर विषयों का स्वाभाविक रूप में वर्णन इसी के अन्तर्गत आता है। 'सहजा' नामक वस्तु वक्रता से अभिप्राय रमणीय स्वाभाविक सौन्दर्य के वर्णन से है। काव्य के इस पदार्थ का विभाजन कुन्तक ने दो दृष्टियों से किया है – (i) कवि द्वारा विषय का प्रस्तुतीकरण और (ii) सहृदय की प्रतिक्रिया।

उन्होंने कवि कौशल से शोभित होने वाली अभिनव कल्पना प्रसूत वस्तु वक्रता के दो प्रकार किए हैं – सहजा और आहार्या। सहजा कवि का शक्तिजन्य है। शक्ति से तात्पर्य कवि प्रतिभा तथा कवि की कल्पना शक्ति से है। आहार्या व्युत्पतिजन्य है। इसको निम्नलिखित उदाहरण से समझा जा सकता है –

एमरजेंसी के दिनों में नागार्जुन ने जेल में रहकर जो कविताएँ लिखीं, उनसे उनके मनोभावों की अनेक रूपता का ही नहीं, उनके अन्तर्विवेक की आलोचनात्मक भूमिका का भी पता चलता है। रोज रात में ढाई, तीन बजे मुर्गे की बाँग सुनकर नागार्जुन कहते हैं –

यह मुर्गा नहीं, अलार्म घड़ी है जेल की ...
वाकई ! वाकई ! ...

2. आहार्या वस्तु-वक्रता

आहार्या का अर्थ है – व्युत्पत्ति तथा शिक्षाभ्यास द्वारा अर्जित वर्णन-कौशल के द्वारा किया गया चित्रांकन। सामान्य शब्दावली में वस्तु-वक्रता के दो भेद हैं, प्रथम जहाँ पदार्थ की स्वाभाविक शोभा का अकृत्रिम, सहज वर्णन हो। यह रूप सहज वस्तु से भिन्न है। सहज वस्तु सहज, प्रकृत और स्वाभाविक होती है तथा उसके धर्म सहजात होते हैं जबकि आहार्य वस्तु कवि कौशल जन्य होती है।

नागार्जुन बात को वक्रता के साथ प्रयुक्त करने में भी अद्‌भुत कौशल रखते हैं। नागार्जुन में हमें संवेदना का वह उत्तर भी मिलता है जो सरल दिखता हुआ भी बहुधा जटिल होता है। एक संवेदना-तन्तु वास्तव में अनेक तन्तुओं का जाल होता है। व्यंजना का यही चमत्कार यहाँ द्रष्टव्य है –

आदि सृष्टि का चंचल शिशु मैं
त्रिभुवन का मैं परम पितामह।
व्यक्ति-व्यक्ति का निर्माता मैं
ऋचा-ऋचा का उद्‌गाता मैं।
कहाँ नहीं हूँ, कौन नहीं हूँ
अजी यहीं हूँ, अजी वहीं हूँ।
दया धरम पर मैं हूँ राशन
सबके लेखे सदा-सुलभ मैं।
अति दुर्लभ मैं, अति दुर्लभ मैं
महाकाल भी निगल न पाए।
वामन हूँ मैं, मैं विराट हूँ
मैं विराट हूँ, मैं वामन हूँ।

– (नागार्जुन)

7.2.2.5 प्रकरण-वक्रता

प्रकरण किसी भी कथा की सबसे छोटी इकाई होती है। इन्हीं छोटी इकाइयों के संयोजन से प्रबन्ध का निर्माण होता है यानी कथा का एक प्रसंग 'करण' है और उनके समुच्चय का नाम ही 'प्रबन्ध' है। प्रकरण विशेष का सौन्दर्य सम्पूर्ण प्रबन्ध को शक्ति और दीप्ति प्रदान करता है। अतएव प्रबन्ध के एक देश की रमणीयता ही प्रकरण वक्रता है। प्रकरण को चमत्कृत सरस तथा रोचक बनाने वाले अनेक प्रसंग होते हैं। जिनका चयन तथा परिपोषण रससिद्ध कवि के लिए आवश्यक है। वस्तुतः प्रकरण का लक्ष्य घटनाओं का अंकन नहीं अपितु भावपूर्ण स्थितियों की उद्‌भावना होती है।

काव्य समीक्षा के आधुनिक विचारक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब प्रबन्ध काव्यों में मार्मिक स्थलों की पहचान का सिद्धान्त देते हैं तब वे नई भाषा में वही पुरानी उद्‌भावना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मार्मिक स्थलों को पहचान सका है या नहीं। सुविधा की दृष्टि से प्रकरण वक्रता को कुन्तक ने आठ भागों में विभाजित किया है – (i) पात्र प्रवृत्ति वक्रता, (ii) उत्पाद्य लावण्य, (iii) प्रमुख और प्रासंगिक कथाओं में उपकार्य-उपकारक भाव, (iv) आवृत्ति वक्रता, (v) प्रकरण-रस-वक्रता, (vi) सुन्दर प्रसंग उद्‌भावना, (vii) गर्भांक, (viii) प्रकरणों का समन्वय।

1. पात्र प्रवृत्ति वक्रता

जहाँ पात्रों द्वारा भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना की जाय। इस संवाद से भावपूर्ण स्थिति का भान होता है। उदाहरण प्रस्तुत है –

बूझत स्याम कवन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखि नाहि कबहुँ ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पोरी।
सुनति रहति स्रवननि नन्दढोठा करत फिरति माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहत चोरी हम लैहें खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुलई राधिका भोरी।

यहाँ कृष्ण और राधा के संवाद से भावपूर्ण स्थिति का निर्माण किया गया है।

2. उत्पाद्य लावण्य

जहाँ कवि ऐतिहासिक इतिवृत्त में अपनी कल्पना से नए प्रसंगों की उद्भावना करता है। कुन्तक ने बतलाया है, रसोद्रेक ही इस उत्पाद्य लावण्य का लक्ष्य है। कवि अथवा नाटककार रसोद्रेक का ध्यान रखते हुए, ख्यात वृत्ति में स्वेच्छया या तो कुछ जोड़ देते है या घटा देते हैं। कथा तो वह खूँटी है जिस पर कवि अपनी कल्पना भावना विचार और चिन्तन के परिधान लटकाता है। कवि कल्पनाप्रसूत का लावण्य जो किंचित् परिवर्तन से आता है। मनोहारी काव्य में विचित्र एवं अपूर्व वक्रता उत्पन्न करने वाला होता है। कुन्तक के अनुसार बात साफ है कि कभी-कभी इतिहास प्रसिद्ध कथा में तनिक-सा परिवर्तन करके कवि उस कथा में ऐसा चमत्कार उत्पन्न कर देता है जिससे वह परिवर्तन उस कथानक में जान-सी डाल देता है। यह उत्पाद्य लावण्य अर्थात् कल्पना प्रसूत मधुर उद्भावना दो प्रकार की होती है – (1) अविद्यमान की कल्पना तथा (2) विद्यमान का संशोधन।

3. प्रमुख और प्रासंगिक कथाओं में उपकार्य-उपकारक भाव

कथा में प्रासंगिक कथाओं के कारण आने वाली चारुता। प्रत्येक प्रौढ़ कवि अपनी आहार्य प्रतिभा अथवा निपुणता के बल पर इसकी उपलब्धि करता है। एक व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की असंख्य घटनाएँ घटती हैं जो एकान्वित नहीं की जा सकती। जिस घटना में यह भाव जाग्रत् करने की शक्ति नहीं है, कवि उस घटना को छोड़ देता है। व्यापार संशोधन के मूल में भी यही कार्यान्विति कार्य करती है। कवि जब भी कोई घटना उठाता है, उसका उद्देश्य आगामी घटनाओं को उससे अनुस्यूत करना होता है। यदि किसी घटना के आगामी घटनाएँ अनुस्यूत नहीं की जा सकती, तो वह उन्हें छोड़ देता है। प्रकरण चयन के मूल में इसी अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव की प्रेरणा काम करती रहती है।

4. आवृत्ति वक्रता

जहाँ कवि किसी एक ही मार्मिक प्रसंग की नए-नए रूपों में बार-बार आवृत्ति करता है।

5. प्रकरण-रस-वक्रता

रोचक प्रसंगों का विस्तार से वर्णन अर्थात् एक ही वस्तु का बार-बार वर्णन होने पर भी कवि की प्रतिभा से उसकी इस प्रकार योजना की जाय कि उसमें कहीं पुनरुक्ति प्रतीत न हो बल्कि हर जगह कुछ नूतन सौन्दर्य ही अनुभव में आये। उनके अनुसार प्रत्येक प्रकरण में कवि की प्रौढ़ प्रतिभा के प्रभाव से आयोजित एक ही अर्थ बार-बार निबद्ध होता हुआ भी बिल्कुल नए रस और अलंकारों से मनोहर प्रतीत होता हुआ विस्मयजनक वक्रता-शैली उत्पन्न करता है। रसों में जो रस कथानक के कलेवर में सर्वाधिक व्याप्त हो वही अंगी रस है।

6. सुन्दर प्रसंग उद्भावना

प्रबन्ध में जल क्रीड़ा, षड-ऋतु वर्णन, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि का वर्णन।

7. गर्भांक

नाटक के अंक के अन्तर्गत लघु अंक की रचना ।

8. प्रकरणों का समन्वय

अलग-अलग प्रसंगों को एक साथ जोड़ना।

7.2.2.6 प्रबन्ध-वक्रता

प्रबन्ध-वक्रता की परिधि में समस्त प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि आ जाते हैं। प्रबन्ध-वक्रता का आधार फलक सर्वाधिक विस्तृत तथा व्यापक है क्योंकि महाकाव्यों तथा नाटकों का वस्तु कौशल इसी में अन्तर्निहित है। प्रबन्ध-कल्पना के समग्र सौन्दर्य को रूपायित करने वाला चमत्कार ही वस्तुतः प्रबन्ध वक्रता है। कुन्तक ने प्रबन्ध वक्रता के छह भेद बतलाए हैं किन्तु निःसन्देह प्रबन्ध-वक्रता इन छह भेदों की सीमा में बद्ध नहीं है। ये भेद हैं –

1. मूलरस उद्भावना

पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना जिससे कि उसका मूल रस परिवर्तित हो जाए।

2. प्रकरण विशेष पर कथा समाप्ति

कुन्तक का मानना है कि कवि को अपने कथानक को ऐसे प्रसंग पर समाप्त करना चाहिए जहाँ कथानक का चरित्र अपने चरमोत्कर्ष पर हो।

3. कथा में अन्य कार्य द्वारा प्रधानकार्य की सिद्धि

अवान्तर प्रसंग से ही प्रबन्ध का पूरा होना।

4. नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति

प्रबन्ध के उद्देश्य के साथ नायक को अन्य फलों की प्राप्ति होना।

5. प्रधान कथा द्योतक नाम

कथा के प्रसंगानुसार रोचक नामकरण।

6. विलक्षणप्रबन्धत्व

एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य-वैविध्य।

कवि की प्रतिभा की वस्तुगत अभिव्यक्ति ही वक्रता है और जब कवि की प्रतिभा का कोई अन्त नही। वक्रता सीमाओं की बन्दिनी किस प्रकार हो सकती है ? कवि की प्रतिभा न जाने किस प्रसंग को किस प्रकार नूतन कल्पना के बल पर नवीन चमत्कार से युक्त कर दे अतः कवि की प्रतिभा की भाँति वक्रता को भी अनन्त और असीम मानना होगा। भारतीय वाङ्मय के आचार्यों ने प्रबन्ध-काव्य को काव्य का श्रेष्ठतम रूप माना है और प्रबन्ध काव्य को ही महाकवियों की कीर्ति का मुख्य आधार स्वीकार किया है। भारतीय परम्परा में आरम्भ से ही प्रबन्ध काव्य को – जिसके अन्तर्गत महाकाव्य तथा चरितकाव्य के अतिरिक्त नाटक और कथा काव्य को भी अन्तर्निहित कर लिया गया – श्रेष्ठतम माना गया है।

7.2.3 वक्रोक्ति और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त

क्या पश्चिम में भी 'वक्रोक्ति' जैसा कोई सम्प्रदाय हुआ है ? इसका उत्तर हाँ में है। इस नाम का काव्य तत्त्व स्पष्टतः न सही, प्राकारान्तर से तो अवश्य ही उपस्थित है। हमें यह ज्ञात है कि अरस्तु का 'अनुकरण सिद्धान्त', होरेस और ड्राइडन द्वारा स्वीकृत 'कल्पना तत्त्व', क्रोचे का 'अभिव्यंजना वाद' और एबरक्रोम्बी और यीट्स का 'प्रतीकवाद' किसी-न-किसी रूप में व्यंग्यार्थ को स्वीकार करते हैं। सिसरो ने 'औचित्य' को भले ही प्राणतत्त्व माना हो पर वह भी अपने काव्य में 'वक्रता की छटा' को समाहित करना चाहता है। (इस सम्बन्ध में 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्', दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन की आचार्य विश्वेश्वर की टीका और डॉ॰ नगेन्द्र लिखित

'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' के अन्तर्गत 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति' नामक आलेख को देखा जा सकता है।)

7.2.4 वक्रता और औदात्य

लोंजाइनस का अभिप्राय है कि औदात्य कवि के कर्त्तव्य की देन है। इसका सादृश्य कुन्तक के 'कविकर्म' में प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ता है। जिसे लोंजाइनस 'कला की उपज' कहते हैं, उसे ही कुन्तक ने 'कवि व्यापार वक्रत्व' की संज्ञा दी है। औदात्य के तीन बहिरंग तत्त्वों में अलंकारों की समुचित योजना प्रथम है जिसके अन्तर्गत भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही से सम्बन्धित अलंकार आ जाते हैं। लोंजाइनस अलंकार विधान में औचित्य को प्राथमिकता देते हैं। लोंजाइनस ने कहा है कि कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है। औदात्य के पोषक तत्त्वों में प्रथम अलंकार योजना वस्तुतः कुन्तक की वाक्य वक्रता ही है। सभी अलंकार वर्ग इसी में अन्तर्लीन है। कुन्तक ने पद-परार्ध-वक्रता के अन्तर्गत इन्हीं पद परिवर्तनों का स्वच्छ विवेचन प्रस्तुत किया है। वचन, काल, पुरुष, कारक, और लिंग आदि व्याकरणिक कोटियाँ हैं परन्तु कुन्तक और लोंजाइनस दोनों ने ही इन व्याकरणिक कोटियों के कलात्मक औचित्य की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है।

7.2.5 वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद

बेनेडेत क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की चर्चा वक्रोक्ति के साथ होती रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो इसे 'वक्रोक्ति का विलायती संस्करण' माना। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, सच पूछिये तो, एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है। क्रोचे की मान्यता थी कि कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) से है जबकि कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से सम्बन्धित मानते थे। क्रोचे ने उक्ति की सहजता और स्वाभाविकता में काव्य का सौन्दर्य माना है जबकि कुन्तक वक्रता या विचित्रता को ही सौन्दर्य का मूल विधान मानते हैं। क्रोचे ने मानसिक अभिव्यंजना को प्रमुख माना है जबकि कुन्तक वक्रता में शाब्दिक अभिव्यक्ति की चर्चा करते हैं। अभिव्यंजना शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के एक्सप्रेसन (Expression) शब्द के स्थान पर प्रयोग होता है।

क्रोचे ने दो प्रकार का ज्ञान माना है – (i) प्रतिभा ज्ञान और (ii) प्रत्यक्ष ज्ञान। क्रोचे का मानना है कि प्रत्यक्ष दर्शन भी प्रतिभा ज्ञान ही होता है किन्तु इन दोनों में थोड़ा अन्तर है। क्रोचे प्रत्यक्ष अनुभूति को वास्तविक ज्ञान मानते हैं। क्रोचे ने अभिव्यंजना के जो दो भेद शाब्दिक और मूक बताये हैं वे काव्य और कला हैं। कविता शाब्दिक और कला मूक अभिव्यंजना है।

<u>क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के निष्कर्ष</u> :

1. कला, अभिव्यंजना और सहजानुभूति पर्यायवाची हैं।
2. अभिव्यंजना बाह्य नहीं, मानसिक अथवा आन्तरिक होती है अतः कला आन्तरिक क्रिया है।

3. बाह्य कलाकृतियों द्वारा कलाकार अपने अनुभव को अपने तथा दूसरे के लिए सुरक्षित रखता है अतः वे (side to memory) यानी स्मृति का एक पक्ष हैं।
4. असफल अभिव्यंजना नामक कोई चीज नहीं होती है।
5. कलाकार के लिए सुन्दर और असुन्दर का कोई भेद नहीं होता है।
6. रूप (Form) ही सौन्दर्य का आधार है जो अभिव्यंजना का मूल है।
7. कल्पना सौन्दर्य का अनिवार्य तत्त्व है।

7.2.5.1. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना में समानता

डॉ० नगेन्द्र ने ऐसे अनेक बिन्दुओं की खोज की है जिसमें क्रोचे का अभिव्यंजनावाद और कुन्तक की वक्रोक्ति में समानताएँ खोजी जा सकती हैं। ये बिन्दु निम्नांकित हैं –

1. दोनों ही अभिव्यंजनावाद को काव्य का प्राणतत्त्व मानते हैं।
2. दोनों ने काव्य तत्त्व में कल्पना को प्रमुख माना है।
3. दोनों ही उक्ति को अखण्ड, अविभाज्य, अद्वितीय स्वीकार करते हैं।
4. क्रोचे के समान कुन्तक ने भी अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना।
5. दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्य अभिव्यंजना में श्रेणी विभाजन स्वीकार नहीं करते हैं।

7.2.5.2. वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद में विषमता

1. अभिव्यंजनावाद की स्थापना अथवा प्रवर्तन करने वाले क्रोचे की मान्यता कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश ज्ञान से है, इसके विपरीत कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को कला से सम्बन्धित मानते हैं।
2. क्रोचे का मानना है कि सहज स्वभाविकता में काव्य का सौन्दर्य है किन्तु कुन्तक वक्रता और विचित्रता को सौन्दर्य का मूल मानते हैं।
3. क्रोचे की दृष्टि में मानसिक अभिव्यंजना प्रमुख है, बाह्य अभिव्यक्ति गौण है जबकि कुन्तक शाब्दिक अभिव्यक्ति पर बल देते हैं।
4. क्रोचे ने कला को अविभाज्य माना है, कुन्तक भेद-उपभेद करते हैं।
5. कुन्तक देहवादी हैं और क्रोचे आत्मवादी हैं।

7.2.6 पाठ-सार

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य के पर्याय रूप में अर्थात् कवि व्यापार के रूप में प्रतिष्ठित किया था। हिन्दी कविता को विदेशी साहित्य के निकट सम्पर्क का अवसर मिला और हिन्दी कविता वस्तु और शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में यूरोप के प्रभाववाद प्रतीकवाद, बिम्बवाद, अभिव्यंजनावाद, अस्तित्ववाद जैसे अनेक वादों से प्रभावित हुई। कविता की भाषा एवं शिल्प का क्षेत्र सर्वाधिक उथल-पुथल का क्षेत्र रहा। प्रभावी

सम्प्रेषण के लिए कवि भाषा के सभी अवयवों का मौलिक एवं अभिनव प्रयोग करता है। इसी काव्य-चिन्तन की एक समृद्ध परम्परा भारत में रही। आप अनेक सिद्धान्तों के विषय में यहाँ पढ़ चुके हैं। वक्रोक्ति सिद्धान्त का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य भी इन्ही उद्‌भावनाओं को व्यंजित करना है। अक्षर, शब्द, पद, वाक्यविन्यास, प्रकरण, प्रबन्ध आदि को मनचाहे रूपों में व्यक्त करने की प्रवृत्ति कवियों में रही है। कुन्तक ने भी भारतीय काव्य-परम्परा के कविता के प्रतिमान निर्धारित किये और वक्रोक्ति को काव्य की 'आत्मा' तक ले गए। हालाँकि वक्रोक्ति सिद्धान्त पर यह आरोप लगता रहा कि यह एक देहवादी सिद्धान्त है। कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति के बहुत करीब पाया परन्तु आत्मा वक्रोक्ति को ही माना। वस्तुतः वक्रोक्ति सम्पूर्ण कला सौन्दर्य का पर्याय है।

7.2.7 बोध प्रश्न

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप की विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. वक्रोक्ति की अन्य काव्य-सिद्धान्तों से तुलना स्थापित करते हुए उनमें साम्य-वैषम्य निर्धारित कीजिए।
3. वक्रोक्ति सिद्धान्त के भेदों-प्रभेदों का विस्तार से विवेचन कीजिए।
4. वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

7.2.8 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. आचार्य विश्वेश्वर (टीकाकार), हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
2. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
3. मिश्र, भागीरथ, भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
4. हीरा, राजवंश सहाय, भारतीय आलोचनाशास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
5. काणे, पी. वी., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, अनुवाद – इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 8 : ध्वनि सिद्धान्त

इकाई – 1 : ध्वनि का अर्थ, लक्षण और स्वरूप, काव्यात्मा के रूप में ध्वनि, ध्वनि तथा रस सिद्धान्त का सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

8.1.00 उद्देश्य कथन
8.1.01 प्रस्तावना
8.1.02 ध्वनि का अर्थ
8.1.03 ध्वनि का लक्षण और स्वरूप
8.1.04 ध्वनि के आधारभूत तत्त्व
8.1.05 काव्यात्मा के रूप में ध्वनि
8.1.06 ध्वनि तथा रस का सम्बन्ध
8.1.07 हिन्दी काव्य में ध्वनि
8.1.08 पाठ-सार
8.1.09 बोध प्रश्न
8.1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

8.1.00 उद्देश्य कथन

इस इकाई के अन्तर्गत आप ध्वनि का अर्थ, ध्वनि के लक्षण और स्वरूप, विभिन्न आचार्यों द्वारा काव्य की आत्मा ध्वनि के विषय में जान सकेंगे। साथ ही ध्वनि तथा रस का क्या सम्बन्ध है ? इसका अध्ययन करेंगे।

8.1.01 प्रस्तावना

ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक नौवीं सदी के आचार्य आनन्दवर्धन थे। इन्होंने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ की रचना की। ध्वन्यालोक ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना करना है। इसमें ध्वनिकार ने काव्य के एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका मानना है कि वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो अर्थ होते हैं। काव्य में वास्तविक सौन्दर्य प्रतीयमान अर्थ का है जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ में अधिक चारुत्व की निष्पत्ति होती है। वह काव्य ही ध्वनि काव्य है। इस ग्रन्थ में ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण तथा भेदों-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया है।

8.1.02 ध्वनि का अर्थ

संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। 'ध्वनि' शब्द की निष्पत्ति 'ध्वन' धातु में 'इ' प्रत्यय के संयोग से हुई है। ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ है – कानों में सुनाई पड़ने

वाला नाद या आवाज किन्तु ध्वनि का काव्यशास्त्रीय अर्थ इससे अलग है। ध्वन्यालोक में ध्वनि की परिभाषा करते हुए कहा गया है –

यत्रार्थेः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थो।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि कथितः॥

– (ध्वन्यालोक.1.13)

अर्थात् जिस रचना में वाचक विशेष और वाच्य विशेष अपने को तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर काव्यार्थ या (व्यंग्यार्थ) करते हैं वह 'ध्वनि' कहलाती है और स्पष्ट रूप से कहा जाय तो विद्वान् उस काव्य को ध्वनि कहते हैं जिसमें शब्द और अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि का अर्थ व्यंग्यार्थ है। ध्वनि सिद्धान्त में इसे 'प्रतीयमान' अर्थ भी कहा गया है।

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है –

1. ध्वनति इति ध्वनिः।
2. ध्वन्यन्ते इति ध्वनिः।
3. ध्वननं इति ध्वनिः।

जब हम 'ध्वनति इति ध्वनिः' यह व्युत्पत्ति करते हैं तो इसका वाच्यार्थ भी होता है और वाचक शब्द भी। इसी प्रकार वाच्यार्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है। जब हम 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' कर्मवाच्य में व्युत्पत्ति करते हैं। तब उसका अर्थ व्यंग्यार्थ होता है। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है। जब हम 'ध्वननं ध्वनि' इस प्रकार व्युत्पत्ति करते हैं तो उसका अर्थ होता है शब्द और अर्थ का व्यापार। इस प्रकार शब्द और अर्थ का व्यापार ध्वनि होता है। उक्त प्रकार की जब काव्य में उपस्थिति रहती है तब काव्य को भी ध्वनि की संज्ञा प्रदान की जाती है। आनन्दवर्धन ने इन पाँचों को ध्वनि का नाम दिया है –

वाच्यवाचक समिश्रः शब्दात्मा काव्यति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।

– (ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति से)

इस प्रकार यहाँ ध्वनि शब्द की संज्ञा केवल काव्य को ही नहीं अपितु शब्द, अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और काव्य इन पाँचों को दी गई है।

आचार्य विश्वेश्वर ने ध्वन्यालोक टीका की भूमिका (पृ. 03) में इन पाँचों में ध्वनि तत्त्व की व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखाई है –

i.	व्यंजक ध्वनि :	"ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनि" अर्थात् जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक ध्वनि है।
ii.	व्यंजक अर्थ :	"ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः" अर्थात् जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।
iii.	व्यंग्यार्थ :	"ध्वन्यते इति ध्वनिः" अर्थात् जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है।
iv.	व्यंजना व्यापार :	"ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः" अर्थात् जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है।
v.	व्यंजना प्रधान काव्य :	"ध्वन्यते अस्मिन् इति ध्वनिः" अर्थात् जिस काव्य में रस, अलंकार एवं वस्तु ध्वनि होते हैं वह काव्य ध्वनि काव्य है।

इस प्रकार व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना व्यापार और काव्य इनमें ध्वनि का तत्त्व मिलता है।

8.1.03 ध्वनि का लक्षण और स्वरूप

आनन्दवर्धन के अतिरिक्त और भी कई आचार्यों ने ध्वनि के स्वरूप को विवेचित किया है। ध्वनि के विषय में अन्य आचार्यों के मत द्रष्टव्य हैं –

आनन्दवर्धन का मत :

आनन्दवर्धन ने ध्वनि विषयक मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थोः।
व्यक्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सुरभिः कथितः॥

– (ध्वन्यालोक .1.13)

अर्थात् जहाँ पर (वाच्य) एवं शब्द (वाचक) दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ को गौण बनाकर उस व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं वह अर्थ 'ध्वनि' कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या में यह मत भी प्रस्तुत किये है कि जो कुछ प्रतीयमान है वह भी ध्वनि है। प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो स्त्रियों के सुन्दर शरीरांगों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से पृथक् रूप से परिभाषित होती है –

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

– (ध्वन्यालोक.1.4)

इसी प्रकार आनन्दवर्धन ने एक उदाहरण के माध्यम से ध्वनि को व्यक्त किया है –

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवानः जनः।
तदुपायतया तद्वद् अर्थवाच्ये तदादृतः॥

– (ध्वन्यालोक. 1.9.)

आचार्य मम्मट का ध्वनि विषयक मत :

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के स्वरूप को इस प्रकार परिभाषित किया है –

इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्यार्थ ध्वनिबुधैः कथितः।

– (काव्यप्रकाश 1.4)

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ अति चमत्कार पूर्ण होता है वहाँ ध्वनि काव्य होता है। मम्मट की यह मान्यता ध्वनि की स्वीकृति मात्र है। ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रमुख होता है और आचार्य मम्मट ने भी व्यंग्यार्थ से युक्त काव्य को ही अधिक सुन्दर और चमत्कारमूलक मानाहै।

अभिनव गुप्त का ध्वनि विषयक मत :

आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वनि के विषय में इस प्रकार कहा है –

काव्यस्य तत्त्वभूतो यो अर्थेस्तस्यभावनावाच्यातिरेकेणानवरत चवर्णा तत्र विमुखानम्।

अर्थात् काव्य के तत्त्वभूत अर्थ की भावना अर्थात् वाच्य से भिन्न रूप में अनवरत चवर्णा जो विमुख हैं उन्हें काव्यानन्द की प्रतीति नहीं हो सकती।

आचार्य विश्वनाथ का ध्वनि विषयक मत :

वाच्यादतिशयिनि व्यंङ्गये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तम्॥

– (साहित्य दर्पण 4.1)

अर्थात् ध्वनि वह काव्य है जिसमें व्यंग्य रूप, अर्थ, अतिशय चमत्कार युक्त होता है। आचार्य ने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। उन्होंने भी वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य प्रधान काव्य को श्रेष्ठ एवं उत्तम काव्य की श्रेणी में रखा है।

पण्डित जगन्नाथ का ध्वनि विषयक मत :

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ युक्त काव्य को ही श्रेष्ठ काव्य माना है। इस परिपेक्ष्य में इनकी दो मान्यताएँ हैं –

(i) जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कार जनक एवं प्रधान अर्थ को अभिव्यक्त करे उसे ही उत्तम काव्य कहते हैं। चमत्कार जनक अर्थप्रधान होने से तात्पर्य व्यंजना शब्द शक्ति की स्वीकृति मात्र है।

(ii) "काव्य जीवितम् चमत्कारित्व" कहकर पण्डितराज ने व्यंजना पर आह्लादपूर्ण एवं चमत्कार युक्त काव्य को श्रेष्ठता प्रदान की है।

उपर्युक्त ध्वनि विषयक मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन सभी आचार्यों ने ध्वनि को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। भिन्नता कथन शैली में भले ही हो किन्तु मूल बात व्यंजना शब्द शक्ति से सम्बन्धित है जिसे सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। ध्वनि विषयक मतों के आधार पर प्रमुख रूप से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं –

1. गौण वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति को ध्वनि कहते हैं।
2. किसी भी काव्य का काव्यत्व ध्वनि में समाविष्ट होता है।
3. व्यंग्यार्थ की प्रतीति से सहृदय के मन में एक विशेष चमत्कार जन्म लेता है।
4. प्रतीयमान अर्थ काव्य का महत्त्वपूर्ण गुण है। प्रतिभाशाली कवियों की वाणी में व्यंग्यार्थ के माध्यम से अपूर्व आस्वादन कराने की क्षमता होती है। प्रतीयमान अर्थ व्यंजना से भी परे किसी नवीन शक्ति से सम्बन्धित होता है।
5. काव्य का तत्त्वभूत अर्थ काव्यास्वाद व्यंग्यार्थ के द्वारा ही सम्भव प्रतीत होता है। मम्मट और विश्वनाथ की दृष्टि में ध्वनि काव्य ही श्रेष्ठ एवं उत्तम काव्य है।

8.1.04 ध्वनि के आधारभूत तत्त्व

ध्वनि के आधारभूत तत्त्वों में केवल दो ही तत्त्वों की विवेचना की जाती है। इनमें पहला तत्त्व वैयाकरणों का स्फोटवाद है और दूसरा प्रमुख तत्त्व व्यंजना व्यापार है। इन दोनों से ही ध्वनि प्रमाणित होती है।

1. स्फोटवाद

काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि शब्द वैयाकरणों से लिया है। वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्त ही ध्वनि का प्रथम आधार है। स्फोट पद की व्युत्पत्ति है – "स्फुटयति अर्थः यस्मादिति स्फोटः।" अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है, वह स्फुटित है। इस सिद्धान्त में बताया गया है कि प्रत्येक शब्द के दो रूप होते हैं – नित्य और अनित्य। वर्ण रूप में जो शब्द उच्चारित होते है वे अनित्य हैं। इस उच्चरित अनित्य शब्द के द्वारा एक पृथक् ध्वनि रूप शब्द व्यंजित होता है जो नित्य है। यही स्फोटवाद का मूल सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब हम कभी किसी शब्द का उच्चारण करते है तब उस उच्चारण क्रम अनित्य शब्द के वर्ण नष्ट हो जाते हैं और पूर्ण वर्ण के अनुभव सहित अन्तिम वर्ण के अनुभव से नित्य शब्द अखण्ड स्फोट के रूप में प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए कमल शब्द को लिया जा सकता है। शब्द कौस्तुभ में लिखा है कि जो स्फुटित करे वह स्फोट है। वैयाकरणों के इसी स्फोट के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई है।

2. व्यंजना व्यापार

आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त का दूसरा आधारभूत तत्त्व व्यंजना है। साधारणतः शब्द शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं – अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार शब्द और अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति अभिधा कहलाती है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति होती है। लक्षणा के अन्तर्गत मुख्यार्थ के बोध और अन्य अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त किया गया जाता है। अभिधा और लक्षणा जब अपना-अपना कार्य समाप्त कर लेती है तब व्यंजना शब्द शक्ति का कार्य प्रारम्भ होता है। काव्यशास्त्र में व्यंजना शब्द का प्रयोग ध्वनित करने वाली शक्ति के रूप में किया गया है। वस्तुतः व्यंजना से ही ध्वनि व्यापार प्रायः स्पष्ट होता है। व्यंजना में जो व्यंजित करने का भाव है वही प्रतीयमान अर्थ है। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि ध्वनि सिद्धान्त सम्पूर्ण व्यंजना पर ही आधारित है।

ध्वनि की व्युत्पत्ति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकार है – "ध्वन्यते व्यञ्जते वस्त्वलंकार रसादिः अनया इति व्यंजनावृत्ति ध्वनिः" अर्थात् जिस शक्ति के माध्यम से वस्तु, रस और अलंकार आदि का अर्थ स्पष्ट होता है उसे व्यंजना शब्द शक्ति कहते हैं। व्यंजना के स्वीकार करने पर व्यंजक और व्यंग्य को प्रमाणित किया जा सकता है। यह व्यंजकत्व ही ध्वनि का असाधारण तत्त्व है। इतना ही नहीं प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के सम्बन्ध में जो बात आनन्दवर्धन ने कही है वह व्यंजना से बहुत अलग नहीं है। अतः इसी व्यंजना पर ध्वनि सिद्धान्त की नींव रखी गई है। कुछ आलोचकों की धारणा है कि व्यंजना व्यापार की मान्यता देने के विचार से ही ध्वनिवादी आचार्यों ने व्याकरणों के स्फोटवाद की शरण ली थी। अतः सिद्धान्त रूप से व्यंजना व्यापार ही ध्वनि सिद्धान्त की आधारशिला स्वीकार किया जा सकता है। स्फोटवाद तो वास्तव में सादृश्य पद्धति पर ध्वनि के स्वरूप का स्पष्टीकरण करता है।

8.1.05 काव्यात्मा के रूप में ध्वनि

ध्वनि काव्य की आत्मा है । यह प्रश्न आनन्दवर्धन से बहुत पहले ही स्पष्ट हो चुका था । संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन प्रथम आचार्य थे जिन्होंने काव्य की आत्मा का प्रश्न उठाया और "रीतिरात्मा काव्यस्य" की उक्ति द्वारा समग्र गुणगुम्फित वैदर्भी रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है । वामन से पूर्व यद्यपि भरत, भामह, दण्डी आदि अनेक आचार्य हो गए थे जिन्होंने अपनी कृतियों में साहित्य के अंग-प्रत्यंगों का विवेचन किया किन्तु काव्यात्मा का प्रश्न उनकी मस्तिष्क में नहीं आया । भरत ने काव्य में रस की सत्ता की अनिवार्यता का विधान अवश्य किया है किन्तु 'रस काव्य की आत्मा है' ऐसा कहीं नहीं कहा है ।

आनन्दवर्धन ने वामन की काव्यात्मा के निर्धारण की बात को प्रसन्नता से ग्रहण किया । उन्होंने यह तक स्वीकार किया कि वामन काव्य की आत्मा की खोज के लिए बेचैन रहे हैं किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में आनन्दवर्धन वामन की तरह रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं कर पाए । आनन्दवर्धन की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' का प्रारम्भ ही काव्य की आत्मा के विवेचन से किया है । उन्होंने सबसे पहले काव्य की आत्मा ध्वनि है, कहकर ही अपने विवेचन को आगे बढ़ाया है । उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि "काव्य के अन्य अंग-प्रत्यंगों में शब्दार्थ और गुण, अलंकार आदि का होना तो ठीक है किन्तु काव्य की आत्मा ध्वनि ही है ।" यही कारण है कि ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन स्थान-स्थान पर काव्यात्मा के प्रश्न की चर्चा करते हैं । वे ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा सभी उत्तम कविता का सार तत्त्व एवं रमणीय तत्त्व ध्वनि मानते हैं । उन्होंने प्रतीयमान अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है । यही कारण है कि जो अर्थ सहृदयों द्वारा प्रशंसित हैं, उसे ही काव्य की आत्मा के रूप में विवेचित किया है । उन्होंने अपने एक श्लोक में कहा है कि काव्य शरीर की आत्मा के रूप में स्थित जो सहृदय श्लाघ्य अर्थ है उसके दो भेद हैं – वाच्य और प्रतीयमान । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन इन दोनों ही अर्थों को महत्त्व देते हैं । जैसे ही पाठक उनके विवेचन में गहराई से उतरता जाता है वैसे ही वह यह अनुभव करता है कि प्रतीयमान अर्थ ही काव्य श्रेष्ठ तत्त्व है । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ध्वनिकार ने अपने विवेचन में काव्यात्मा की खोज और स्थापना के लिए असाधारण और प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया है उनके शब्द निम्न प्रकार हैं –

विविध वाच्यवाचक रचना प्रपंचचारुणः काव्यस्य स एवार्थः आत्मा ।

अर्थात् नाना प्रकार के वाच्य तथा वाचक की रचना के प्रपंच से चारु काव्य में सार रूप स्थित आत्मा के समान ही प्रतीयमान अर्थ की स्थिति होती है । काव्य में प्रतीयमानता की अनिवार्यता को आनन्दवर्धन ने भली प्रकार प्रस्तुत किया है । उनका कथन है कि महाकवियों की आलंकारिक रचनाओं में प्रतीयमान की छाया ही काव्यात्मक सौन्दर्य का विधान करती है । वे ऐसा इसलिए कहते हैं कि यदि वस्तु मात्र का वर्णन अथवा केवल अलकारों की सृष्टि ये ही कविता का निर्माण नहीं होता है । अतः किसी भी कविता में प्रतीयमान अर्थ का होना आनन्दवर्धन ने आवश्यक माना है । उन्होंने इस मत के प्रमाण में यह कहा है कि जिस कविता में केवल अलंकृति है अथवा चमत्कार है वह किसी भी स्थिति में श्रेष्ठ काव्य नहीं हो सकता है ।

ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का पूरक माना जाता है या उसे रस की ही व्यवस्थित, संशोधित और पूर्ण सिद्धान्त मानकर विवेचित किया जाए। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद किये हैं – (i) वस्तुध्वनि, (ii) अलंकारध्वनि और (iii) रसध्वनि।

वस्तुध्वनि से तात्पर्य उनका यह है कि जहाँ अभिव्यक्त वस्तु तथ्य रूप में होती है वहाँ वस्तुध्वनि होती है। उदाहरण के लिए उस प्रसंग को लिया जा सकता है, जब सीता वनवास जाते समय ग्रामीण स्त्रियों को अपने पति का परिचय संकेत से देती है –

सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने स्यानि हैं जानकी जान भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसकाई चली॥

उपर्युक्त उदाहरण की अन्तिम पंक्ति में वस्तुध्वनि है। जहाँ पर सीता संकेत से अथवा व्यंग्य से राम के पति होने की सूचना देती है। अलंकारध्वनि वहाँ होती है जहाँ पर ध्वनित व्यंग्यार्थ अलंकार रूप होताहै। इस ध्वनि के अन्तर्गत भी किसी तथ्य का ही निरूपण होता है किन्तु इतने पर भी रमणीयता का आधार अलंकार या उक्ति चमत्कार होता है। जैसे –

धन्यासि या कथयसि प्रिय संगमेमि विस्राब्ध चाटुशकतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणहिते तु करे प्रियेण, सख्यः शपामि नहिं किंचिदपि स्मरमि॥

अर्थात् हे सखी ! तुम धन्य हो जो अपने प्रिय से मिलने पर संभोग के बीच में कही गई प्रियतम की खुशामद भरी सैकड़ों बातें याद रखे हुए हो। यहाँ अपनी तो हालत ही विचित्र है। जैसे ही प्रिय नीवी पर हाथ रखते हैं वैसे ही मैं तुम्हारी सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मुझे कुछ भी होश नहीं रहता। इस उदाहरण में सखी का यह कहना कि तुम धन्य नहीं बल्कि मैं ही धन्य हूँ जिसे रति सुख की वास्तविक अनुभूति होती है। इसमें अलंकारध्वनि है। रसध्वनि उस स्थान पर होती है जहाँ रस ही वस्तु स्थिति का ज्ञान करता है। रसध्वनि उपर्युक्त दोनों ध्वनियों मे श्रेष्ठ है। अतः अलंकार रीति आदि के होते हुए भी इस ध्वनि को ही आनन्दवर्धन ने श्रेष्ठता प्रदान की है जिनके कारण वे ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित कर सके हैं। आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है और रसध्वनि को श्रेष्ठता प्रदान की है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे मूल रूप से रस को ही दूसरे ढंग से ध्वनि के द्वारा समझाते हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है और ध्वनि की स्थापना के लिए प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ की महत्ता को प्रस्तुत किया है।

8.1.06 ध्वनि तथा रस का सम्बन्ध

ध्वनि सिद्धान्तवादियों ने अपने सिद्धान्त को व्यापक बनाने के लिए यद्यपि रस, गुण, अलंकार, रीति आदि का समावेश अपने सिद्धान्त में किया किन्तु उन्होंने रस की महत्ता सबसे अधिक मानी। वस्तु, रीति, अलंकार

आदि काव्य के बाहरी साधन हैं। वे व्यंग्य नहीं हैं, काव्य में उनका अस्तित्व प्रत्यक्ष होता है इसलिए ध्वनि सिद्धान्त में वे पूरी तरह अनुकूल नहीं बैठते थे। रस का वर्णन काव्य में वर्णन नहीं होता है, रस अभिव्यंजित होता है, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की सहायता से। इसलिए रस की स्थिति ध्वनि सम्प्रदाय से अधिक अनुकूल थी। ध्वनि सिद्धान्त का मूल आधार व्यंजित होने वाला अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ है और काव्य में अन्त में रस ही व्यंजित होता है इसलिए स्वाभाविक रूप से उन्होंने रसध्वनि का सबसे अधिक महत्त्व स्वीकार किया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या करते हुए लिखा है कि शरीर में आत्मा के समान सुन्दर (गुण, अलंकार युक्त) उचित (रसादि के अनुरूप) रचना के कारण रमणीय काव्य के सार रूप में स्थित, सहृदय प्रशंसित जो अर्थ है। उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं। उनमें से वाच्यार्थ उपमादि अलंकारों का विषय है। प्रतीयमान रमणियों के अंगों से भिन्न उनके लावण्य के समान वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन की ध्वनि में ध्वन्यार्थ ही अभीष्ट है। प्रतीयमान अर्थ से उनका अभिप्राय वह कवि कथन है जो शब्द शास्त्र (व्याकरण आदि) तथा अर्थशास्त्र (कोष आदि) का विषय न होकर काव्यमर्मज्ञों की अनुभूति का विषय है। ध्वनि के भेदों की चर्चा प्रसंग में उनका कथन है – "रसादि रूप अर्थ प्रधानरूप से प्रतीत होने पर काव्य की आत्मा होती है।" इससे स्पष्ट है कि प्रतीयमान अर्थ रूप कथ्य से उनका अभिप्राय रस ही है। इसकी पुष्टि ध्वनिकार ने इस प्रकार की है –

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौच द्वन्द्व वियोगोत्थः शोक श्लोकत्वभागतः॥

– (ध्वन्यालोक 1.5)

इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य ने लिखा है –

प्रतीयमानस्य चान्यमेददर्शनेऽपि रसाभावमुखेनैवोपक्षण प्रधान्यात्।

अर्थात् यद्यपि प्रतीयमान के और (वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि) भी भेद दिखाये गये हैं परन्तु प्रधानतया रस भाव द्वारा ही उनका ज्ञापन होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन को ध्वनि का प्रतिपाद्य रस ही अभीष्ट है। इस रूप में ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त की उपकारक है। वस्तुतः ध्वनिवादियों की व्यंजना शक्ति के रहस्य को सरल बनाने में बड़ा योगदान दिया है।

रस को काव्य में पर्याप्त महत्त्व देते हुए भी ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकृति के मूल में प्रबल तर्क है। संवादी आचार्यों के अनुसार रसहीन रचनाओं में काव्यत्व की स्वीकृति नहीं है। ऐसी बहुत-सी रचनाएँ थीं जिनमें विभाव आदि से परिपुष्ट रसादि व्यंग्य के अभाव में भी अलंकार अथवा वस्तु का चमत्कार रहता है। जैसे –

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून ।
पानी गए न ऊबरे मोती मानुष चून॥

– (रहीमदास)

ध्वनि और रस के मध्य में जो खाई बढ़ गई थी उसे पाटने वाले महत्त्वपूर्ण आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं। ध्वनि और रस के घनिष्ठ सम्बन्ध को उन्होंने निरूपित किया है। वस्तुतः ध्वनि सिद्धान्त और रस सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। अतः यह कहना ठीक है कि रस सम्प्रदाय से ध्वनि सम्प्रदाय को कोई विरोध नहीं है। दोनों में उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध है। दोनों में रस की महत्ता है परन्तु ध्वनि सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक लगता है। निश्चय ही यह रस सिद्धान्त का ही विस्तार है। ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का उपकारक जिन कारणों से है वे इस प्रकार हैं –

1. ध्वनि सिद्धान्त ने रस के स्वरूप का विस्तार किया। रस के अन्तर्गत नवरसों के अतिरिक्त भाव, भावभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि तथा भावशान्ति आदि को समाविष्ट किया और साथ ही वस्तु-तथ्य बोध आदि को भी किसी-न-किसी रूप में रस से सम्बद्ध स्वीकार किया।
2. ध्वनि सिद्धान्त ने रस के क्षेत्र का विस्तार किया। इससे पूर्व भरत द्वारा प्रतिपादित विभावादि पुष्ट परिनिष्ठित रस की स्थिति नाटक में ही सम्भव थी। भरत मुनि ने काव्य के सन्दर्भ में रस की स्थिति का विचार ही नहीं किया था। इस अभाव की पूर्ति ध्वनि सिद्धान्त द्वारा हुई। ध्वनि सिद्धान्त, श्रव्य काव्य, प्रबन्ध और मुक्त में रसभाव की स्थिति को सिद्ध एवं स्पष्ट करने में सहायक हुआ। ध्वनि सिद्धान्त से ही फुटकर पद्यों में भी रस की स्थिति स्वीकार्य हुई है।
3. ध्वनि सिद्धान्त ने ध्वनि को अभिधा शक्ति के विषय वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न व्यंजना शक्ति की विषय व्यंग्य माना। रस को ध्वनि का व्यापार स्वीकार किया। इससे रस व्यंजना की प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन हुआ। कुल मिलाकर यह कह सकते हैं कि ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का ही विस्तार है तथा ध्वनि और रस में उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध है।

8.1.07 हिन्दी काव्य में ध्वनि

हिन्दी काव्य साहित्य में आदिकाल से ध्वनि गर्भित काव्य का निर्माण हुआ है। पृथ्वीराज रासो में जिस प्रचुरता से अलंकार, रीति, गुण तथा रस-सामग्री का प्रयोग हुआ है उससे स्पष्ट है कि कवि चन्दवरदाई ने काव्यशास्त्र के अंग-प्रत्यंगों का गहरा अध्ययन किया था। इनके काव्य का अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वे वीर एवं शृंगार का परिपाक करने वाले रसवादी कवि थे। वीरगाथाकाल के अनन्तर निर्गुण काव्यधारा प्रवाहित हुई जिसमें प्रभूत मात्रा में व्यंजना गर्भित काव्य का निर्माण हुआ लेकिन वह व्यंजना दर्शन तथा साधनापरक थी। उदाहरणतः कबीर जब कहते हैं –

पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथ।
आगे तें सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथ॥

तब दोहों में स्पष्टः वाच्यार्थ से परे कोई अन्य अर्थ प्रदान करते हैं जो ध्वन्यार्थ के अलावा और कुछ नहीं हो सकते। इसी प्रकार भक्तिकाव्य में ध्वनिप्रधान काव्य की प्रचुरता पाई जाती है। मानस के अरण्यकाण्ड में जब गिद्धराज जटायु से राम कहते हैं –

सीता हरन तात जनि कहहु, पिता सन जाई।
जौं मैं राम तो कुलसहित, कहहि दसानन जाई॥

– (रामचरितमानस)

इस दोहे का अर्थ व्यंजना शक्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। सूरदास का भ्रमरगीत तो ध्वनि से भरपूर है। 'हमारे हरि हारिल की लकरी' का अर्थ व्यंजना से ही स्पष्ट हो पाता है अन्यथा नहीं। छायावादी काव्य में भी ध्वनि का सर्वोत्तम संयोजन हुआ है। महादेवी का काव्य तो ध्वनि का मानसरोवर है। जैसे –

मत अरुण घूँघट खोल री।

– (नीरजा : महादेवी वर्मा)

इस पंक्ति में कोई सखी अपनी किसी सखी को घूँघट उठाने को कह रही है। अतः यहाँ पर 'मत' शब्द में ध्वनि है।

ऐसे ही एक अन्य उदाहरण में देखिये –

सिखा दो ना हे मधुप कुमारी मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कठोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधुपान॥

– (पल्लव : सुमित्रानन्दनपन्त)

प्रस्तुत पंक्तियों में ध्वनि समझने के लिए 'ना' और 'मत' में भेद समझ लेना आवश्यक है। 'ना' कहने से जहाँ प्रायः अनुरोध ध्वनित होता है, वहाँ 'मत' कहने से बिल्कुल नहीं। उपर्युक्त दोनों अंशों में 'ना' और 'मत' ध्वनि का प्रयोग हुआ है।

8.1.08 पाठ-सार

ध्वनि सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। ध्वनि सिद्धान्त को संस्कृत साहित्य के अलावा हिन्दी साहित्य जगत् में भी विशिष्ट स्थान प्राप्त है। 'ध्वनि' शब्द की निष्पत्ति 'ध्वन' धातु में 'इ' प्रत्यय के संयोग से हुई है। ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ है कानों में सुनाई पढ़ने वाला नाद या आवाज किन्तु ध्वनि का काव्यशास्त्रीय अर्थ इससे अलग है। जिस रचना में वाचक विशेष और वाच्य विशेष अपने को तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर काव्यार्थ या (व्यंग्यार्थ) करते हैं वह 'ध्वनि' कहलाती है और स्पष्ट रूप से कहा जाय तो विद्वान् उस काव्य को ध्वनि कहते हैं जिसमें शब्द और अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि का अर्थ व्यंग्यार्थ है। ध्वनि सिद्धान्त में इसे 'प्रतीयमान' अर्थ भी कहा गया है।

गौण वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति को ध्वनि कहते हैं। किसी भी काव्य का काव्यत्व ध्वनि में समाविष्ट होता है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति से सहृदय के मन में एक विशेष चमत्कार जन्म लेता है। प्रतीयमान अर्थ काव्य का महत्त्वपूर्ण गुण है। प्रतिभाशाली कवियों की वाणी में व्यंग्यार्थ के माध्यम से अपूर्व आस्वादन कराने की क्षमता होती है। प्रतीयमान अर्थ व्यंजना से भी परे किसी नवीन शक्ति से सम्बन्धित होता है। काव्य का तत्त्वभूत अर्थ काव्यास्वाद व्यंग्यार्थ के द्वारा ही सम्भव प्रतीत होता है। मम्मट और विश्वनाथ की दृष्टि में ध्वनि काव्य ही श्रेष्ठ एवं उत्तम काव्य है।

ध्वनि के दो आधारभूत तत्त्व हैं इनमें पहला तत्त्व वैयाकरणों का स्फोटवाद है और दूसरा प्रमुख तत्त्व व्यंजना व्यापार है। इन दोनों से ही ध्वनि प्रमाणित होती है। ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा सभी उत्तम कविता का सार तत्त्व एवं रमणीय तत्त्व ध्वनि माना गया हैं।

रस का वर्णन काव्य में वर्णन नहीं होता है, रस विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की सहायता से अभिव्यंजित होता है इसलिए रस की स्थिति ध्वनि सम्प्रदाय से अधिक अनुकूल थी। ध्वनि सिद्धान्त का मूल आधार व्यंजित होने वाला अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ है और काव्य में अन्त में रस ही व्यंजित होता है इसलिए स्वाभाविक रूप से रसध्वनि का सबसे अधिक महत्त्व स्वीकार किया।

आदिकाल से लेकर अद्यतन कवियों ने अपने काव्य में ध्वनि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। छायावादी काव्य तो ध्वनि का भण्डार है।

8.1.09 बोध प्रश्न

1. ध्वनि का अर्थ व लक्षण बताते हुए काव्यात्मा के रूप में ध्वनि को समझाइए।
2. ध्वनि का लक्षण व स्वरूप विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं के माध्यम से समझाइए।
3. ध्वनि का अर्थ बताते हुए ध्वनि तथा रस का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
4. ध्वनि का लक्षण बतलाते हुए ध्वनि के आधारभूत तत्त्व बताइए।

8.1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. ध्वन्यालोकः, आनन्दवर्धन, साहित्य भण्डार , मेरठ
2. काव्यप्रकाशः, मम्मटाचार्य, साहित्य भण्डार , मेरठ
3. साहित्यदर्पणः, आचार्य विश्वनाथ, साहित्य भण्डार , मेरठ
4. रस गंगाधरः, पण्डित जगन्नाथ ,चौखम्भा विद्याभवन ,वाराणसी
5. नाट्यशास्त्रः, आचार्य भरत मुनि, चौखम्भा विद्याभवन ,वाराणसी
6. रहीम दास के दोहे
7. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पी. वी. काणे, साहित्य भण्डार, मेरठ

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 8 : ध्वनि सिद्धान्त

इकाई –2 : ध्वनि काव्य और उसके भेद, गुणीभूत व्यंग्य और उसकेभेद, अधम काव्य (चित्रकाव्य)

इकाई की रूपरेखा

8.2.0 उद्देश्य कथन
8.2.1 प्रस्तावना
8.2.2 ध्वनि काव्य और उसके भेद
8.2.3 गुणीभूत व्यंग्य और उसके भेद
8.2.4 अधम काव्य (चित्र काव्य)
8.2.5 पाठ-सार
8.2.6 बोध प्रश्न
8.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

8.2.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप–

i. ध्वनि काव्य और विभिन्न आचार्यों द्वारा बताये गए उसके भेद तथा भेद के लक्षण के बारे में जान सकेंगे।
ii. गुणीभूत व्यंग्य और उसके भेदके बारे में विस्तार से जान पाएँगे। साथ ही यह भी जानने का प्रयास करेंगे कि यह किस प्रकार का काव्य है।
iii. अधम काव्य (चित्रकाव्य) के बारे में जान सकेंगे कि यह किस कोटि का काव्य है।

8.2.1 प्रस्तावना

पिछले पाठ में आपने ध्वनि का अर्थ, ध्वनि का लक्षण और स्वरूप, काव्यात्मा के रूप में ध्वनि तथा ध्वनि और रस का क्या सम्बन्ध है, इन बिन्दुओं को पढ़ा । प्रस्तुत पाठ में आप ध्वनि काव्य के विभिन्न भेदों के बारे में जानेंगे तथा विभिन्न आचार्यों द्वारा ध्वनि के भेद बताये गए हैं उन्हें जानकर आप समझ सकेंगे कि ध्वनि काव्य किस प्रकार का काव्य है ? विभिन्न आचार्यों ने इसे उत्तम काव्य की संज्ञा दी है। दूसरा काव्य भेद गुणीभूत व्यंग्य है इसके आठ भेद बताये गए हैं। इसे मध्यम काव्य की श्रेणी में रखा गया है। अधम काव्य को चित्र काव्य का नाम दिया गया है।

8.2.2 ध्वनि काव्य और उसके भेद

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने वाच्य को गौण करके उस (व्यंग्यरूप) विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थो।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

– (ध्वन्यालोक.1.13)

आनन्दवर्धन की तरह मम्मट ने ध्वनि काव्य का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है –

काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द का अर्थ है – "व्यंग्यार्थ प्रधान शब्दार्थ युगल रूप काव्य" । जिस काव्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ अधिक चमत्कारी होता है वह ध्वनिकाव्य होता है। मम्मट ने ध्वनि काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है –

इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्यार्थ ध्वनिबुधैः कथितः।

– (काव्यप्रकाश 1.4)

अर्थात् काव्य में जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ का अधिक चमत्कार होता है तो उसे उत्तम काव्य कहते हैं। इसे और भी आसान शब्दों में ध्वनि को इस प्रकार समझा जा सकता है – ध्वनि उस व्यंग्यार्थ को कहते है जो वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण हो । अर्थात् ऐसी कविता जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट अथवा प्रभावशाली होता है, ध्वनि काव्य कहलाता है और उसे ही उत्तम काव्य माना जाता है।

आचार्यों द्वारा ध्वनि काव्य के विभिन्न भेद स्वीकार किए गए हैं। आइए, इनका अवलोकन करें –

<u>आनन्दवर्धन का मत</u> :

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए स्वीकार किया है। व्यंजना को ध्वनि का आधारभूत तत्त्व मानते हुए – व्यंजना के मूल में अभिधा और लक्षणा शब्द शक्तियाँ हैं – इस आधार पर उन्होंने ध्वनि के दो भेद किये हैं – (i) अविवक्षित वाच्य ध्वनि अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि तथा (ii) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अर्थात् अभिधामूला ध्वनि।

आचार्य अभिनव गुप्त का मत :

आचार्य अभिनव गुप्त मूलरूपसे रसवादी आचार्य थे अतः रस की सम्यक् पुष्टि के लिए उन्होंने ध्वनि को महत्त्व प्रदान किया और सिद्ध किया कि रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। उन्होंने काव्य में रसध्वनि को महत्त्व न देते हुए वस्तु ध्वनि और अलंकारध्वनि के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट का मत :

आचार्य मम्मट ने ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन करते हुए काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमें उन्होंने ध्वनि को आधार बनाकर काव्य के तीन भेद किये – (i) ध्वनि काव्य, (ii) गुणीभूत काव्य तथा (iii) चित्रकाव्य।

ध्वनि काव्य	:	ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होताहै।
गुणीभूत काव्य	:	वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण या कम चमत्कारक होता है।
चित्रकाव्य	:	जहाँ पर व्यंग्यार्थ नहीं होता है वहाँ काव्य चित्रकाव्य होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ का मत :

पण्डितराज जगन्नाथ का ध्वनि सिद्धान्त के अन्तिम समर्थक के रूप में माना जाता है। उन्होंने 'रसगंगाधर' नामक काव्य में ध्वनि के आधार पर काव्य के तीन भेदों के स्थान पर चार भेद बताये हैं – (i) उत्तमोत्तम, (ii) उत्तम, (iii) मध्यम तथा (iv) अवर।

उत्तमोत्तम	:	ध्वनि काव्य
उत्तम	:	गुणीभूत व्यंग्य
मध्यम	:	अन्य अर्थालंकार काव्य
अवर	:	शब्दालंकार चित्रकाव्य

वैसे तो ध्वनि के वस्तु, अलंकार और रस आदि तीन मुख्य भेद किये गए हैं लेकिन काव्यशास्त्र में इनको दो मुख्य भेदों के अन्तर्गत समाहित किया गया है। ये दो मुख्य भेद हैं – (i) अविवक्षित वाच्य ध्वनि अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि और (ii) विविक्षितान्य परवाच्य ध्वनि अर्थात् अभिधामूला ध्वनि।

ध्वनि के भेदों को और भी आसान तरीके से इस वर्गीकरण के माध्यम से समझा जा सकता है –

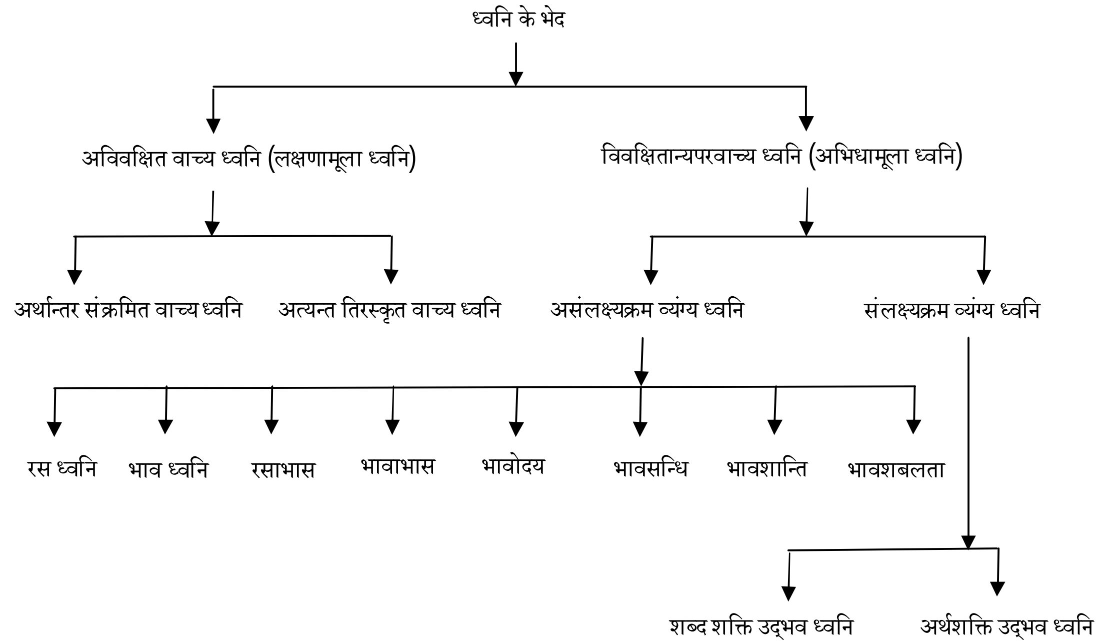

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के दो भेद निरूपित किये हैं –

1. अविवक्षित वाच्य ध्वनि अथवा लक्षणामूला ध्वनि

लक्षणामूला अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। "अविवक्षितः वाच्यः मुख्यार्थ यत्र सः" अर्थात् जिसमें वाच्य अर्थ की विवक्षा नहीं होती। मुख्य वाच्य अर्थ के बाधित होने से इसमें लक्ष्य अर्थ विवक्षित होता है, अतः इसको लक्षणामूला भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। इससे इसमें वाच्यार्थ का बाधित होना या उसका अनुपयुक्त होना निश्चित है। जैसे किसी ने कहा कि – "वह कुम्भकर्ण है।" इस वाक्य में केवल यही समझा जायेगा कि उसके कान घड़े के समान है या वह लंका का राजा रावण का भाई है। किन्तु यहाँ मुख्यार्थ बाधित हुआ। क्योंकि वह व्यक्ति न तो रावण का भाई है और नहीं उसके कान घड़े के समान है। यहाँ मुख्यार्थ बाधित होने पर लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया गया और उससे अर्थ निकला 'निद्रालु' अर्थात् वह व्यक्ति निद्रालु है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद हैं – (i) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि तथा (ii) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

(i) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि :

जहाँ मुख्यार्थ का बोध होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षण द्वारा अपने अर्थ से संक्रमित हो जाए या बदल जाए वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है। इसे पदगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। उदाहरणार्थ –

सीता हरन तात जनि, कहेउ पिता सन जाय।
जो मैं राम तौ कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥

उक्त पंक्तियों में 'राम' शब्द का अर्थ केवल 'राम' नामक व्यक्ति नहीं वरन् वह पराक्रमी 'राम' है जिसने शिवधनुष को तोड़ा है अर्थात् वे दशरथ पुत्र 'राम' हैं। इस प्रकार 'राम' पद अपने वाच्य की स्थिति बनाये रखकर भी अर्थान्तर विशेष के कारण संक्रमित हो रहा है। अतः इसमें अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।

एक अन्य उदाहरण में देखिए –

लंका में एक था विभीषण भारत में बहुतेरे।
कैसे नेता कुछ कर लेंगे मिलकर आज घनेरे ॥

उक्त पंक्तियों में वाच्यार्थ तो यही है कि लंका में एक ही विभीषण था, परन्तु भारत में बहुत विभीषण हैं। किन्तु इस वाच्यार्थ से पद्य का वास्तविक अर्थ प्रकट नहीं होता क्योंकि विभीषण का मुख्यार्थ है – रावण का भाई। परन्तु भारत में रावण का एक भी भाई नहीं, बहुतेरों की बात तो दूर। इस प्रकार विभीषण शब्द के मुख्यार्थ का बोध होने से पद्य का अभिप्राय नहीं जाना जा सकता। अतः यहाँ लक्ष्यार्थ के द्वारा यह ज्ञात हुआ जिस तरह विभीषण घर का भेदिया, भातृद्वेषी, देशद्रोही तथा शत्रु-सहायक था उसी तरह भारत में भी देशद्रोहियों, शत्रु-सहायकों की कमी नहीं है अतः यहाँ विभीषण शब्द अर्थान्तर संक्रमित कर गया है।

(ii) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि :

जहाँ वाच्य पूर्णतया तिरस्कृत एवं त्याज्यहोता है वहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होता है। जैसे –

बापू तुम हो मानव अथवा विभु हो विमल विभूत।
चक्रकेतु भारत के रथ के सूत्रधार स्वदूत॥

उक्त पंक्तियों में बापू पर स्वदूत का अपना अर्थ छोड़कर उस पुरुष का अर्थ देता है जो पृथ्वी पर स्वर्गीय सुख का संचार करने के लिए आया है अतः लक्षण लक्षणा है। इससे प्रयोजन रूप में यह व्यंग्य निकलता है कि महात्मा गाँधी विश्व को स्वदूत के सदृश्य कल्याण के सन्देशदाता तथा सत्य के साम्राज्य के संस्थापक हैं।

एक अन्य उदाहरण देखिए –

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत वचन झरत जनु फूला॥

उक्त पंक्तियों में फूल का अर्थ काकु वैशिष्ट्य से शूलहै। आपकी वाणी से फूल झड़ते हैं अर्थात् आपकी वाणी शूल की तरह चुभ रहीहै, कष्ट दे रही है। फूल शब्द नितान्त तिरस्कृत होकर अपने मूल अर्थ को त्यागकर विलोमार्थी हो गया है। अतः यहाँ पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू की बूँद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहचान सके॥

– (प्रसाद)

उक्त पंक्तियों में नीलोत्पल के बीच में मोती के सदृश आँसू सजेहैं। इस अर्थ में बाध स्पष्ट है किन्तु आँसू के सहारे नीलोत्पलों में अध्वनित उपमेय नयनों का शीघ्र बोध हो जाता है। नीलोत्पल में अपना अर्थ छोड़कर आँख का अर्थ देने से लक्षण-लक्षणा है। यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि नयन बड़े ही सुन्दर है और दर्शनीय हैं अतः यहाँ नीलोत्पल में तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

2. विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अर्थात् अभिधामूला ध्वनि

अभिधामूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं।

विवक्षितम् अन्यपरं व्यंग्यनिष्ठं च वाच्यं यत्रसः।

अर्थात् जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी व्यंग्य के प्रति निष्ठ होता है। वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार बल्कि वह विवक्षित रहता है। कहने का तात्पर्य है कि वाच्यार्थ अन्य अर्थ के अस्तित्व को रखते हुए अपना अस्तित्व नहीं खोता बल्कि व्यंग्यार्थ का तभी बोध होता है जब वाच्यार्थ का बोध होता है। इस वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ बोध के मध्य का क्रम कहीं लक्षित होता है कहीं अलक्षित।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद हैं – (i) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि तथा (ii) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

(i) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि :

जहाँ व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता वहाँ असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। कहने का तात्पर्य है कि जिसमें हम 'पहले और बाद में' का अनुभव नहीं करते कि यह वाच्यार्थ है और उसके पश्चात् यह व्यंग्यार्थ है वहाँ पर असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके आठ भेद माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं –

(1) रस ध्वनि :

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव इन तीनों की अभिव्यक्ति रस ध्वनि कहलाती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए –

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन पग अबनि कठोरा॥
जिवन मूरि जिमि जोगवत रहेऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहेऊँ॥
सो बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती॥
सो सिय भवन रहै कह अंबा। मो कहँ होय बहुत अवलंबा॥

उक्त पंक्तियों में नवपरिणिता सीता आलम्बन रूप विभाव है। उनकी सुकुमारता, अल्पवयस्कता, स्निग्धता आदि उद्दीपन विभाव है। पुत्र वियोग के साथ वधू वियोग की आशंका से कौशल्या की विवर्णता, उच्छवास, दीन वचन, रोदन, दैव-निन्दा आदि अनुभाव हैं। चिन्ता, मोह, ग्लानि, दैन्य आदि संचारी भाव हैं। प्रिय के अनिष्ट के कारण 'शोक' है। इस प्रकार यहाँ करुण रस की अभिव्यक्ति है।

एक अन्य उदाहरण में शृंगार रस की छठा है –

आये विदेश से प्रानप्रिय, मतिराम अनन्द बढ़ाय अलेखै।
लोगन से मिलि आँगन बैठि, धरी-सी-घटी सिगरी घर पेखै॥
भीतर मौन के द्वार खरी, सुकुमारी तिया तन काम विसेखै।
घूँघट को पट ओट दिये, पट ओर किये पिय को मुँह देखै॥

– (मतिराम)

उक्त पंक्तियों में नायिका का पति परदेश से घर आया है। नायिका घूँघट से अपने मुँह को छिपाकर कपड़े की ओट में से पति का मुख देख रही है। इस आचरण से नायिका का नायक के प्रति प्रेमभाव प्रकट हो रहा है। यहाँ शृंगार रस है। रति नामक स्थायी भाव है। यहाँ व्यंग्यार्थ यह है कि दोनों में अकाट्य प्रेम है। यहाँ सहृदय को काव्यानन्द (रस ध्वनि) की प्रतीति होती है।

(2) भाव ध्वनि :

जहाँ रति, हास, उत्साह आदि अपुष्ट स्थायी भाव हो अथवा संचारी भाव का प्राधान्य होता है वहाँ भाव ध्वनि होती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए –

कर कुठार में अकरुन कोही। आगे अपराधी गए द्रोही।
उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे।
नतु यह काटि कुठार कठोरे। गुरुहि उरिन होतेऊँ श्रम थोरे॥

उक्त पंक्तियों में आलम्बन, अनुभाव, संचारी भाव के रहते हुए भी विश्वामित्र के शील के कारण क्रोध नामक स्थायी भाव नाम मात्र को रह गया है; उद्दीप्त होकर पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त नहीं हुआ है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

सहे वार पर वार अन्त तक
लड़ी वीर बाला-सी।
आहुति-सी गिर चढ़ी चिता पर,
चमक उठी ज्वाला-सी।

– (सुभद्रा कुमारी चैहान)

उक्त पंक्तियों में केवल उद्‌बुद्ध मात्र उत्साह नामक स्थायी भाव है।

(3) रसाभास :

जहाँ पर रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे वहाँ पर रसाभास होता है। जैसे – नायिका का उपनायक प्रेम अथवा नायक प्रेम, एकांगी प्रेम, पशुपक्षी आदि का प्रेम वर्णन। निम्नलिखित उदाहरण देखिए –

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जँह तँह गाल बजावन लागे।
लेहु छुड़ाय सीय कह कोऊ। धरि बाँधो नृप बालक दोऊ॥
तोरे धनुष काज नहिं सरई। जीवत हमहि कुँवरि को बरई।
जौ विदेह कछु करहि सहाई। जीतहु समर सहित दोऊ भाई॥

उक्त पंक्तियों में धनुष को न उठा सकने वाले पराजित राजाओं का राम के प्रति युद्ध करने का उत्साह अनुचित है तथा यहाँ पर रसाभास है।

(4) भावाभास :

जहाँ पर भाव में कोई अनौचित्य झलकने लगे वहाँ पर भावाभास माना जाता है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए –

दरपन में निज छाँह सँग लखि प्रियतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अखियन माँह॥

उक्त पंक्तियों में क्रोध का भाव व्यर्थ ही आने से भावाभास है।

(5) भावोदय :

जहाँ पर एक भाव के उदय होने में आकर्षण हो वहाँ भावोदय होता है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए –

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात॥

– (बिहारी)

उक्त पक्तियों में नायक का रूठना, मनाना, खीजना आदि उत्कण्ठाओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन होने से भावोदय है।

(6) भावसन्धि :

जहाँ पर दो भावों के मिश्रण के कारण चमत्कार पैदा हो वहाँ पर भाव सन्धि होती है। उदाहरणार्थ –

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीत।
परति गाँठ दुरजन-हिये, दई, नई यह रीति॥

यहाँ पर नेत्र का जुड़ना, कुटुम्ब का टूटना इन दो भावों के कारण भाव सन्धि है।

एक अन्य उदाहरण देखिए –

पिय बिछुरन को दुसह, दुख हरष जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यहि बार॥

उक्त पंक्तियों में सुख और दुःख, हर्ष और विरह दोनों ही भावों की सन्धि से चमत्कार है।

(7) भावशान्ति :

एक भाव के उदित होने के पश्चात् शान्त हो जाने पर भावशान्ति होती है। उदाहरणार्थ –

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को॥

उक्त पंक्तियों में उद्धव को आता देखकर बृजवासियों के हर्ष के भाव (कृष्ण को न देखकर) विषाद भाव में परिवर्तित हो जाते हैं। यहाँ पर भावशान्ति है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

सोवत लखि मनु मानु धरि ढिंग सोयो प्यौ आइ।
रही सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौ लिपटाइ॥

उक्त प्रसंग में अमर्ष भाव की शान्ति ध्वनित हो रही है क्योंकि नायिका के नायक के हृदय से लिपट जाने का वर्णन शृंगार रस में परिणत हो रहा है।

(8) भाव शबलता :

दो से अधिक भावों के उदय होने पर भाव-शबलता होती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए –

त्रिवली नाभि दिखाई करि सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली-गली ओट कैं, चली भली विधि चाहि॥

– (बिहारी)

उक्त पंक्तियों में नायिका का नायक को देखकर एक के बाद अनेक हाव भावों को दिखाने से भावशबलता है।

एक अन्य उदाहरण देखिए –

बालमु बारै सौति के सुनि पर नारि बिहार।
भौ रसु अनरसु रिस रली, रीझि खीझि इकबार॥

– (बिहारी)

इस प्रसंग में ईर्ष्या संयुक्त सुख, सौत के सामने आ जाने का दुःख, नायक के दूसरों के यहाँ न जाने पर रीझ और बुरी आदत पड़ने पर खीझ जैसे विरोधी भावों में भावशबलता दिखाई गई है।

(ii) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि:

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम स्पष्ट लक्षित होता है। वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। यह कभी शब्दशक्ति से प्राप्त होती है तो कभी अर्थशक्ति से। आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है –

अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्थितिस्तु यः।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ स्त्रिधा स कथितो ध्वनिः॥

– (काव्यप्रकाश. 4/37)

अर्थात् अनुरणन (आस्वान) के समान लक्ष्य है क्रम जिसमें, ऐसे व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है वह संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है। अनुस्वान का अर्थ है – अनुरणन, घण्टा बजाने के पश्चात् प्रधान शब्द की प्रतीति के अनन्तर जो हल्का-सा शब्द निकलता है वही अनुरणन कहलाता है। यह शब्द, अर्थ की व्यंजना द्वारा उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार की होती है – (1) शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि और (2) अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि।

(1) शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि :

इसमें शब्द शाब्दी व्यंजना के द्वारा वस्तु या अलंकाररूप अनुरणन के समान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसे शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि कहा जाता है। इसके दो भेद हैं – (i) वस्तुध्वनि और (ii) अलंकारध्वनि।

(i) वस्तु ध्वनि:

जहाँ व्यंग्यार्थ किसी वस्तु (भाव) के रूप में प्रतीत होता है वहाँ वस्तु ध्वनि मानी जाती है। उदाहरणार्थ –

जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर राह बनाता।
जीवन निर्मल वही, सदा जो आगे बढ़ता॥

उक्त उदाहरण में पहाड़ से निकलने वाला जीवन (पानी) निर्मल होता है – यह वाच्यार्थ हुआ। जीवन शब्द के श्लिष्ट होने से व्यंग्यार्थ निकला कि वही मनुष्य पवित्र और गतिशील होता है जो पहाड़ जैसी आपत्तियों को झेलकर आगे बढ़ता है। यहाँ पर वस्तुध्वनि है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर ॥

– (बिहारी)

उक्त पंक्तियों में राधा और कृष्ण की समरूपता की सिद्धि हलधर के वीर और वृषभानुजा में की गई है। अतः यहाँ पर वस्तुध्वनि है।

(ii) अलंकारध्वनि :

जहाँ व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है वहाँ अलंकार ध्वनि होती है। उदाहरण देखिए –

दिव्य अरघ नीचै चलो संकट भानै जाई।
सुचती ह्वै और सबै ससिहि बिलौकै आइ ॥

– (बिहारी)

उक्त उदाहरण में रूपक अलंकार व्यंग्य है क्योंकि नायिका के मुख पर चन्द्रमा को आरोप रूपक अलंकार के समान वाच्य रूप में न किया जाकर व्यंग्य रूप में किया गया है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

अज्यों तर्‌यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाकबास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥

– (बिहारी)

उक्त उदाहरण में सत्संग की महिमा का वर्णन किया गया है। वेद का ही एकमात्र पाठ करने वाले व्यक्ति की दशा की समता कानों में सदा लटकने वाले श्रुति-भूषण या कुण्डल से की गई है। यहाँ पर श्लेष अलंकार के साथ ही उपमालंकार व्यंग्य है। अतः यहाँ श्लेष के कारण चमत्कार दिखाई देता है।

(2) अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि :

इसमें अर्थ (आर्थी) व्यंजना के द्वारा अनुरणन के समान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् किसी शब्द के पर्याय द्वारा भी वही अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है या पर्याय प्रयोग करने पर भी वही व्यंग्यार्थ बना रहता है उसे अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि कहते हैं।

ध्वन्यालोककार ने संलक्ष्यक्रम ध्वनि के दो ही भेद माने हैं जो इस कारिका में द्रष्टव्य हैं –

क्रमेण प्रतिभात्यात्म योऽनुस्वानसन्निभिः।
शब्दार्थ शक्ति मूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥

– (ध्वन्यालोक 2.20)

अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि के बारह भेद बतलाए हैं। सर्वप्रथम व्यंजक अर्थ तीन प्रकार का होता है – (क) स्वतःसिद्ध, (ख) कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध और (ग) कविनिवद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध।

(क) स्वतःसिद्ध : इसे स्वतःसम्भवी भी कहते हैं। इसका व्यावहारिक जीवन में अस्तित्व होता है। यह केवल कल्पनाप्रसूत होता है। उदाहरण देखिए –

विप्रवंश की यह प्रभुताई। अभय होई जो तुमहि डराई॥

उक्त उदाहरण में लोक में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा वस्तु है जिसे विरोधाभास अलंकार के माध्यम से व्यक्त किया गया है। निर्भय होने पर डरने की बीच में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो विपरीत धर्म के है किन्तु लोक में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखने से असंगति की प्रतीति नहीं होती है। अतः यहाँ अलंकार से विषयवस्तु की व्यंजना की गई है।

(ख) कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध : इसमें कवि अपनी प्रतिभा द्वारा ही उस अर्थ की कल्पना करता है। यह आवश्यक नहीं कि उसका अस्तित्व लोक में हो ? वह कवि कल्पनामात्र प्रसूत अर्थ है। उदाहरण देखिए –

लगति सुभग शीतल किरन, निसदिन सुख अवगाहि।
माह सभी श्रम सुर तन, रही चकोरी चाहि॥

उक्त पंक्तियों में किरणें रमणीक एवं शीतल लगती हैं जिसके कारण दिन में ही रात्रि सुख का अनुभव करती हुई चकारी माह मास में सूर्य की ओर आसंकित भाव से देख रही है। किरणों के प्रति चकोरी की आसक्ति कवि की कल्पना है, इसके माध्यम से कवि ने सूर्य में दाहकता के अभाव का चित्रण किया है।

(ग) कविनिवद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध : यह कवि द्वारा नायिकादि के रूप में उद्भाषित वक्ता की प्रतिभा द्वारा कल्पित होता है। उदाहरण देखिए –

को जाने बैठे हैं कहा, ब्रज उपजी अति आगि।
मन लागै नैनु लगै, चलै न मग लगि लागि॥

यहाँ पर नयनों के लगने से लोक में आग कभी नहीं लगती है और मन जैसा अमूर्त्त (दिखाई न देने वाला) पदार्थ उस आग से जलता भी नहीं है। अतः यह सब नायिका की कल्पना है। स्वयं नायिका ही कवि-निबद्ध वक्ता है। कवि ने ऐसे वक्ता की कल्पना की है। यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि नयनों से प्रिय को देखने के बाद से

वियोग की दशा में पीड़ित हो रही हूँ। बिना प्रिय के जीवित रहना सम्भव नहीं रह गया है। अतः प्रिय-मिलन आवश्यक है।

8.2.3 गुणीभूत व्यंग्य और उसके भेद

गुणीभूत व्यंग्य वह काव्य है जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है अर्थात् वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणीभूत व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार बतलाई है –

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्ययान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥

– (ध्वन्यालोक 3.35)

ध्वनिकार का अनुसरण करते हुए आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य को इस प्रकार व्यक्त किया है –

अतादृशि गुणीभूत व्यंग्य तु मध्यमम्॥

– (काव्यप्रकाश 1.2)

अर्थात् व्यंग्य अर्थ के वैसा अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कार न होने पर (अतादृशि) तो मध्यम काव्य होता है। इसे ही (काव्य तत्त्वज्ञों) ने गुणीभूत व्यंग्य कहा है। आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम काव्य कहा है।

आचार्य मम्मट ने ऐसे काव्य को मध्यम काव्य कहा है जिसमें व्यंग्यार्थ होता तो है किन्तु वह वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं होता, वाच्यार्थ से दबा होता है और गौण होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने इस काव्य को गुणीभूत व्यंग्य नाम दिया है।

इस प्रकार उत्तम अर्थात् ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता है, मध्यम अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है और वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है। पण्डित जगन्नाथ ने इसे ही उत्तम काव्य के अन्तर्गत कहा है क्योंकि व्यंग्यार्थ का अस्तित्व इस काव्य में है। चमत्कार चाहे व्यंग्यार्थ में हो चाहे वाच्यार्थ में, उसका अस्तित्व होने से काव्य उत्तम कोटि का होता है।

गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद हैं – (i) अगूढ़ व्यंग्य, (ii) अपरांग, (iii) वाच्यसिद्ध्यंग, (iv) अस्फुट, (v) सन्दिग्ध प्रधान, (vi) तुल्यप्रधान, (vii) काक्वाक्षिप्त तथा (viii) असुन्दर।

अगूणमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्रधान्ये काक्वाक्षिप्तं सुन्दरम्॥

– (काव्यप्रकाश 5.45)

(1) अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ असहृदय जनों को भी व्यंग्यार्थ की शीघ्र प्रतीति हो जाती है अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत होता है वहाँ अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए –

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

उक्त पंक्तियों में 'सब धन धूरि समान' से मुख्यार्थ की बाधा है परन्तु अर्थ यह निकलता है कि जब संतोष आ जाता है तब सब धनों का महत्त्व समाप्त हो जाता है। यहाँ व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि सन्तोष ही आवश्यक है, उसके सामने और धन बेकार है।

(2) अपरांग गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ वाक्य के तात्पर्य रूप किसी अन्य प्रधान अर्थ का अंग अर्थात् उपकारक हो जाता है। अर्थात् जहाँ पर रस, भाव, भावाभास आदि एक दूसरे के अंग हो जाते हैं वहाँ पर अपरांग गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए –

सपनो है संसार यह, रहस सन जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय॥

उक्त पंक्तियों में 'मिलि पिय मनमानी करौ' में शृंगार रस का भाव है शेष पंक्तियों में शान्त रस का। इन पंक्तियों में शान्त रस अंग अर्थात् पोषक है और शृंगार रस पोषित होने के कारण अंगी है किन्तु शान्त रस शृंगार रस की अपेक्षा अधिक चमत्कारी हो गया है।

(3) वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि व्यंग्यार्थ के अधीन होती है अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बन जाए वहाँ पर वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए –

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यौ आगे कौन हवाल॥

उक्त पक्तियों में व्यंग्य नायिका है जो कली से व्यंग्य है। इस व्यंग्यार्थ के स्पष्ट होने पर वाच्य की सिद्धि (अभी नायिका कम उम्र की है) सिद्धि होती है अतः उक्त पंक्तियों में वाच्यसिद्धिय गुणीभूत अंग व्यंग्य है।

(4) अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ को सहृदयजन भी सहज में नहीं समझ पाते। अर्थात् ऐसा व्यंग्य जो बहुत देर के बाद समझ में आए। अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य कहलाता है। उदाहरण देखिए –

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के।
प्रथम वसन्त में गुच्छ-गुच्छ ॥

– (निराला)

उक्त पंक्तियों में प्रकृति का वर्णन द्रष्टव्य है किन्तु इसका व्यंग्यार्थ है कि नायिका के यौवन में पदार्पण करते ही उसके यौवन में अनेक जिज्ञासाएँ जाग्रत् हो उठीं। यह बहुत देर बाद समझ में आता है। अतः यहाँ अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य है।

(5) सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ यह सन्देह होता है कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ। वहाँ सन्दिग्ध प्रधान्य गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए –

मानहुँ विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को कियो, भूषण पायंदाज॥

इस उदाहरण में वाच्यार्थ से उत्प्रेक्षा अलंकार है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

भीम थे या था क्रोध कठोर?
गिरा थी उनकी या कै घनघोर?

उक्त उदाहरण में 'भीम' और क्रोध कठोर मे घनिष्ठ समानता के कारण वस्तुस्थिति का निर्धारण नहीं हो सका है।

(6) तुल्य प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ चमत्कारोत्पादन में वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का तुल्य सामर्थ्य अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रधानता वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक नहीं होती वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए –

आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात।
चाँद दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अंधकार अज्ञात॥

उक्त उदाहरण में इस वाच्यार्थ का यह व्यंग्यार्थ हुआ कि सभी के दिन एक समान नहीं रहते। यह वाच्यार्थ के समान ही चमत्कारपूर्ण है। अतः यहाँ तुल्यप्रधान्य गुणीभूत व्यंग्य है।

(7) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ पर काकु ध्वनि (कण्ठगत विशेष ध्वनि) के द्वारा व्यंग्य प्रकट होता है वहाँ काक्वाक्षिप्त गूणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए –

है दससीस मनुष रघुनायक।
जिनते हनुमान से पायक॥

उक्त पंक्तियों में यहाँ व्यंग्यार्थ निकलता है कि राम मनुज नहीं है अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है।

(8) असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ स्वभाव से ही वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारपूर्ण होता है अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुन्दर न होवहाँ असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए –

बिहग शोर सुनि सुनि समुझि, पछवारे की बाग।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग॥

यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्य है कि बाग में प्रिय से मिलने के लिए प्रिया अत्यन्त व्याकुल है जो वाच्यार्थ से भी स्पष्ट है और यहाँ पर कोई चमत्कार नहीं है।

8.2.4 अधम काव्य (चित्र काव्य)

व्यंग्य ध्वनि अर्थ से रहित, अलंकार शास्त्र की शोभा से युक्त काव्य को चित्रकाव्य कहा गया है। यह दो प्रकार का है – (i) शब्दालंकारों से युक्त शब्दचित्र और (ii) अर्थालंकारों से युक्त अर्थचित्र। ध्वनिकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है –

प्रधान गुणभावाभ्यां व्यंग्स्यैव व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत तच्चित्रमभिधीयते॥
चित्रशब्दान भेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र कि चच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥

– (ध्वन्यालोक. 3.42.43)

आचार्य मम्मट ने भी चित्रकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है –

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यगं तत्त्वरं स्मृतम्।

– (काव्यप्रकाश 1.5)

अर्थात् जिसमें व्यंग्यार्थ नहीं होता उसे अधम (अवर) काव्य कहा गया है। उसे ही विद्वानों ने शब्दचित्र और अर्थचित्र कहा है। इसका भाव यह है कि जिस काव्य में स्पष्टतया व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं होता हो, माधुर्यादि गुणों के व्यंजक तथा अलंकार युक्त शब्द और अर्थ की योजना हो वह चित्रकाव्य है। यह दो प्रकार का है। शब्द चित्र और अर्थचित्र। आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धनाचार्य के चित्रकाव्य को ही अवर या अधम काव्य कहा है।

(1) शब्दचित्र काव्य

जहाँ प्रधानतया शब्द चमत्कार होता है वह शब्दचित्र काव्य है। उदाहरण देखिए –

चंचला चमाके चहूँ औरन तें चाह भरी,
चरजि गई थी फेरि चरजन लागी री।
कहै 'पद्माकर' लवगंन की लोनी लता,
लरजि गई थी फेरि लरजन लागी री॥
घुमडि घमंड घटा घन की घनेरी जबै,
गरजि गई तो फेरि गरजन लागी री॥

– (पद्माकर)

उक्त उदाहरण में कवि ने वर्षाऋतु के वर्णन में अनुप्रास अलंकार के माध्यम से चमत्कार दिखलाया है। अतः यहाँ शब्दचित्र काव्य है।

(2) अर्थचित्र काव्य

जहाँ प्रधानतया अर्थ-चमत्कार होता है। वहाँ अर्थ चित्र काव्य है। उदाहरण देखिए –

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

उक्त उदाहरण में दर्शाया गया है कि नारी के हृदय में ममता, सेवा भाव और पालन-पोषण की क्षमता है किन्तु उसे सदैव कष्ट, वेदना और यातनाएँ सहनी पड़ती हैं अतः यहाँ अर्थालंकार के माध्यम से अर्थचित्र काव्य है।

8.2.5 पाठ-सार

ध्वनि सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, व्यापक और विशिष्ट काव्य-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को संस्कृत साहित्य के अलावा हिन्दी साहित्य जगत् में भी विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। इसके इतने अधिक भेद-प्रभेद इस सिद्धान्त की महत्ता और व्यापकता को दर्शाते हैं। काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द का अर्थ है व्यंग्यार्थ प्रधान शब्दार्थ युगल रूप काव्य। जिस काव्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ अधिक चमत्कारी होता है। वह ध्वनि काव्य होता है। "ध्वनि उस व्यंग्यार्थ को कहते हैं जो वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण हो।" अर्थात् ऐसी कविता जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट अथवा प्रभावशाली होता है, ध्वनि काव्य कहलाता है और उसे ही उत्तम काव्य माना जाता है।

विभिन्न आचार्यों ने ध्वनि के दो भेद निरूपित किये हैं – अविवक्षित वाच्य ध्वनि अथवा लक्षणामूला ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अर्थात् अभिधामूला ध्वनि। लक्षणामूला ध्वनि अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। "अविवक्षितः वाच्यः मुख्यार्थ यत्र सः" अर्थात् जिसमें वाच्य अर्थ की विवक्षा नहीं होती। मुख्य वाच्य अर्थ के बाधित होने से इसमे लक्ष्य अर्थ विवक्षित होता है, अतः इसको लक्षणामूला भी कहते है। इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। इससे इसमें वाच्यार्थ का बाधित होना या उसका अनुपयुक्त होना निश्चित है। इसके भी दो भेद हैं – अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। जहाँ मुख्यार्थ का बोध होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षण द्वारा अपने अर्थ से संक्रमित हो जाए या बदल जाए वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है। इसे पदगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। जहाँ वाच्य पूर्णतया तिरस्कृत एवं त्याज्य होता है वहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होती है।

अभिधामूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि कहते हैं। "विवक्षितम् अन्यपरं व्यंग्यनिष्ठं च वाच्यं यत्र सः।" अर्थात् जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी व्यंग्य के प्रति निष्ठ होता है वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार बल्कि वह विवक्षित रहता है। कहने का तात्पर्य है कि वाच्यार्थ अन्य अर्थ के अस्तित्व को रखते हुए अपना अस्तित्व नहीं खोता बल्कि व्यंग्यार्थ का तभी बोध होता है जब वाच्यार्थ का बोध होता है। इस वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ बोध के मध्य का क्रम कहीं लक्षित होता है कहीं अलक्षित। इसके भी दो भेद बताये हैं – असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि। जहाँ व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता वहाँ असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होतीहै। कहने का तात्पर्य है कि जिसमें हम 'पहले और बाद में' का अनुभव नहीं करते कि यह वाच्यार्थ है और उसके पश्चात् यह व्यंग्यार्थ है। वहाँ पर असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके आठ भेद माने गए हैं – रस ध्वनि, भाव ध्वनि, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि , भावशान्ति, भावशबलता। जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम स्पष्ट लक्षित होता है वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होतीहै। यह कभी शब्द शक्ति से प्राप्त होती है तो कभी अर्थशक्ति से। इसके भी दो भेद हैं – शब्द शक्ति उद्भव ध्वनि और अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि। शब्द शक्ति उद्भव ध्वनि में शब्द (शाब्दी व्यंजना के द्वारा वस्तु या अलंकाररूप अनुरणन के समान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसके दो भेद हैं – वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि। अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि में अर्थ (आर्थी) व्यंजना के

द्वारा अनुरणन के समान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् किसी शब्द के पर्याय द्वारा भी वही अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है या पर्याय प्रयोग करने पर भी वही व्यंग्यार्थ बना रहता है उसे अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि कहते हैं। अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि के बारह भेद बतलाए गए हैं। इनमें तीन मुख्य हैं – स्वतः सिद्ध, कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध और कविनिवद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध।

गुणीभूत व्यंग्य वह काव्य है जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है अर्थात् वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है। इसके आठ भेद हैं – अगूढ़ व्यंग्य, अपरांग, वाच्यसिद्धयंग,अस्फुट, सन्दिग्ध प्रधान, तुल्यप्रधान, काक्वाक्षिप्त, असुन्दर।

व्यंग्य ध्वनि अर्थ से रहित, अलंकार शास्त्र की शोभा से युक्त काव्य को चित्रकाव्य कहा गया है। यह दो प्रकार का है – (i) अर्थालंकारों से युक्त अर्थचित्र और (ii) शब्दालंकारों से युक्त शब्द चित्र।

8.2.6 बोध प्रश्न

1. ध्वनि काव्य के भेद व लक्षण बताते हुए समझाइए कि ध्वनि काव्य को किस श्रेणी में रखा जा सकता है ?
2. गुणीभूत व्यंग्य को उदाहरण सहित समझाइए।
3. ध्वनि काव्य के भेद-प्रभेदों को उदाहरण सहित समझाइए।

8.2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. काव्य प्रकाशः, मम्मटाचार्य, सं. : श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ
2. ध्वन्यालोकः, आनन्दवद्धनाचार्य, निर्देशित – डॉ॰ कृष्ण कुमार, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ
3. काव्यशास्त्रः, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
4. भारतीय साहित्यशास्त्रः, सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली
5. साहित्य दर्पणः, आचार्य विश्वनाथ, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ
6. रस गंगाधरः, पण्डित जगन्नाथ, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 9 : रस-सिद्धान्त

इकाई – 1 : रस : अर्थ एवं परिभाषा, भाव : स्वरूप और महत्त्व, रस तथा भाव का सम्बन्ध, रस के अवयव, रस का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

9.1.0 उद्देश्य कथन
9.1.1 प्रस्तावना
9.1.2 'रस' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा
9.1.3 रस के विभिन्न अर्थ
9.1.3.1 परिभाषा
9.1.3.2 भाव-भूमि
9.1.3.2.1 स्थायीभाव
9.1.3.2.2 विभाव
9.1.3.2.3 अनुभाव
9.1.3.2.4 संचारी (व्यभिचारी) भाव
9.1.3.3 रस का स्वरूप और महत्त्व
9.1.3.4 रस और भाव का सम्बन्ध
9.1.3.5 भक्तिरस में उत्पन्न बाधा तथा शमन
9.1.3.6 रीतियुग में 'भक्ति शृंगार' रूप में भक्तिरस को मान्यता : केशव, देव, घनानन्द
9.1.3.7 आधुनिक आलोचना में रस : भक्तिरस
9.1.4 पाठ-सार
9.1.5 बोध प्रश्न

9.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे कि –

i. 'रस' शब्द का क्या तात्पर्य है।
ii. रस के विभिन्न अर्थों को जानकार काव्य-रस के मर्म को समझ सकेगें।
iii. रस की सुनिश्चित परिभाषा जान सकेंगे।
iv. रस के स्वरूप की समझ विकसित कर सकेंगे।
v. रस-सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों का सिरमौर है तथा हिन्दी साहित्य में भी इसका प्रयोग व प्रतिफलन दीर्घकाल तक होता रहा है, इसे जान सकेंगे।
vi. भक्तिरस को स्वीकृत कर इसका सम्यक् विस्तार यथोचित रूप में हुआ है।

vii. रस के आनन्दकर स्वरूप में करुण रस के आस्वाद पर हुए विवाद के यथोचित् मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक समाधान को हृदयंगम कर सकेंगे।

viii. रस और भाव की संघटना से रस-निष्पत्ति और 'संयोग' आदि पहलू पर आपकी जिज्ञासा बलवती होकर अगले पाठ में प्रस्तुत तत्सम्बन्धी भट्टनायकादि आचार्यों के मतों की समीक्षा का प्रसंगावलोकन करेगी।

9.1.1 प्रस्तावना

रस एक सर्वथा मानसिक सघन प्रक्रिया है। इसके निष्पादक विभिन्न अवयव हैं। यहाँ इन अवयवों का परिचय प्रस्तुत करते हुए अन्यान्य अंगों पर विचार किया जाएगा। आगे यह भी दर्शाया जाएगा कि यद्यपि कुछ आचार्यों ने इसके मर्म-रस के अतिरिक्त बाध्यांगों के उत्कर्ष पर विचार करते हुए अलंकार, रीति, वक्रोक्ति ध्वनि, औचित्य आदि को भी काव्यत्व के प्राण रूप में प्रतिष्ठित किया तथापि, समय के सुविस्तृत पट पर इस रस तत्त्व ने ही अधिकांशतः अपना अधिकार रखा तथा जिन देहवादियों ने काव्यत्व के प्राणस्वरूप अपने अलग-अलग अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि मतों को प्रतिष्ठित किया, वे भी प्रकारान्तर से इस आत्म रूप रस का श्रेष्ठत्व मानने से अलग नहीं रहे। ध्वनिवाद ने यद्यपि समाहार-दृष्टि अपनाई परन्तु रस-ध्वनि की श्रेष्ठ कोटि बनाकर ही वे अपने उद्देश्य में सफल हुए। इसी प्रकार औचित्य मत के प्रतिष्ठापक को भी रसौचित्य की परिकल्पना कर अपने मत को साधना पड़ा।

अतः बड़ी गम्भीरता से इस रस के तत्त्व-साक्षात्कार के अनन्तर आगे इसके सभी अंगोपांगों का सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है ताकि इसका श्रेष्ठत्व परिलक्षित हो। तदर्थ, विस्तार से इसकी संघटना, निष्पत्ति, स्वरूप एवं विघातक कारणों पर भी विचार कर यथोचित समाधान किया गया है।

काव्य-रस से आत्मानन्द मिलता है। यह करुण में भी विभावन, साधारणीकरण, सत्वोद्रेक एवं अन्तर्वृत्तियों में समन्विति आदि प्रक्रिया से गुजर कर एक प्रकार से समरस आनन्द ही देता है – यह दर्शाया जा रहा है। काव्य की आत्मा रस है और कला की आत्मा सौन्दर्य है। सौन्दर्य के लिए अद्भुत तत्त्व चमत्कार का विशेष परितोष अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि मतों में मिल सकेगा तथापि यह रस-मत हिन्दी साहित्य की व्यापक काल-परिधि में व्याप्त रहा। आचार्यों के साथ सुकवियों के भी इसमें गुण-परिमाण समृद्ध रचनात्मक सहयोग की महत्ता स्वीकार्य रही। आगे चलकर स्वर्णकाल भक्तिकाल में रस-भेदों में श्रेष्ठ रचनानुसार संख्या-विस्तार के फलस्वरूप भक्तिरसादि भी जुड़े – इसे हम दिखाएँगे। इन रसों ने मध्यकाल में रचना और आलोचना द्वारा साहित्येतिहास में अपना यथोचित स्थान और महत्त्व बनाया, इसका भी अवलोकन कराया जाएगा।

9.1.2 'रस' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

'रस' भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीनतम शब्दों में से एक है। इसका चिन्तन काव्यास्वाद या सौन्दर्य-चिन्तन का मूलाधार है। यद्यपि इस काव्यानन्द की चिन्तन-परम्परा में आगे चलकर रस के अतिरिक्त अलंकार,

रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि अन्य तत्त्व भी आविर्भूत और विकसित हुए परन्तु रस या आनन्द का प्राथमिक चिन्तन आद्याचार्य भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित मिलता है। सूत्र यह है –

न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्त्तते। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भाव के संयोग से रस निष्पन्न होता है। (नगेन्द्र 156, भा.का.शा. की प., दिल्ली, ने.प.हा., प्र. 17)

ऐसा नहीं है कि यह शब्द भरत के पूर्व नहीं मिलता। भारतीय वाङ्मय में इसे पहले तैत्तिरीय उपनिषद् के 'रसो वै सः (2/7), श्रीमद्भगवद्गीता के 'रसोऽहमप्सु (7/8) आदि में ब्रह्मानन्द या आस्वाद के अर्थ में प्रयुक्त देख सकते हैं। डॉ॰ नगेन्द्र ने स्वयं भरत के पूर्व 'रस' को 'अथर्ववेद' और 'काम सूत्र' में बीजभूत माना है। (रस-सिद्धान्त, पृ. 11, दिल्ली, ने.प.हा. 69) तथापि उनके अनुसार 'नाट्यशास्त्र' में ही इसका प्रथम सांगोपांग निरूपण उल्लेख्य है। इसमें रस के अनेक अर्थ दृष्टिगत होते हैं।

9.1.3 रस के विभिन्न अर्थ

ये प्रायः चार अर्थों में प्रयुक्त होते हैं – (क) पदार्थ का रस, जैसे – खट्टा, मीठा आदि, (ख) औषधिरूपेण रस, (ग) साहित्य का रस तथा ब्रह्मानन्द रस।

आचार्य भरत ने मूलतः नाट्यविधा को ही आधार मानकर रस तत्त्व का निरूपण किया है। चूँकि, उनकी दृष्टि में नाटक ही साहित्य का सम्पन्न रूप है और इसका प्राणतत्व रस है। रस के बिना कोई अन्य अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता – "न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्त्तते।"

अगले श्लोकार्द्ध – "विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पतिः" में इसके सहकारी अंगों (विभाव, अनुभाव व संचारी भावों) का उल्लेख किया गया है। आगे कहा गया कि जैसे नाना व्यंजन व औषधि-द्रव्यों के संयोग से रस बनता है वैसे ही नाना भावों के संयुक्त होने पर रस निष्पन्न होता है। वैसे ही नाना भावों का स्थायी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है और जैसे स्वस्थ जन पूर्वोक्त का आस्वादन कर रसोपभोगजन्य आनन्द लेते हैं वैसे ही अनेक भावों व उनके अभिनय से व्यंजित वाणी, अंग और सत्त्व से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन रसिक जन करते हैं। (ना.शा. – 6/27-31) ये भावास्वादन से प्राप्त नाटक के रस हैं और सहृदय प्रेक्षक इससे आनन्दित होते हैं। यह तो रस का अर्थ हुआ जो व्यंजन से ब्रह्मानन्द तक गया। अब रस को परिभाषित कर सकते हैं।

9.1.3.1 परिभाषा

तदनुसार,

(1) रस अनुभूति का विषय है।

(2) यह सहृदयों के चित् में स्थित स्थायी भावों के जाग्रत् होने पर काव्य-नाटकों में वर्णित और व्यंजित विभाव, अनुभाव व संचारी भावों के संयोग से निष्फ्न होता है।

(3) तो, स्थायी भाव रस का आधार है जो सहकारियों के संयोग से चित्र में आस्वादित होकर आनन्दकर होता है। जैसे, रति स्थायी भाव सहकारी-संपुष्टहोकर शृंगार रस बन जाता है और प्रेमानन्द देता है।

9.1.3.2 भाव-भूमि

अब भावों पर विचार करें जो रस के कारक है। वाणी, अंग और सत्त्व से मिले हुए अर्थों को जो भावित करें वे भाव हैं। भाव के दो वर्ग होते हैं – (i) स्थायी भाव और (ii) विभाव। पहले स्थायी भाव को लें –

9.1.3.2.1 स्थायीभाव

सहृदय के अन्तःकरण में जो मनोविकार वासना रूप में विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें कोई विरुद्ध भाव दबा नहीं पाते उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। यह स्थायी भाव ही रस के आस्वादन का अंकुरवत् मूल द्रव्य है। जिस प्रकार मिट्टी में स्थित गन्ध जल पाकर प्रकट हो जाती है उसी प्रकार स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी (व्यभिचारी) भाव के संयोग से साहित्य में रस रूप आनन्द देता है।

इनकी संख्या मूलतः नौ है। ये हैं – रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शोक और शम। शम ही निर्वेद कहलाता है जिससे शान्त रस बनता है। परन्तु भरत इसे नहीं मानते। ये ही स्थायीभाव क्रमशः निम्नांकित रसों में परिणत होते हैं – शृंगार, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, करुण और शान्त रस। आगे के आचार्यों ने इसकी संख्या में वृद्धि की है। आचार्य अभिनव गुप्त (10वीं सदी) और मम्मट (12वीं सदी) ने शान्त रस को नवम रस माना। भोज और विश्वनाथ (14वीं सदी) ने दसवाँ रस वात्सल्य को माना। वात्सल्य का स्थायी भाव अपत्य स्नेह है जो छोटों के प्रति प्रेम या रति को जाग्रत् कर बनता है और उसी का एक प्रकार है। आगे भक्ति साहित्य के प्रवाह में रति के ही ऊर्ध्वमुखी होने पर हरि रति से भक्तिरस निष्पन्न मान्य हुआ जो 'दशधा' के नाम से भी प्रख्यात हुआ। इसी में वात्सल्य भी जुड़ा। इसके मुख्य आचार्य 16वीं सदी के चैतन्यानुयायी रूपगोस्वामी मान्य हैं।

9.1.3.2.2 विभाव

रस के कारण विभाव कहलाते हैं। इस विभाव के कार्य हैं। विभाव सहृदय-चित्त में स्थित रति, उत्साह आदि स्थायी भावों को उद्‌बुद्ध करते हैं। विभाव के दो भेद हैं – (क) आलम्बन और (ख) उद्दीपन।

(क) आलम्बन :

साहित्य में जिन पात्रों के अवलम्ब से सहृदय सामाजिक के रत्यादि स्थायी भाव रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उन्हें आलम्बन कहते हैं। (i) विषय और (ii) आश्रय। विषय को आलम्बन कहते हैं। जिसके हृदय में भाव जाग्रत् हो वह आश्रय कहलाता है और जिसके प्रति दूसरे के मन में भाव जाग्रत् हो, वह आलम्बन कहलाता है। जैसी – 'शकुन्तला' नाटक में शकुन्तला को देख दुष्यन्त के मन में रति भाव जाग्रत् हुआ, तो दुष्यन्त 'आश्रय' हुआ और शकुन्तला के प्रति यह जाग्रत् हुआ इसलिए शकुन्तला 'आलम्बन' हुई।

(ख) उद्दीपन :

उद्दीपन विभाव नामशः रस को उद्दीप्त करते हैं। अर्थात् जो रत्यादि स्थायी भावों को उद्दीप्त कर रसावस्था तक पहुँचने में सहयोग करते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं –

(i) आलम्बनगत चेष्टाएँ और बाह्य वातावरण। यथा – दुष्यन्त के रति भाव को शकुन्तला अपने कटाक्ष, भुज विक्षेप आदि से जब अधिक तीव्र कर दे तो उद्दीपन हुआ।

(ii) और फिर पुष्प वाटिका और फूलों पर भौरों का मधु गुंजार, मलय पवन संचार आदि वातावरण से रति का नायक (आश्रय) के हृदय में उद्दीपन होना स्वाभाविक है।

9.1.3.2.3 अनुभाव

ये रति आदि स्थायी भावों के बाह्य सूचक होते हैं। अनुभाव में पूर्वपद 'अनु' पीछे का अर्थ देता है अर्थात् आश्रय विषय के हृदय में किसी भाव के जगने पर उसकी मुख मुद्रा बदल जाती है। इसे आज 'केमिस्ट्री' भी कहते हैं। इससे परस्पर एक दूसरे के आन्तरिक मनोभावों को परखा जा सकता है और फलतः भाव रस की ओर वेग से बढ़ पाते हैं। जैसे – रति भाव जगने पर मुस्कान, ओठ व नेत्रों में फैलाव लक्षित हो जावे। ग्रीवा में, पलकों में लाजजन्य झुकाव आ जाता है, गालों में लालिमा छलक जाती है। यदि एक के रति जागरण-लक्षण से दूसरे के चेहने पर रोष आ जाए तो बात बनने की अपेक्षा अक्सर बिगड़ जाती है और भृकुटी-तनाव, स्वर में रूखापन, नेत्रों में ललाई और हस्त संचालन होने लगता है। ये ही आन्तर अमूर्त्त भावों के सूचक, संकेतक (सिग्नल) होकर उसे रसोन्मुनख या रस-विमुख कर देते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं – (i) आंगिक, (ii) वाचिक, (iii) वेश व (iv) सात्त्विक। सात्त्विक भाव आठ होते हैं – (1) स्तम्भु, (2) स्वेद, (3) रोमांच, (4) स्वर-भंग, (5) वेपथु, (6) वैवर्ण्य, (7) अश्रु और (8) प्रलय। कुरुक्षेत्र के रण में सारथि कृष्ण के शस्त्ररहित प्रण को तोड़ने पर उतारू भीष्म जब उन्हें

क्षत-विक्षत कर देते हैं तब रोष-विवश कृष्ण के शस्त्र उठा लेने में आंगिक अनुभाव है परन्तु भीष्म संतोष से मुस्कुरा देते हैं कि उन्होंने इनका प्रण तोड़ दिया, इस मुस्कान में सात्त्विक अनुभाव है। अनुकूल अनुभाव रस के साधक और प्रतिकूल अनुभाव बाधक होते हैं।

9.1.3.2.4 संचारी (व्यभिचारी) भाव

ये भाव स्थायी भाव तथा रस के अनुचर सहयोगी होते हैं। स्थायी भाव तो नामश: अंगीरूपेण चित्त में सबलता से जाग्रत् होकर अधिक कालव्यापी होते हैं परन्तु व्यभिचारी या संचारी भाव अंगवत् अल्पकालव्यापी होते हैं। आचार्यों ने इसे क्रमश: महानदी की अन्तर्धारा और उसके ऊपर उठने वाली लहरों के आरोह-अवरोह को संचारी भाव माना है। व्यभिचारी व्यक्ति जैसे अपने प्रिय के प्रति स्थिर मन न होकर विकल्प बदल लेता है, उसी प्रकार संचारी या व्यभिचारी भाव चंचलता व भंगिमा में उठते-गिरते रहते हैं। ये स्थायी की अपेक्षा अधिसंख्यक होकर प्रायः समूह में स्थायी को प्रवाह-पुष्टकर रस दशा तक पुरस्सर करते हैं। इनकी संख्या 33 और आगे फिर 34 मानी गई है – निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, घृति, ब्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अविहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क, मरण। महाराज जसवन्त सिंह ने भारतभूषण में 33 संचारी भावों को गीतात्मक रूप में लिखा है। 34वें संचारी भाव 'छल' को महाकवि देव ने 'भावविलास' में जोड़ा है जो उन्होंने 'रस तरंगिणी' से लिया। (– का. द. – पं० रा. द. मिश्र, तृ. सं.-1955, पृ.89) लेकिन वह विद्वानों को मान्य नहीं हुआ।

हर स्थायी भाव के साथ गुण-स्वभावानुसार, संचारी वर्ग जुड़ते-मिलते रहते हैं और अलग भी होते हैं।

उपर्युक्त निष्पादक अवयवों का परिचयात्मक विवेचन किया गया। इनके तीनों अंगों (विभाव, अनुभाव व संचारी भाव) के स्थायी भाव से जुड़ने (संघटित होने) पर रस परिपाक होता है। यह जुड़ाव त्वरित वेग से होने से लक्षित न होकर व्यंजित होता है अतः अखण्ड कहलाता है। उदाहरणार्थ –

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात।
विकम्पित मृदु उर, पुलकितगात,
सशक्ति ज्योत्ना-सी चुपचाप,
जड़ित पद नमित पलक दृगपात,
पास आ जा न सकोगी प्राण।
मधुरवा में सी मरी अजान,
लाज की छुई मुई-सी म्लान,
प्रिय प्राणों की प्राण।

– (पन्त)

यह कोहवर में वर-वधू का प्रिय प्रथम मिलन दृश्य है। प्रिया-प्रियतम विभाव हैं। शंका, लाज, पुलक आदि संचारी भाव हैं। तन-पुलक, नमित पलक आदि अनुभाव हैं। इस प्रकार रति स्थायी शृंगार रस में सांगोपांग डूबने जा रहा है।

ये सांगोपांग भी होते हैं और तीन या दो अंगों के वर्णित होने पर भी शेष के आक्षेप से रसप्रतीति हो जाती है। यह सहृदय की परख शक्ति से अधिगम्य होता है।

अब तीन का दृष्टान्त लें –

प्रीतम दृग मिहचत प्रिया, पानि परस सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेकु न होति जनाइ॥

– (बिहारी)

यहाँ प्रिय-प्रिया विभाव हैं। आँख मींचना अनुभाव है। स्पर्श संचारी भाव है। रति मनोगत स्थायी है, जो शृंगार रस रूप में व्यंजित हो रहा है।

अब दो अंगों से रस-निरूपण देखें –

रुधिर निकलता है अभी, तन में भी है मांस।
भूखे भी हो गरुड़ तुम, खाओ सहित हुलास॥

– (का.दा., पृ.110)

यह जीमूतवाहन का वक्तव्य अनुभाव है। घृति संचारी भाव है परन्तु आलम्बन, उद्दीपन नहीं हैं। शंखचूड़ के बदले जीमूतवाहन गरुड़ से खाने को कहना दयनीयताजनित उद्दीपन है। अतः जीमूतवाहन आलम्बन है और अपने को गरुड़ से खाने को कहना दयनीयताजनित उद्दीपन है अतः करुण रस निष्पन्न होता है।

इसी प्रकार कभी-कभी एक भाव से भी अन्य के अधिगम्य होने से रस-संचार हो जाता है। जैसे –

विकसित उत्कंठित रहत छिनहु नहीं समुहात।
पति के आवत-जात मंह ललना नयन लखात॥

– (का.द., पृ.110)

नायिका मानिनी है। आशान्वित नायक नेत्रों से मनाने में असमर्थ हो आ-जा रहा है। इसमें औत्सुक्य, असूया आदि संचारी व्यंजित है। अपराधी होने से संयोग शृंगार में बाधा है। केवल संचारी द्वारा विभाव, अनुभाव आक्षिप्त हुए हैं।

निष्कर्षतः विभावादि रसांग जब सहृदय चित्त के स्थायी भावों से जुड़ कर भाव को भोग दशा तक पहुँचा देते हैं तब रस-संचार या आनन्दानुभूति होती है। इस संचार में सातत्य वांछित है। यदि यह विघ्नवश अखण्ड की जगह खण्डित हो जाए तो दोष बन जाता है और रस-विघात हो जाता है। आजकल टी.वी. सीरियल्स में या सिने दृश्य में हम इसे ('ब्रेक के बाद') बहुशः झेलते हैं। आचार्यों ने रस-विघ्न या घात आठ प्रकार के माने हैं – रसदोष, भाव-दोष, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भाव-शान्ति। जहाँ भी अनौचित्य दिखे वहीं यह दोष मान्य है। स्वशब्द वाच्यत्व, एकांगी प्रेम, अनुभवनिष्ठ प्रेम, श्रेष्ठ का नीच के प्रति प्रेम, पशु-पक्षी विषयक प्रेम या मानवती नायिका का मान-शमन न होना आदि में आचार्य दोष मानते हैं। विडम्बना देखिए – स्व शब्द वाच्यत्व एक दोष है परन्तु आज तो 'आई लव यू' कह कर ही प्रेमरस सिद्ध किया / कराया जाता है तथापि टिकता नहीं ! खैर, स्थायी भाव के अनौचित्य में रसाभास और संचारी भाव के अनौचित्य में भावाभास मान्य होता है। जहाँ एक भाव की शान्ति के बाद दूसरे का उदय तेज से वर्णित होवहाँ भावोदय, जहाँ दो भावों का वर्णन हो वहाँ भाव सन्धि और जहाँ अनेक भावों का वर्णन हो, वहाँ भाव सबलता मानी जाती है और जहाँ एक भाव उदित होकर तेज से शान्त हो जाए वहाँ भाव शान्ति मान्य है।

9.1.3.3 रस का स्वरूप और महत्त्व

व्युत्पत्ति के अनुसार इसके दो स्वरूप हैं – (क) 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' (ख) 'सरते इति रसः'।

अर्थात् (क) आस्वाद्यते – रस का आस्वादन सहृदय करता है। तथा (ख) यह द्रवणशील है। अर्थात् यह रस चित्त में द्रवीभूत होता है। इस विषय पर संस्कृत के प्रथम आचार्य भरत से लेकर अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने जमकर चिन्तन और विमर्श किया। बीच-बीच में भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने आकर आत्मा की जगह काव्य-शरीर को भूषित करने वाले अलंकार को और पश्चात् वामन व कुन्तक ने क्रमशः रीति और वक्रोक्ति को ही काव्योत्कर्ष हेतु उसके बहिरंग को ही अत्यधिकमहत्त्व दे दिया। इसी विवाद को लेकर काव्यशास्त्र परम्परा में दो प्रमुख मतवादी हो गए – (i) देहवादी और (ii) आत्मवादी। रस को आत्म स्थानीय मानने वालों से भिन्न ये अलंकार, रीति और वक्रोक्तिवादी देहवादी माने गए। ऐसे में ध्वनि मत के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन (9वीं सदी) ने काव्य शरीर और आत्मा रूपों में विभक्त मतवादों को देख-परखकर ध्वनि मत में इनका (वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और सर्वोत्कृष्ट रसध्वनि भेदों) समावेश कर समाधान की व्यापक योजना की परन्तु सम्प्रति रस के स्वरूप की ही समीक्षा होगी चूँकि वह साम्प्रदायिक मतों से सम्बद्ध है तो काव्य की आत्मा रस का स्वरूप प्रायः आनन्दमय मान्य है। इस आनन्द ('रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति' – तै. उप.) के तीन गुण लक्षणीय हैं – (i) अखण्डता (निरन्तरता), (ii) अनन्यता और (iii) चिन्मयता। अनन्यता से तात्पर्य है कि रसदशा में – (1) किसी अन्य भाव में खिंचाव न हो वरन् चित्त एकीभूत हो तथा रस सत्वोद्रेक से होता है इसलिए (2) यह चिन्मय स्वरूप में आनन्द प्रदान करता है, जिससे स्व-पर की (3) भेद-बुद्धि मिटी होती है। चूँकि, स्व-पर की भेद-बुद्धि नहीं होती, इसीलिए इसे साधारणीकरण की भाव-दशा कहते हैं। आगे भरत के रससूत्र के व्याख्याकारों ने (विशेषतः भट्टनायक और अभिनव गुप्त) इस साधारणीकरण भावदशा पर सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है, जिसे आगे विचारार्थ लाया जाएगा। यह सत्वोद्रेक तमस् और रजस् से ऊपर की सत्त्वचित्त दशा है – समरस भूमि है –

सहजीकृत या साधारणीकृत मनोदशा है। इस मनोदशा को समझने के लिए कामायनी के इस उद्धरण को हृदयंगम करें –

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था।
चेतना एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था॥

– (कामा., आनन्द स.)

रस दशा में चित्त की अन्तर्दशा की व्यंजना के लिए उपर्युक्त पद की हर पदावली मननीय है। इसमें कैलाश स्थित मनु-मन ने आनन्द की अखण्डता, अनन्यता और चिन्मयता का एक साथ अभिव्यंजन कर दिया है! यह पूर्ण तन्मयता की दशा है! इस दशा में ऐन्द्रीय अनुभूति चैतन्य अनुभूति में उत्तीर्णता प्राप्त करती है। इसी से आचार्यों ने इसे लोकोत्तर, अनवद्य, दिव्य, आध्यात्मिक आनन्द रस कहा है, ब्रह्मानन्द सहोदर तक कहा है। पश्चात् भक्ति रस के आचार्यो ने इसे साक्षात् ब्रह्मानन्द कह दिया। (द्रष्टव्य – भक्ति रसायन -1/ 03-06 – म.स.) चूँकि यह रस काव्य के श्रेष्ठ काव्यत्व और दर्शन के चिन्मयानन्द से सम्पृक्त है तभी तो भागवतकार ने भी कहा –

पिवत भागवतं रस मालयं मुहुरहो रसिका भुविभावुकाः॥

– (1,6,5,7)

और इस रस का धीरे आनन्द लेने वाला ही सच्चा रसिक, भावुकादि (सहृदय) है। इस प्रकार, रस-चर्चा का इतिहास प्रायः दो हजार वर्षों से चलता रहा। अब के बौद्धिक युग में तनाव और संघर्ष ने इस रस का क्षेत्र संकुचित कर दिया है, भाव विचार बन गए हैं।

ऊपर भरत द्वारा उल्लिखित रस के निष्पादक अवयवों की चर्चा हुई। फिर भावों के भेदों का भी उल्लेख किया गया और रस-स्वरूप की समीक्षा हुई। भावों, रसों की संघटना (संयोग और निष्पत्तिजन्य) से उत्पन्न रसों के क्रमशः वर्द्धित भेदोपभेदों की भी चर्चा हुई जिसमें मुख्यतः चार रस से आठ रस और आगे नौ रस, दस रस (वात्सल्ययुक्त) तथा ग्यारहवें (भक्तिरस) तक के उल्लेख किये गए। नवधा काव्य रसों का रसराज शृंगार हुआ। और पंचधा भक्ति रस (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) का रसराज उज्ज्वल रस कहलाया।

रस के व्याख्याकारों में अभिनव गुप्त सर्वप्रमुख हुए। इनसे प्रेरित आगामी आचार्य (12वीं सदी) मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में बताया कि आलम्बन विभाव से उद्‍बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, संचारियों से परिपुष्ट और अनुभावों से व्यक्त हृदय का स्थायी भाव ही रस बन जाता है। ये उपकरण यद्यपि मृण्मय या ऐन्द्रिय हैं परन्तु सबका समाहार हो जाने पर ये चिन्मय रूप हो जाते हैं।

रस शुद्ध ब्रह्मानन्द नहीं है, चूँकि ब्रह्मानन्द चिरस्थायी होता है परन्तु रसानन्द में लौकिक आनन्द का अवशेष बने रहने से यह एक ओर अस्थायी होता है और दूसरी ओर आत्मसाक्षात्कार जन्य होता है। इसी से यह ब्रह्मानन्द न कह कर ब्रह्मानन्द-सहोदर होता है।

आधुनिक रस चिन्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस रस दशा को 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है। (द्रष्टव्य : रसमीमांसा, पृ. 5, द्वि.सं.) आगे डॉ॰ नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ (रस सिद्धान्त, पृ. 91, द्वितीय सं., 1969) में गम्भीर रस-मंथन करते हुए इसके स्वरूप के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठा कर इसके सम्यक् समाधान भी सुझाए। पहला प्रश्न है – भावानुभूति और रसानुभूति का क्या सम्बन्ध है ? दूसरा प्रश्न है – क्या रसानुभूति ही आनन्द चेतना है ? तीसरा प्रश्न है – यदि है तो इसका स्वरूप क्या है ?

उनके अनुसार प्रथम समाधान है – रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है। इसे शुक्लजी ने 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है। दूसरा समाधान है कि रस अनिवार्यतः आनन्दमय होता है परन्तु कुछ आचार्य इससे असहमत हैं। विशेषतः रामचन्द्र गुणचन्द्र कहते हैं कि करुण, भयानकादि दुखात्मक रस हैं। इन्हीं रामचन्द्र की तरह रामचन्द्र शुक्ल भी "दुखान्त काव्य नाटकों से 'शुद्ध अनुभूति मात्र' और 'मुक्त हृदय' कहकर इसे भावयोग की साधना मानते हुए सत्त्व रस के प्रभाव से दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय साधना मान लेते हैं तो फिर सुख-दुखानुभूति को पृथक् मानना असंगति ही है।" (रस-मीमांसा, पृ. 513-14) परन्तु डॉ॰ नगेन्द्र इससे भिन्न सुख-दुःख की द्वैध मनोदशा का शमन करते हुए यह तर्क देते हैं कि – पहला, (क) जब काव्य-संवेदनों में पूर्ण सामंजस्य हो जाता, अन्विति हो जाती तो सशृंखलता आ जाने से वे कटु भी मधुवत् हो जाते हैं। दूसरे, (ख) काव्य-संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब व प्रतीकवत् होते हैं ! तीसरे, (ग) ये कवि द्वारा भावित होकर ही व्यक्त होने से समन्वित हो जाते हैं और फलतः सुव्यवस्थित हो जाने से आनन्दमय प्रतीत होते हैं। रस दशा में हृदय मुक्त हो जाता है इसलिए वैयक्तिक राग-द्वैष शमिल होकर समरस बनकर आनन्दमय प्रतीत होते हैं।

प्राचीन आचार्यों में आनन्दवर्धन सर्वाधिक समन्वयवादी विचारक थे। उन्होंने तीन श्रेष्ठ समन्वय किए – (1) दृश्य और श्रव्य काव्य दोनों में रसास्वादन क्षमता, (2) प्रबन्ध और मुक्तक दोनों में रसदशा और (3) ध्वनि को प्राण मानकर भी रस-ध्वनि की श्रेष्ठता। ऊपर बताया गया था कि विभावादि में चारों की अवस्थिति में तो पूर्ण रस दशा होती ही है परन्तु किन्हीं तीन, दो या एक में भी शेष भावों की व्यंजना से आक्षेप कर लेने पर रसानुभूति हो सकती है। यह सहृदयों की मानसिक कल्पना से सम्भव माना गया। रस-ध्वनि के व्यंजक विभावादि के अनुशीलन से प्रमाता को दिव्य रसास्वाद मिलता है और काव्य-नाटक देख-सुनकर उसकी मानसिक दशा का भावान्तरण ऐसी त्वरित गति से होता है कि उसे सहज संलक्षित नहीं हो पाता इसीलिए इस रस-ध्वनि को 'असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि' भी कहा गया।

आगे अभिनव गुप्त भी 'अभिनवभारती' में इस रसानुभूति प्रक्रिया को सुलझाते हुए कहते हैं – "सहृदय के मानस में वासनारूपेण स्थित स्थायी भावों की साधारणीकृत दशा ही रसाभिव्यक्ति है जो विभावादि व्यंजकों के द्वारा इस रूप में आक्षिप्त होकर आनन्द देती है।"

इस प्रकार भरत से रस, भामह-दण्डी से अलंकार, वामन से रीति, कुन्तक से वक्रोक्ति, आनन्द से ध्वनि और क्षेमेन्द्र से औचित्य सम्प्रदाय बने परन्तु मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ से स्वतन्त्र सम्प्रदाय न बने तथापि ये उत्तरोक्त तीनों काव्यांगों के सांगोपांग समीक्षक रूपेण परम प्रतिष्ठित आचार्यहैं। प्रायः सबने रस का मान रखा।

परन्तु प्रश्न बना है कि करुण रस का आस्वाद आनन्दात्मक है या दुखात्मक ? एक इसका समाधान रस-निष्पत्ति के तीसरे विचक्षण व्याख्याकार भट्टनायक ने भावकत्व शाक्ति (संविद् विश्रान्ति) द्वारा किया है। उनके अनुसार अभिधा के वाच्यार्थ बोध के अनन्तर पाठक या दर्शक निजत्व मोह से छूट कर साधारणीकरण की दशा की प्रतीति करता है इसीलिए उससे भावित हो जाने पर करुण का आस्वाद आत्मास्वाद रूप होकर रसास्वाद या आनन्दास्वाद बन जाता है। लौकिक सुख रागात्मक है। शारदातनय का तर्क है कि विद्या से व्यक्ति के मन में चैतन्य ज्ञान जगता है और कला या काव्य से आत्मा प्रदीप्त होकर आनन्दानुभूति प्राप्त करती है। व्यक्तिगत भाव साधारणीकृत हो जाने पर दुःख-सुख समरस होकर रस या आनन्दवाची बन जाते हैं। यही रस का स्वरूप व महत्त्व है।

9.1.3.4 रस और भाव का सम्बन्ध

रस और भाव का सम्बन्ध क्रमशः कार्य-कारण रूप है। भाव रस के कारण हैं और रस उसके कार्य और भाव जब अनेकविध हैं, तो स्वभावतः रस भी अनेक रूप होंगे इसीलिए नौ स्थायी भावों से नौ रस बने। आगे चलकर जब साहित्य-सृजन बहुआयामी हुआ तो चिन्तन भी तद्वत् बढ़े और फलतः भक्ति रस भी एक स्वतन्त्र रस बना। पहले इसे शान्त या वात्सल्य रस के अन्तर्गत अपरिपक्व भाव रूप में अन्तर्भुक्त रखा जाता रहा। जगन्नाथ ने अपने 'रस-गंगाधर' में रस विवेचन के पूर्व पक्ष में भक्तिरस की ओर अपना रुझान व्यक्त किया पर वे भी पीछे 'परम्परानुराग' के कारण वे इसकी स्वतन्त्र स्थापना से विमुख हो गए–

रसानां नवत्व गणनां च मुनिवचन नियंत्रिता, इति यथा शास्त्रमेवन्यायः।

– (हि.पृ. 45)

काव्यशास्त्र के पुरोधा यदि भरत थे तो भक्तिरस शास्त्र के सूत्रधार नारद और चैतन्य। तो जैसा भाव, वैसा विभाव और फलतः वैसा ही रस। इस प्रकार काव्य के नवरस जो 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहलाते थे, वे अब भक्तिरस में आकर 'सहोदर' नहीं, वरन् साक्षात् ब्रह्मानन्द या प्रेमानन्द ही कहे गए। यह भावों व विभावों के क्रमिक प्रकर्ष का प्रतिफल था। कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, हरिदास, मीरा, चैतन्यानुयायी रूपगोस्वामी, हितहरिवंश, रसखान, घनानन्द व रामरसिक बाल अली, मधुराचार्य, फिर कृष्णभक्त, भारतेन्दु आदि तक भाषा काव्य में व्याप्त गुण-परिमाण-समृद्ध पंचसदी व्याप्त जन प्रचलित भक्तिसाहित्य – जो हिन्दी का स्वर्णकाल है, इसका आप्तप्रमाण है। इससे मुगलयुग व आंग्लयुग में भी भारतीय करोड़ों जनता पुनरुज्जीवित और रस विभोर रही। रीतिकाल में भी रीति और स्वच्छन्द शृंगार के अतिरिक्त तीसरी प्रवृत्ति भक्तिशृंगार की रही जिसमें गुलामी को भूलकर

साहित्येतिहास के फुटकल खाते में भी जीवित दरबारी और शास्त्रीय रस-चौखटे से इस जन साहित्य को अब हम हेय दृष्टि से नहीं देख सकते । इसे देवविषया, हरिरति, अनुपपन्न, भाव मात्र, 'मुनिवचन नियन्त्रित' आदि मानकर उपर्युक्त महाकवियों की कालजयी कृतियों को द्वितीय कोटिक और ऐन्द्रिय भावों के चितेरा बिहारी, देव, पद्माकर आदि दरबारी कवियों को प्रथम कोटिक कहना क्या अब प्रबुद्ध साहित्यकारों को सह्य होगा ? बीसलदेव का दास्य व तुलसी का दास्य, सूर का राधाकृष्ण-शृंगार और पद्माकर का शृंगार क्या एक है ? जो हिन्दी-हिन्दीतर भक्ति साहित्य सारे विश्व-साहित्य के समक्ष अपने देश भारत को राजदरबारी 'आवत जात पनहिया' तोड़, गुलामी की पीड़ा झेलकर भी हरि दरबार को – जनदरबार को – गौरवान्वित करता रहा, वह रस-दृष्टि से समादृत न होकर उपेक्षित रह जाय – दरबारी पण्डितहम्मन्यता में कुंठित रहे – यह संगत नहीं है । इस भाव-राज्य में अछूत भाव त्याज्य है। "हरि को भजै सो हरि को होई।"

भक्तियुग के बाद रीतियुग में भी यह रस-साहित्य प्रचुर है । रीतिकाल की प्रवृत्ति दृष्टि से तीन वर्गों में – रीति शृंगार, स्वच्छन्द शृंगार के अतिरिक्त तीसरा भक्ति शृंगार भी है जो साहित्येतिहास में फुटकल खाते के रूप में भी पुनरुज्जीवित है और इसे नज़र-अंदाज़ नहीं किया जा सका है । चूँकि इसका काव्यशास्त्रीय, भक्तिरसशास्त्रीय और रचनागत आधार भी अनुपेक्षणीय है । भक्तियुग में 'पुराणसंहिता', नारद भक्तिसूत्र, मधुसूदन सरस्वती-कृत 'भक्ति रसायन' व चैतन्यानुयायी रूपगोस्वामी-कृत 'भक्ति रसामृत सिन्धु (1540), उज्ज्वल नीलमणि (1548) आदि तथा बांग्ला में कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य चरितामृत' है। उक्त सब में भक्तिरस सांगोपांग विवेचितहै।

9.1.3.5 भक्तिरस में उत्पन्न बाधा तथा शमन

इसमें कठिनाई एक स्थायी भाव जनित यह रही कि लौकिक राग के क्षार होने पर लोकोत्तर विभावों के प्रति अन्तरित मनोभूमि की सम्प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए एक दुर्लभ मनोदशा है । कदाचित् इसी कारण पुराने पण्डितों (भरत से जगन्नाथ तक) ने इसे परिपक्व नहीं माना होगा । डॉ० नगेन्द्र जैसे भक्तिरस को स्वतन्त्र रस मानने वाले आधुनिक विद्वान् ने भी इस बिन्दु पर मनोवैज्ञानिक कठिनाई दर्शायी । (द्रष्टव्य – रस सिद्धान्त, पृ. 268) तथापि उसका आगे समाधान भी ढूँढ़ लिया है । पुनः दिव्य आलम्बन – (राम, कृष्ण, निर्गुण ब्रह्म) के स्वरूप साक्षात्कार में बाधा भी स्यात् दूसरा कारण हो परन्तु इसे तो विभावन व्यापार के आश्रय, उद्दीपन दो-एक अन्य कारकों के रहने के बल पर भी व्यंजना विक्षेप से पूर्त किया जाता रहा है जिसे हम पहले दिखा आए हैं । इसी मानसिक कमी के पोषणार्थ भजन, स्मरण आदि उद्दीपनों (साधन भक्ति) की अपेक्षा और महत्ता प्रदर्शित हुई।

9.1.3.6 रीतियुग में 'भक्ति शृंगार' रूप में भक्तिरस को मान्यता : केशव, देव, घनानन्द

रीतियुग में भक्ति शृंगार रूप में भक्ति रस के मान्यता केशव, देव, धनानन्द आदि से तो मिली ही, वैष्णव सम्प्रदाय के कुछ कवि-आचार्यों से भी रचना और आलोचना दोनों स्तरों पर मिली । यह आधुनिक खोजों से मिली । जिन्हें न मिली, उनके द्वारा ऐसा कथन मान्य नहीं कि वे हैं ही नहीं । इनमें चैतन्य मत के वल्लभ रसिक; राधावल्लभ मत के हितरूप जी, चाचा हित वृन्दावनदास; हरिदासी मत के ललितकिशोरी आदि उल्लेख्य हैं ।

देखादेखी में इस काल में मधुर रामभक्तों में भी रचना-आलोचना क्षेत्र में प्रदेय खोजा गया और मिला भी है। सिद्धान्त ग्रन्थों में हनुमत्संहिता, लोमशसंहिता आदि तथा भाषा लक्षण ग्रन्थों में बाल अली-कृत 'सिद्धान्त तत्त्व दीपिका, रसिक अली-कृत 'सिद्धान्त मुक्तावली, मधुराचार्य-कृत 'नृत्य राघव मिलन' आदि उल्लेख्य हैं। ये प्रायः रीतियुगीन हैं और रूपगोस्वामी (16वीं सदी) के पश्चाद्वर्ती हैं। 'हनुमत्संहिता' में नायिका भेद (चतुर्थ अध्याय) और पंच भक्ति रस (षष्ठ अध्याय) वर्णित हैं। रसिक अली की 'सिद्धान्त मुक्तावली' में पंचभक्ति रस का सांग चित्रण हुआ है। इस काल में नायिकाभेद परक शृंगारिक रचनाएँ बहुश: हुई हैं। यह शृंगार के विषयालम्बन (नायिका) के भेदोपभेदों पर आधृत कृति है। राम हरि की 'रस पचीसी', हरिदेव की 'रस चन्द्रिका', चाचा हित वृन्दावन की 'छद्मलीला', गोकुलनाथ का 'राधाकृष्ण विलास', रसिक गोविन्द का 'रसिक गोविन्दानन्दघन' आदि उल्लेख्य हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार – "गोकुलनाथ का 'राधाकृष्ण-विलास' रस-सम्बन्धी ग्रन्थ है। वैसे ही, रसिक गोविन्द-कृत 'रसिक गोविन्दानन्दघन' भारी रीतिग्रन्थ है।" (द्रष्टव्य – हि.सा.इ.,'40, पृ. 369, 320) डॉ० नगेन्द्र ने भी अंशतः 'रीतिकाव्य की भूमिका''49 (भक्ति का स्वरूप, पृ. 36) में इन भक्ति शृंगार के कवियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार, भक्तिरस-विवेचन में रीतिकाल भी अंशतः परिगण्य है भले ही वह 'सुमिरन को बहानो' ही क्यों न हो। (विशेष विवरणार्थ द्रष्टव्य – पाठ लेखक का ग्रन्थ – 'भक्तिरसशास्त्र' – द्वितीय संस्करण, मानस प्रकाशन, नौगछिया, भागलपुर; 2015, 'साहित्य चिन्तन, मधुररस और कबीर', पृ. 70-91 तथा 'रीतिकाल की भूमिका में कृष्ण भावना'; पृ. 147-164, प्रदीप प्रेस, भागलपुर, 1972 तथा 'साहित्यायन' – भाषा साहित्य संस्थान, इलाहाबाद, 1998; 'भक्तिरस और शुक्लजी' शीर्षक निबन्ध, पृ. 31-51)

9.1.3.7 आधुनिक आलोचना में रस : भक्तिरस

आधुनिक आलोचना में भक्ति रस के विषय में विभिन्न काव्यशास्त्रीय आचार्यों / आलोचकों ने अपना मत व्यक्त किया है –

हरिऔध जी ने 'रसकलश', (पृ. 199-200) में भक्तिरस का उद्रेक मूलतः 'वैष्णवी मानस' में माना परन्तु वे उसका प्रसार निर्गुण ज्ञानवादी कबीर तक में दिखा गये। उनके शब्दों में – "पत्नीभाव की उनकी (कबीर) उपासना बहुत ही हृदयग्राहिणी है। यह उपासना माधुर्यमयी है अतएव उनमें विचित्र रस-परिपाक पाया जाता है।" "विरहिन देय संदेसरा सुनो हमारे पीव।" तथा "जीहड़िया छाला पड्या नाम पुकार पुकार।" इन पंक्तियों में कैसा आत्मनिवेदन है, उसे बतलाना न होगा। अतएव उनमें भक्तिरस का प्राचुर्य स्पष्ट है।

दूसरे काव्यशास्त्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार हैं। इन पर डॉ० जगदीश गुप्त ने (हि.सा. को. पृ. 532) लिखा जिन्होंने अपना मत बलपूर्वक भक्ति के रसत्व के पक्ष में दिया है – "दुःख और आश्चर्य है कि जिन साक्ष्याभास शृंगारादि रसों में चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है उनको रस संज्ञा दी जाती है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक भक्तिरस है उसे रस न मानकर भाव माना गया है। यही क्यों ! क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि स्थायी भावों को (जो प्रत्यक्षः सुख-विरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स रस की संज्ञा दी गई है। (सा. स.,

पृ. 72-73) रति स्थायी आलम्बन-भेद से ही रस या भाव होता है अतएव अलौकिक आलम्बन होने से तो यह अलौकिक भक्ति रस होगा ही।"

तीसरे आचार्य शुक्ल हैं जो भक्ति रस के उद्रेक के लिए भावों के साथ विभावों के मूर्त्त और व्यक्त स्वरूप पर बल देते हैं। चूँकि भक्ति रस का मूल भगवद्भक्ति या उसकी लालसा है, यह निर्गुणियों की 'जिज्ञासा' के प्रतिकूल सगुणियों की 'अभिलाषा' के अनुरूप है। उनके शब्दों में – "व्यक्ताव्यक्त, मूत्तीमूर्त्त – ब्रह्म के इन दो रूपों या पक्षों में से भारतीय भक्तिरस के भीतर व्यक्त और मूर्त्त पक्ष ही जिसका हृदय के साथ सीधा लगाव है, लिया गया। इस रस-विधान में जगत् या प्रकृति ब्रह्म का रूप ही रही है, छाया, प्रतिबिम्ब, आवरण आदि नहीं।" (काव्य में रहस्यवाद, पृ. 127-128, चिन्तामणि, भाग-2, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1962) वस्तुतः शुक्लजी की भक्तिरस सम्बन्धी अवधारणा मर्यादा-संकुल है। रति श्रद्धामिश्रित है। यह रामपरस्त है। चिन्तन लोकसंग्रही है, रस-पारखी नहीं। दो-एक जगह सूर के वात्सल्य व शृंगार चित्रण पर मुग्ध होकर इन्हें कहना पड़ा कि ये 'बेजोड़' हैं। शृंगार 'रसराज' और सूर को 'रस सागर' तक कहा गया। कुल मिलाकर, यह काव्यशास्त्रीय ही रहा, भक्तिरसपरक न हुआ। कुल मिलाकर इनके ग्रन्थों में आठ बार 'भक्तिरस' का उल्लेख हुआ परन्तु 'रस-मीमांसा' में इसका अनुल्लेख खटकता है। इनके नोटों को संग्रह कर, इनके देहान्त के 10 वर्ष बाद इसे छपाने वाले आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से भी स्यात् यह छूट हुई हो।

भावोपासना में तल्लीनता होने पर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "भगवान् भी पिता, सखा, पुत्र या प्रियतम रूप में अवतरित हो जाते हैं। फलतः, अभाव भाव से विभाव में बदल जाता है।" (द्रष्टव्य – चैतन्य मत और ब्रजसाहित्य (डॉ० प्रभुदयाल मीतल का ग्रन्थ, भूमिका, पृ. 3) निष्कर्षतः उन्हें सगुण-निर्गुण दोनों भक्ति मार्गों की श्रेष्ठ रचनाओं में भक्तिरस मान्य है। तदनुसार आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्तिरस है जिसका नाना स्वभावों से भक्त आस्वादन करते हैं। (मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ 264)

डॉ० नगेन्द्र ने बड़ी विदग्धता से इस रस के साधक-बाधक पक्षों की परख कर इसका सतर्क समर्थन किया है। आस्वाद्यमानता के पहलू पर विचार कर वह अपने (रस-सिद्धान्त, पृ. 268-269) ग्रन्थ में कहते हैं – सूरसागर के विविध प्रसंगों या मीरा के माधुर्य भाव से पगे गीतों की उत्कृष्ट आस्वाद्यता इसका प्रमाण है। विनय के पदों में पूर्ण आत्मसमर्पण की अभिव्यक्ति है। सहृदय के चित्त में भी यह भाव वासना रूप में विद्यमान रहता है और ... विभावादि के सजीव चित्रण से उद्बुद्ध होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। 'समर्पण' भाव स्थायी भाव है। यह मिश्र भाव है, किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं आता ... रीति भी मिश्र भाव है। रसनीयता में किसी भाव का मिश्र रूप बाधक नहीं होता। वात्सल्य भी शुद्ध मानव वासना है। इसमें संतति पोषण की सनातन कामना है। भाव मौलिक होकर उसका सम्बन्ध मानव-वासनाओं से जिससे साधारणीकरण हो सके। इस दृष्टि से भक्ति के इस अनन्य रूप का रसत्व सिद्ध हो जाता है। आलम्बन के प्रति होने के कारण लौकिक रति न होकर रति का उदात्त रूप है। आलम्बन के चिन्मय रूप के प्रभाव से और ऐन्द्रिय तत्त्वों का क्षय हो जाने से अनुभूति का अत्यन्त परिकार हो जाता है। अतः इस रति की आस्वाद्यता भी सर्वथा असंदिग्ध है।

डॉ॰ जगदीश गुप्त ने (हि.सा.को., पृ. 532) पहले सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का भक्ति रस-समर्थक प्रबल पक्ष रख कर अन्त में अपना मत भी तदनुरूप दिया है। उनके अनुसार "निश्चय ही भक्ति काव्य में भावना का जो विस्तार भारतीय साहित्य में मिलता है उसको देखते हुए भक्ति को रस न स्वीकार करना वस्तु स्थिति की उपेक्षा करना है।" भारत की सभी प्रमुख प्रान्तीय भाषाओं में भक्ति का साहित्य उपलब्ध होता है। हिन्दी साहित्य में सूर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाएँ भी भक्ति रस का श्रेष्ठ उदाहरण हैं। निर्गुणधारा के काव्य में जहाँ तक वैष्णव भावना का प्रवेश हुआ है वहाँ तक भक्ति रस की व्याप्ति है, अन्यथा नहीं। इन्होंने मराठी के काव्यशास्त्री डॉ॰ बाटवे को भी भक्तिरस का समर्थक बताया है। अतः इसकी व्याप्तिमान्य है।

काव्यशास्त्रियों में डॉ॰ आनन्दप्रकाश दीक्षित व डॉ॰ रामस्वार्थ चौधरी ने भी अपने-अपने शोध ग्रन्थों में यथास्थान क्रमशः 'रस सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' तथा 'मधुर रस : स्वरूप-विकास' – इस भक्तिरस का समर्थन किया है।

इसको मुख्य रस व काव्य को गौण रस मानकर आचार्य रूपगोस्वामी ने अपने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' (1540) में पाँच भेद कर क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस का सांगोपांग विवेचन किया है। पुनः उन्होंने मधुर रस को अलग से विस्तारपूर्वक 'उज्ज्वल नीलमणि' (1548) ग्रन्थ में सर्वांगपूर्ण विश्लेषण किया है। कृष्ण दरबारी नायिका भेद से ही दरबारी नायिका भेद आगे बढ़ा। इस प्रसंग की यहाँ विस्तृत समीक्षा इसलिए की गई चूँकि यह विवादास्पद रहा था। सदियों बाद रचना से पीछे छूटी हिन्दी आलोचना इस रस की प्रतिष्ठा से आ जुड़ी और ओब्जेक्टिव फोरिलेटिव पूर्ण हुआ।

आधुनिक काव्यशास्त्रियों में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, डॉ॰ द्विवेदी, डॉ॰ नगेन्द्र, डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, डॉ॰ आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ॰ निर्मला जैन आदि ने बड़ी गम्भीरता से रस तथा इससे सम्बद्ध सभी पक्षों पर अपने-अपने ग्रन्थों में व्यापक विवेचन प्रस्तुत कर इस चिन्तन को महत्त्व प्रदान किया है।

अत्याधुनिक आलोचना में विशेषतः पाश्चात्य कलालोचन से आयत्त सौन्दर्यशास्त्र एवं प्रगतिवादी विचारधारा से अत्यन्त मार्क्सवादी चिन्तन का प्राबल्य हुआ और फलतः इससे कई बौद्धिक आयाम विकसित हुए। रिचर्ड्स का मूल्य व सम्प्रेषण सिद्धान्त आया। रस का वर्चस्व गया। शुक्लजी विदा हुए। प्रगतिवादी धारा के प्रतिनिधि विद्वान् डॉ॰ रामविलास शर्मा, डॉ॰ नामवर सिंह, मुक्तिबोध आदि हुए, 'दूसरी परम्परा' खोजी गई। काव्य-भाषा के प्रतिनिधि अज्ञेय, डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ॰ जगदीश गुप्त आदि हुए। मोह-भंग हुआ। कुण्ठा, द्वन्द्व, तनाव, पीड़ा ही स्थायी भाव मान्य रहे। अंग्रेजी आलोचना में जैसे एफ. ए. लुकस ने 'फ्रस्टेशन' को प्रतिनिधि तत्त्व माना। फिर अस्तित्ववादी विचारधारा की भी एक सरणि है जिसके समर्थक कैलाश वाजपेयी रहे। इस प्रकार इसमें विदेशी विचारधारा (मार्क्स, फ्रायड, फ्रोवे, काम आदि) का प्रभाव सहज ही द्रष्टव्य है। रचनाओं में त्रासदी जैसे कामदी से बलवत्तर होती गई, उसी अनुपात में आलोचना भी त्रासदीपरक परिणति झेलने को विवश है। ऐसे में, अब रस-चिन्तन का अवकाश कहाँ!

9.1.4 पाठ-सार

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत विवेचन विषय मुख्यतः भाव और रस रहे । भाव रस के निष्पादक अवयव हैं जिसके अनेकानेक भेदोपभेदों का विवेचन किया गया । रस-प्रक्रिया और निष्पत्ति एक अति सघन मानसिक उपक्रम है । काव्य-सृजन और आस्वादन की मुक्त विकसित मनोदशा आचार्यों ने बतायी ।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में आद्याचार्य भरत से चलकर भट्टनायक अभिनव गुप्त, आनन्द, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ तक 17 सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि में इन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से भावों व रसों की व्याख्या, विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत किया। यहाँ भावों के भेदों का सोदाहरण परिचय देते हुए रसात्मक मनोदशा व आनन्द चेतना की विवेचना की गई । आनन्ददशा में सुख-दुःख की पृथक् चेतना पर आचार्यों के मतभेदों को भी सामने लाकर उनके शमन के जुटाए गए, तर्कों की समीक्षा की गई । निष्कर्ष यही कि रसास्वाद की मनोवैज्ञानिक दशा सत्त्व अनुभूति में आकर, वृत्तियों में एकान्वय या सामंजस्य के कारण, लोकोत्तर चेतना की दिव्य मनोदशा को उपलब्ध करती है । अतः विद्वानों द्वारा इसे ब्रह्मानन्द सहोदर या अलौकिक आनन्द का आस्पद दिया गया है । अनौचित्य के कारण हुए रस-विघात से काव्य-दोषों में एकांगी अनुवर्तन हुआ । इसके आचार्य कवियों द्वारा रसाभास, भावाभास आदि का भी उल्लेख किया गया ।

संस्कृत काव्य का रीतिकाल में एकांगी अनुवर्तन हुआ । इसमें रीति सम्प्रदाय को छोड़ शृंगार रस के विशेषतः आलम्बन पक्ष-नायिकाओं के भेदों, नख-शिख वर्णन, ऋतु वर्णन आदि के लक्षण एवं आलंकारिक उदाहरण बहु विचित्र और मनोरम पिरोए गए । निःसन्देह ये उदाहरण काव्योत्कर्षक रहे हैं । भक्तिकालीन मधुर रस प्रवृत्ति इस काल में बनी रही । यद्यपि राधा-कृष्ण कथ्य की जगह कथन भर रहे । फलतः दिव्यप्रियता रति के अवर, सम व अपर आलम्बनों के आश्रय से भक्तिरस के अन्तर्गत वात्सल्य, दास्य, सख्य एवं मधुर रस का विवेचन तथा काव्य-प्रणयन का निदर्शन कराया गया ।

आधुनिक काल में आकर मुख्यतः आचार्य शुक्ल डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० निर्मला जैन आदि काव्यशास्त्रियों ने उपर्युक्त चिन्तन परम्परा को गहराई और व्यापकता से अपने-अपने आलोचना ग्रन्थों में अग्रसर किया । काव्य के भाव, रस स्वरूप, आस्वाद आदि के गहन विवेचन-क्रम में यहाँ उक्त विद्वानों के मतों को सन्दर्भित करते हुए इनका यथेष्ट स्पष्टीकरण किया गया है । अगले पाठ में रस-निष्पत्ति प्रक्रिया के मुख्य आचार्यों के मतों की समीक्षा होगी।

9.1.5 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विभाव क्या है ? समझाकर लिखिए ।
2. रस के अंगों का परिचय दीजिए ।

3. रस-संघटना से क्या तात्पर्य है ?
4. 'सहृदय' की रस-प्रतीति में भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. रस-विघात के कारणों का उल्लेख कीजिए।
6. भक्ति रस के भेदों का विवेचन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. स्थायी भाव की परिभाषा बताते हुए उनके भेदों पर प्रकाश डालिए।
2. भाव के स्वरूप और भेदों पर विचार स्पष्ट कीजिए।
3. रस के कितने अर्थ हैं ? काव्य-रस से क्या तात्पर्य है ?
4. रस-परिपाक का अर्थ समझाइए।
5. करुण रस आनन्दकर है या नहीं ? स्पष्ट कीजिए।
6. रीतिकाल में भक्ति-शृंगार की प्रवृत्ति और प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।
7. भक्ति रस की मान्यता पर विचार कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 9 : रस सिद्धान्त

इकाई – 2 : भरत के रस-सूत्र की व्याख्या, रस-निष्पत्ति : उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद

इकाई की रूपरेखा

9.2.00 उद्देश्य कथन
9.2.01 प्रस्तावना
9.2.02 भरत का रससूत्र और अर्थ
9.2.03 रससूत्र की व्याख्या
9.2.04 आचार्य भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद
9.2.05 आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद
9.2.06 भट्टनायक का भुक्तिवाद या भोगवाद
9.2.07 अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद
    9.2.07.1 अभिनव की अभिव्यंजना का तात्पर्य : शक्ति और सीमा
    9.2.07.2 साधारणीकरण सिद्धान्त की व्याख्या एवं महत्ता
9.2.08 आधुनिक विद्वानों का अभिमत
9.2.09 कतिपय पारिभाषिक शब्द और अर्थ
9.2.10 बोध प्रश्न
9.2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

9.2.00 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे कि –

i. रस-सूत्र में आये 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' से क्या तात्पर्य है।
ii. इसके प्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद का वास्तविक अर्थ क्या है।
iii. दूसरे व्याख्याकार भट्टशंकुक के अनुमान या अनुमितिवाद का मर्म क्या है।
iv. तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक के भुक्ति या भोगवाद की मनादेशा कैसी होती है। साधारणीकरण से कैसे यहाँ तक पहुँचा जाता है।
v. चौथे व्याख्याकार अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद में साधारणीकरण की अपेक्षा अभिव्यंजना का अधिक महत्त्व निर्धारण किस प्रकार किया गया है। संस्कार या वासना का रसास्वादन में किस दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर सहयोग प्राप्त होता है।
vi. सहृदय, अनुकार्य, अनुकर्त्ता एवं कवि का इस रसोपभोग में कितनी सहभागिता होती है।

9.2.01 प्रस्तावना

पिछले पाठ में आपने रस व भाव के स्वरूप व उनके विभिन्न अर्थों को जाना। रस के निष्पादक अवयवों का सोदाहरण परिचय प्राप्त किया। भरत के बाद के रसवादी आचार्यों तथा अन्य मतवादियों के भी रस सम्बन्धी मान्य विचारों को (आनन्दवर्धन से मम्मट तक) समझा। दूसरे मतवादियों ने भी प्रकारान्तर से अपने मतों में इस मत का विनियोग कर ही अपना मन्तव्य सिद्ध किया। जिस प्रकार अलंकारवादियों ने रसवत्, प्रेयस् आदि अलंकारों में इसे दर्शाया, ध्वनिवादी ने रसध्वनि की श्रेष्ठ वर्ग-योजना कर इसका विनियोग किया, रसौचित्य के वर्ग द्वारा क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य सिद्धान्त का औचित्य दर्शाया उसी प्रकार भक्तिरस शास्त्रियों ने नवरस से ही आदि वर्ग शृंगार से मधुररस और अन्तिम नवम वर्ग शान्त से अपना शान्त भक्तिरस आरम्भ किया। सब वर्गों (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) में हरिरति ही 'सूत्रमणिगणा इव' पिरोयी रही और इसी के घेरे में हिन्दी भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के आरम्भिक पुरस्कर्त्ता भारतेन्दु व हरिऔध तक अनुस्यूत रहे। इसी से आपको रस-सूत्र के सार्वभौम महत्ता का अवगम हुआ होगा।

प्रस्तुत पाठ में अब आगे रस-सूत्र के उपर्युक्त चार प्रमुख व्याख्याताओं के मतों की समीक्षा करेंगे तथा यह जानने का प्रयास करेंगे कि यह काव्य का सर्वस्वीकृत मानदण्ड-देश, काल, पात्र, परिस्थिति आदि के वैभिन्य की दशाओं में भी काव्यास्वाद को सर्वजनसंवेद्य कैसे बना पाता है। इससे इसकी सार्वकालिकता का भी सम्यक् ज्ञान हो सकेगा।

इसका शलाका तन्त्र – साधारणीकरण – किस प्रकार भट्टनायक से चलकर डॉ॰ नगेन्द्र तक और आगे भी शब्दान्तर से व्याख्यायित होकर काव्यशास्त्रियों के चिन्तन केन्द्र में बना रहा। इसे देखकर पाश्चात्य आलोचक – 'अन्तर्वृत्तिसामंजस्य अन्तस्संगता, निर्वैयक्तिकता' कहकर रिचर्ड्स और इलियट – लुब्ध-क्षुब्ध रहे – शुक्लजी ने इसे 'चिन्तामणि' में (पृष्ठ 247) दर्शाया है। विश्व-मंच पर भारतीय काव्यशास्त्र को इस सन्धान पर गौरवान्वित होना स्वाभाविक है।

9.2.02 भरत का रससूत्र और अर्थ

भरत का रस-सूत्र है–

विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पतिः ।

– (6 / 26)

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भाव के योग से रस-निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में दो शब्द व्याख्येय हैं – 'संयोग' और 'निष्पत्ति'। इन्हीं दो शब्दों को लेकर रस-निष्पत्ति के आगे चार प्रमुख व्याख्याकार हुए, जिन्होंने अपने-अपने दार्शनिक मतों के आधार पर रस-निष्पत्ति और फलतः उससे प्राप्त

काव्यानन्द को समझाया। इन काव्यांगों का संयोग जिस मूल भाव से होता है, उसे ही स्थायी भाव कहते हैं। भरत मुनि ने इसे अगले सूत्र में व्यक्त किया –

नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।

– (6 / 27)

जिस प्रकार नाना व्यजंनों से प्रपानक रस बन जाता है उसी प्रकार अनेक भावों का जब स्थायी भाव से संयोग होता है, तब रस बन जाता है। यह आनन्दकर या आल्हादक होता है। अर्थात् जब नाटक या काव्य देख सुन कर दर्शकों या सहृदय पाठकों (सामाजिक, प्रेक्षक) को चित्त में आनन्द या आह्लाद की अनुभूति होती है, तब उसे रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति की सम्प्राप्ति कहते हैं।

9.2.03 रससूत्र की व्याख्या

इसका संयोग एक मानसिक प्रक्रिया है। इसमें रसानुभूति मूलतः और फिर प्रकारान्तर से भी मूल पात्र, अभिनेता (नट), सामाजिक या प्रणेता जिनमें हो तो हो, उन सभी पक्षों पर व्याख्याकारों ने अपने-अपने पृथक् मत स्थापित किये। ये हैं – क्रमश: भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त तथा इनके मत क्रमश: उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद कहलाये। इन्होंने उपर्युक्त चारों अंगों (अनुभाव, विभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव) की संघटनाओं पर विभिन्न समय में अपने मन्तव्यों की मीमांसा की। इनके अलग-अलग ग्रन्थ अप्राप्य हैं परन्तु सर्वप्रथम आचार्य अभिनव गुप्त के ही दो ग्रन्थ हैं – 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोक लोचन', जिनमें पूर्वोक्त तीनों व्याख्याकारों के मत उद्धृत मिलने पर यह विचारोन्मीलन हुआ। अतः इसका श्रेय अभिनव गुप्त को ही जाता है। आगे हम प्रत्येक मत को क्रमश: विचारार्थ लेंगे। पश्चात्, कुछ विचार मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में भी उद्धृत हुए हैं, जिस पर चर्चा होगी।

9.2.04 आचार्य भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

जैसा कि पहले बताया गया, इनका ग्रन्थ नहीं मिलता परन्तु इनका मत अभिनव गुप्त के ग्रन्थ 'अभिनवभारती' में मूलतः मिला, जहाँ उस पर विचार किया गया। सूत्र है –

विभावादिभि: संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्ति:।
तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः: स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्॥

– (भा.का.शा.प. पृ.147-157)

अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्याभिचारी भावों के संयोग, अर्थात् स्थायी भाव के साथ संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। उनमें से 'विभाव' स्थायी स्वरूप वाली चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। 'उत्पत्ति' शब्द के

आने से सम्भवतः इनके मत को उत्पत्तिवाद नाम दिया गया। भावों से उत्पन्न अनुभाव ही यहाँ अभिप्रेत हैं। विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट स्थायीभाव ही रस होता है और अपरिपुष्ट दशा मे वह स्थायीभाव कहलाता है।

रस मुख्य रूप से रामादि अनुकार्य में रहता है और रामादि के रूप में अपने आप को ढाल देने के कारण वह अनुकर्त्ता (अभिनेता) में भी गौण रूप से अनुभूत होता है। उपर्युक्त वक्तव्य में ही लोल्लट के मत का पुंजीभूत स्वरूप लक्षित है। मम्मट ने भी इस मत का सार देते हुए बताया कि विभावों आदि कारणों से रति स्थायी भाव उत्पन्न होने पर, कार्यभूत अनुभावों से प्रतीति योग्य बन कर, सहकारी रूप व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर, रत्यादि स्थायी भाव मूलतः रामादि अनुकार्य में और उनके स्वरूपानुसन्धान से नट में प्रतीयमान रस होता है।

अभिनव व मम्मट के द्वारा उपस्थापित लोल्लट की उपर्युक्त रस-निष्पत्ति व्याख्या का सारांश निम्नांकित बिन्दुओं में समेटा जा सकता है। तदनुसार –

1. विभावादि का स्थायी भाव से संयोग होने पर रसनिष्पत्ति होती है।
2. विभाव रस के कारण है।
3. ये आश्रयालम्बन – सीता-राम के चित्त में उत्पन्न होते हैं।
4. इनके स्थायीभाव रति आदि की उपचित अवस्था का नाम रस (शृंगार) है जो मूलतः इनके हृदय में (अनुकार्य में) उत्थित होता है।
5. उनके रूपादि अनुसन्धान से अनुकर्त्ता (नट, अभिनेता) में भी विद्यमान होता है। उत्पत्ति का अर्थ यहाँ 'अभाव में भाव की कल्पना' है।

इस 'उत्पत्तिवाद' को 'आरोपवाद' भी कहा गया है चूँकि अभिनेता (अनुकर्त्ता) थोड़ी देर के लिए अपने को रामादि (अनुकार्य) समझ लेता है और सामाजिक (दर्शक, प्रेक्षक) उनमें रामादि के अनुसन्धान की समानता का 'आरोप' या 'अभिमान' कर अपने में उस रस की अनुभूति पाने लगता है। आरोप में तादात्म्य बाह्य होता है परन्तु अभिमान में वह आन्तरिक हो जाता है। इस प्रकार मम्मट ने इनके मत की मूल वस्तुओं का उपस्थापन यों किया है – आलम्बन, उद्दीपन विभावों के कारण उत्पन्न रति आदि स्थायी, अनुभाव कार्यों से प्रतीति योग्य होकर, व्यभिचारी सहकारियों से उपचित होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं। ये मुख्यतः अनुकार्य में होते हैं किन्तु अनुसन्धानवश अनुकर्त्ता (नट) में भी रसानुभूति होती है और सामाजिक उन्हीं (अनुकर्त्ता) पर अनुकार्य का आरोप कर चमत्कृत होता है।

यहाँ 'संयोग' को तीन अर्थों में स्वीकार किया गया –

1. स्थायी भाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्ध।
2. अनुभाव का अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध।
3. संचारीभाव पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध से उनकी रस-पुष्टि करते हैं।

भट्ट लोल्लट इस प्रकार मूलतः अनुकार्य में रस मानते हुए अनुकर्त्ता के कुशल अभिनय से उसमें भी थोड़े काल के लिए रसानुभूति मानते तथा सामाजिक द्वारा अनुकर्त्ता में ही अनुकार्य का आरोप कर लेने से उसमें भी तत्त्वत अनुभूति मानते हैं। इस प्रकार, दर्शक में भी रसानुभूति की प्रतीति में निषेध नहीं, स्वीकृति हो जाती है। इस प्रकार, सामाजिक अनुकर्त्ता के दक्ष अभिनय-माध्यम से मूल अनुकार्यगत रसानुभूति का संक्रमित आनन्द लेते हैं।

अब लोल्लट के मत की आलोचना के बिन्दुओं को देखें –

1. इस मत के अनुसार सामाजिक को रसानुभूति कैसे होगी ? न्यायदर्शन के अनुसार कारण कार्य का पूर्ववर्ती होता है। ऐसे में विभाव और स्थायी भाव के बीच यह सम्बन्ध मान्य नहीं; चूँकि रस भावादि के साथ ही स्थित होकर फिर नष्ट हो जाता है। कार्य-कारण स्थिति एक में ही मान्य है परन्तु इस आरोपवाद में तो रस की वास्तविक स्थिति अनुकार्य (ऐतिहासिक) में होने पर उसका आस्वादन अब सामाजिक द्वारा आज कैसे स्वीकार्य होगा ?
2. अनुकार्य से तात्पर्य मूल ऐतिहासिक पात्र – राम, दुष्यन्तादि का लिया जाए। उनको कवियों, नाटककारों द्वारा भावित होकर साहित्यिक चरित्रों के रूप में वर्णित स्वरूप को लें। लोल्लट ऐतिहासिक पात्र और साहित्यिक पात्रों के स्वरूप में अन्तर या सम्बन्ध नहीं बता सके। इससे नेता, अभिनेता और प्रणेता के पारस्परिक अन्तस्सम्बन्ध की समस्या बनी रहने से सामाजिक की रसानुभूति संदिग्ध हो गई। यदि पात्र व परिस्थितियाँ प्रख्यात न हुई तो उत्पाद्य वस्तु, पात्रों के साथ सामाजिक का मानसिक सहभाव भी संदिग्ध ही रहेगा और फलतः रसानुभूति आरोप सिद्ध न हो सकेगी।
3. अनुकार्य का आनन्द समय विशेष में, व्यक्ति विशेष में होने से लौकिक है परन्तु काव्यानन्द तो चिर काल व्यापी होने से समष्टिनिष्ठ और अलौकिक आनन्दप्रदायी होता है। इससे सामाजिक का आनन्द आरोपित, अपराजत (सेकेंड हैंड) व प्रतीतिजन्य होकर रह जाएगा।
4. आरोप में सदृश वस्तु तथा उसका स्मरण दोनों अनिवार्य हैं परन्तु ऐतिहासिक तथा काल्पनिक अनुकार्यों से प्रेक्षक के अपरिचय से वह अनुकर्त्ता से अपना सहभाव कैसे कर सकेगा ?
5. ऐतिहासिक पात्रों के प्रति पूज्य बुद्धि के पूर्वग्रह के कारण आरोप सुकर न हो सकेगा।
6. करुण रस दशा में सामाजिक अपने ऊपर उसका आरोप करने में मनोवैज्ञानिक कठिनाई अनुभव करेगा।

उपर्युक्त आक्षेपों के कारण लोल्लट का आरोप या उत्पत्ति सिद्धान्त टिकाऊ व मान्य न हुआ।

9.2.05 आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद

आगे इनके अनुमितिवाद पर विचार किया जाता है। आचार्य शंकुक 9वीं सदी के हैं। इन्होंने न्यायदर्शन के अनुमानवाद के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की। इनकी 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति है, लोल्लट की तरह आरोप नहीं। रस के इस दूसरे व्याख्याकार का ग्रन्थ भी अप्राप्य है। केवल अभिनवगुप्त की 'भारती' और 'ध्वन्यालोक लोचन' में इसके दो उदाहरण मिलते हैं। इनका सार यह है – विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य,

संचारी भावों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर वास्तविक रामादिक गत स्थायीभाव – अनुमान के बल से अनुकरण रूप में अनुकर्त्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए – चित्रतुरंगन्यायवत् प्रतीयमान होता है। विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा संचारी भावों का अनुभव ज्ञान के द्वारा अनुसन्धान (अर्थ प्रतीति) होता है। मम्मट इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अनुकर्त्ता की प्रतीति 'चित्र-तुरंग' के समान न सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति है, न संशय-प्रतीति है और न सोद्देश्य प्रतीति ही कही जा सकती है। यह अनुमिति ज्ञान है जिसे शंकुक ने 'चित्र-तुरंगन्याय' से समझाया है।

इन्होंने वास्तविक पात्र (अनुकार्य) में भावात्मक प्रक्रिया द्वारा स्थायी भाव का उद्रेक माना और सामाजिक द्वारा अनुकर्त्ता में अनुकरण के अनुमान से वही भाव-स्थिति रस रूप में आस्वादित होते हुए स्वीकार किया है। इनके अनुसार भाव व रस की मूल अनुभूति तो मूल अनुकार्यों में ही होती है। यहाँ शंकुक लोल्लट के समान हैं परन्तु निष्पत्ति प्रक्रिया में मूल अन्तर है। तदनुसार, अनुकर्त्ता के सफल अभिनय से सामाजिक चमत्कृत होकर मूलभाव व रस का अनुभव (या अनुमान) वैसे ही करता है जैसे तुरंग के चित्र को देखकर उसे वास्तविक तुरंग समझ लिया जाता। यह अनुकार्य की वैसी ही प्रतीति है जैसे चित्र में तुरंग की प्रतीति। यह अनुमित भाव ही रस है और स्थायी भाव से प्रत्यक्ष न होकर भी नट में उससे अभिन्न उसका अनुमित रूप है। यहाँ कल्पना के तत्त्व को स्वीकार कर लेने पर स्मृति के स्वतन्त्र संयोग की संभावना सहज हो जातीहै। शंकुक के मत का सारांश यों है–

1. स्थायीभाव मूलतः अनुकार्य में ही अवस्थित है। यह अनुकर्त्ता द्वारा अनुकृत रूप में रस प्रतिभासित होता है। कौशल से अनुकरण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी उसी भाव का अनुकरण कर रहा है। स्थायी भाव की यह नाट्यानुकृति ही रस है।
2. स्थायीभाव के सिवा अन्य भाव अनुकरण काल में रहते हैं। सामाजिक विभावादि लिंगों से उस भाव का अनुमान करता है।
3. यह अनुमान विचित्र है, विलक्षण है – न वास्तविक है, न सन्देह है, न भ्रान्ति है। यह कलाजन्य प्रतीति है – यही 'चित्रतुरंग न्याय' है। अतः रस-निष्पत्ति का अर्थ हुआ – "काव्य, रंग-कौशल आदि की सहायता से नट द्वारा स्थायी भाव का अभिनय।" इस प्रकार इनके मत में अभिनय कौशल प्रधान है, काव्यतत्त्व गौण। अनुमान से सहृदय को चमत्कार की प्राप्ति होती है। मम्मट के अनुसार, सहृदय वस्तु-सौन्दर्य और दूसरी ओर अपनी वासना के बल पर रस-चर्वणा करता है। अतः 'संयोग' गम्य-गमक भाव का वाचक होता और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' होता है।

इसकी आलोचना के ये बिन्दु हैं –

भट्ट तौत के हवाले से अभिनव ने बताया कि –

1. न तो प्रेक्षक की दृष्टि से स्थायी भाव का अनुकरण सम्भव है, न नट की दृष्टि से आन्तरिक भावों का अनुकरण, तत्त्वतः असम्भव है।

2. करुणा में अनुकरण द्वारा आनन्द कैसे मिल सकता है ?
3. अनुकरण की प्रतीति के लिए अनुकार्य और अनुकर्त्ता की क्रिया – दोनों का ज्ञान अपेक्षित है। रामादि को देखे बिना उनके रूप-व्यवहार की अनुकरण प्रतीति सम्भव नहीं है।
4. बाह्य रूप-व्यवहार की अनुकरण-प्रतीति मान भी लें परन्तु स्थायी भावों की मानसिक अनुकरण – प्रतीति असम्भव है।
5. नट की दृष्टि से भी स्थायी भाव का अनुकरण सिद्ध नहीं हो सकता। उसी प्रकार रस की अनुकरण रूपता सम्भव नहीं है। रस का अनुमान नहीं होता, अनुभव होता है।
6. शंकुक का मत नाटक के अनुकरण पर आधारित है परन्तु भारतीय काव्य और शास्त्र काव्य को अधिक महत्त्व देता है।
7. ये रस को त्रिगुणात्मक मानते हैं, जिससे सुख-दुखानुभूति दोनों होती है परन्तु भारतीय काव्यशास्त्री बहुश: वाद-विवाद के बाद इस संवाद पर आ टिके कि यह समरस होकर दिव्य व निर्वैयत्तिक आनन्द दशा हो जाती है। अतः यह मत दार्शनिक रुझान के बावजूद अग्राह्य है।

9.2.06 भट्टनायक का भुक्तिवाद या भोगवाद

यह मत भी अभिनव गुप्त के ग्रन्थों 'भारती' और 'लोचन' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के उद्धरणों का सामग्री दृष्टि से मुखापेक्षी है। पुराने आचार्यों की एक लाक्षणीय विशेषता यह अवश्य रही कि अपने मत को उपस्थापित करने के पूर्व वे पूर्ववर्ती मतों के गुण-दोषों का अन्वेषण कर ही अग्रसर होते थे इसलिए काव्य-लक्षणों, विभिन्न सम्प्रदायों के अतिरिक्त रस-सूत्र के चारों मतों के अनुशीलन क्रम में भी हम उत्तरवर्ती आचार्य के ही अनुगृहीत हुए हैं।

अभिनव द्वारा अभिनवभारती व 'लोचन' में भट्टनायक के उद्धृत मत के अनुसार – 'रस न तो प्रतीत होता, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। रस की वास्तविक प्रतीति सामाजिक को होती है। उनका केन्द्रवर्ती विचाराधार सामाजिक है। उसी दृष्टि से वे रस की निष्पत्ति पर विचार रखते हैं। तदनुसार –

1. विभावादि तो (अनुकार्य) अनुपस्थित हैं अतः परोक्ष होने से उनका प्रत्यक्ष भाव सौरस्य क्षीण हो जाती है।
2. देवादि दिव्य विभावों का साधारणीकरण कठिनतर हो जाएगा। यहीं 'साधारणीकरण' शब्द पहले-पहल प्रयुक्त मिलता है जो अद्यावधि रस-चिन्तन में मेरुदण्ड-सदृश विद्यमान रहा है।
3. हनुमान आदि के समुद्रलंघन का असम्भवप्राय असाधारण दृष्टान्त सामाजिक द्वारा (असाधारण, असम्भवप्राय होने से) साधारणीकृत न हो पाने से आत्मानुभूत रस प्रतीति में बाधक होंगे । अतएव, "विभावादि साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसो... रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्... सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय निज संविद्विश्रान्ति लक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परंभुज्यतः" । (पृ. 462-465) अर्थात् सगुण काव्य व नाटकों में चतुर्विध अभिनय से परिशुद्ध विभावादि के साधारणीकरण रूप-अभिधा के बाद – दूसरी शक्ति भावकत्व द्वारा भाव्यमान अर्थात्

साधारणीकृत, अनुभवादि से भिन्न, रजोगुण-तमोगुण से आगे, विस्तार व विकास रूप सत्त्व-प्राधान्य से अन्तःकरण प्रकाश व आनन्द के साक्षात्कार से विश्रान्त चित्त हो, यह रस परब्रह्मास्वाद सदृश भोजकत्व व्यापार द्वारा अनुभूत होता है।

इस प्रकार भट्टनायक मानते हैं कि पहले काव्यादि के द्रव्यों का अभिधाबोध होने के बाद दूसरी भावकत्व शक्ति या व्यापार द्वारा भाव्यमान द्रव्यों का, सत्वोद्रेक से साधारणीकृत होने पर प्रकाश व आनन्द के साक्षात्कार से विश्रान्त अन्तःकरण पर ब्रह्मास्वाद सदृश – भोजकत्व की तीसरी शक्ति द्वारा – रसोपभोग करता है। भट्टनायक के पूर्व ध्वनिमत में विस्तार से शब्द की – अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन तीन शक्तियों की गहन चिन्तना हो चुकी थी परन्तु भट्टनायक ने अपने रस-सिद्धान्त निरूपण में इस पूर्व परम्परा की अवहेलना कर लक्षणा की जगह नयी (शब्द) शक्ति – भावकत्व एवं तीसरी भोजकत्व की कल्पना की। स्वभावतः यह रूढ़ि प्रिय काव्यशास्त्र को सहज स्वीकार्य नहीं था जबकि नायक ने इस प्रक्रिया को साधारणीकरण व्यापार द्वारा दूर तक हल कर दिया। फिर, भोजकत्व की तीसरी शक्ति कल्पना भी व्यंजना की जगह अग्राह्य ही रही।

अब देखें कि इस नयी दो शक्ति-कल्पना के पीछे नायक का क्या मन्तव्य है।

1.	अभिधा (+ लक्षणा)	:	अर्थ-बोध, निजत्व मोह (तम+रज)
2.	भावकत्व	:	अहम् का विलय और सत्वोद्रेक से समानानुभूति (साधारणीकरण)
3.	भोग या भोजकत्व	:	रसानुभूति, आनन्दानुभूति।

सामाजिक विभावादि को तो पहले विशेष रूपेण ग्रहण करता है। पश्चात् सामान्य रूप में ग्रहण करता है। यही स्थिति भावकत्व की है। इसमें अहम् का विलय सत्वोद्रेक से हो जाता है। इस दशा में सामाजिक देश, काल पात्र की सीमाओं व मर्यादाओं से मुक्त हो जाता है। यह मुक्त हृदयता, चित्र की बहुत बड़ी त्याग व उदार दशा है। इसी में दुष्यन्त-शकुन्तलादि अनुकार्य-अनुकर्त्ता आदि अब न भास कर चित्तगत स्ववासना को धड़काते-द्रवित करते हैं। यही साधारणीकृत चित्त की अन्तर्दशा है। इसी में रसानुभूति की उपयुक्त रसभूमि बनी अतः नायक ने तीसरी भावदशा – भोजकत्व में प्रकाश व आनन्दस्वरूप रस की भुक्ति या योगदशा के साथ इस प्रक्रिया को सम्पन्न किया।

इस प्रकार पहले तो नायक ने पूर्वोक्त रस-प्रतीति, रसोत्पत्ति और रसाभिव्यक्ति का निषेध किया। तत्पश्चात् विधिपूर्वक तीन शक्तियों – (क) अभिधा (ख) भावकत्व एवं (ग) भोजकत्व को स्थापित कर अपना मंतव्य पूरा किया।

पहली स्थिति तो अपेक्षाकृत अभिधा बोध की सहज गम्य है। दूसरी स्थिति भावकत्व की महत्त्वपूर्ण होने से विशेष विचारणीय है। इसे समझ लें।

इसमें विद्वानों ने तीन भाव-स्तर माने –

1. पहली दशा में सहृदय-चित्त का राग-द्वेष जन्य अज्ञान दूर हो जाता है।
2. दूसरी स्थिति में विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। और,
3. तीसरी दशा में रस भावित होकर भोज्य हो जाता है। यही रस-निष्पत्ति है। भावित होने का तात्पर्य है – भावित होकर रति की कल्पनात्मक प्रतीति या रसभोग। यह अलौकिक अनुभूति, आनन्दानुभूति या ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाती है। सहृदय का स्थायी भाव रस बन कर उसे आनन्दमय आस्वादन कराता है। इस प्रकार निष्पति का अर्थ है भाविति। संयोग का अर्थ हुआ भाव्य-भावक-सम्बन्ध। विभावादि भावक हैं और स्थायी भाव भाव्य। यही सहृदय चित्त में रसानुभूति बनते हैं।

तथापि, उत्तरवर्ती आचार्य अभिनव गुप्त ने उपर्युक्त मत में भी कुछ त्रुटि देखी और फलतः उन्होंने अपने अभिव्यक्तिवादी सिद्धान्त को उपस्थापित किया।

9.2.07 अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनव गुप्त शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुयायी थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य भट्टनायक के भुक्तिवाद की आलोचना करते हुए पहली आपत्ति यह की कि –

1. पूर्व की तीन शब्द शक्तियों के रहते हुए उन्होंने इतर दो शक्तियों – भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना व्यर्थ ही की। चूँकि ये काम लक्षणा और व्यंजना द्वारा हो ही जाते थे। जैसे – धरती में पड़े हुए बीज अनुकूल परिवेश पाकर अंकुरित हो जाते हैं वैसे ही सहृदय के चित्त में संस्थित रत्यादि स्थायी भाव नाटक दर्शन या काव्य श्रवण से तत्रत् भाव व रस अभिव्यक्त हो जाते हैं। यही अभिव्यक्तिवाद है।
2. दूसरी आपत्ति यह कि रस और रस-भोग की दशा अलग-अलग नहीं है। आस्वाद्य और आस्वाद या कहें, रस-भोग में अन्तर करना ठीक नहीं है। रस-प्रतीति का खण्डन कर रस-भुक्ति की स्थापना संगत नहीं है।
3. सत्वोद्रेक की दशा में आत्मा विश्रान्त होकर आनन्दित हो जाती है परन्तु उस विश्रान्त अन्तर्दशा में फिर द्रुति, विकास और विकास की प्रवृतियाँ कैसे होंगी ? यह अभिनव गुप्त को अमान्य है।
4. पुनः सत्वोद्रेक से रसाभिव्यक्ति होनी चाहिए परन्तु नायक को अभिव्यक्ति अमान्य है। ऐसे में उसकी सत्ता सत्य कैसे सिद्ध होगी ?

ये मूल आक्षेप हैं जो अभिनव द्वारा उन पर किये गए। तथापि, नायक ने रसास्वाद का पहली बार स्वरूप-विश्लेषण किया तथा साधारणीकरण सिद्धान्त की स्थापना कर उन्होंने सर्वप्रथम अनुकार्य, अनुकर्त्ता और सामाजिक – तीनों के मतभेद को इसके द्वारा मिटाकर अभूतपूर्व एकत्वीभाव-विधान कर दिया। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार – "विश्व के आलोचनाशास्त्र में भट्टनायक से पूर्व इस मूल प्रश्न का ऐसा प्रामाणिक समाधान किसी आचार्य ने प्रस्तुत नहीं किया।" (रस-सिद्धान्त, पृ.169)

अब हम अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवादी मत का सारांश देखें –

1. निर्विघ्न प्रतीति से आस्वाद्य भाव ही रस है । साहित्य के द्रव्यों द्वारा साधाणीकृत (स्व-पर, देशकाल निरपेक्ष, मुक्त हृदय) सहृदय-चित्र में जाग्रत् रत्यादि भाव आस्वाद्य सुखानुभूति के विषय बनते हैं । यही प्रतीति रस है ।
2. रस की प्रतीति सहृदय की आत्मा करती है और यह निर्वैयक्तिक होती है ।
3. यह साधारणीकरण व्यष्टि की जगह समष्टि के धरातल पर होता है । चमत्कार से आत्मतत्त्व की अद्वैतता के कारण सामाजिकों को एक-सी प्रतीति होती है तथा निर्वैयक्तिक होने से यह आनन्दमय हो जाता है । अभिनव के अद्वैतमत से समष्टिगत रसानुभूति सिद्ध होती है ।
4. स्थायीभाव सभी सहृदय चित्त में संस्कार रूप मे विद्यमान है । संस्कार रूप होने से वे सबमें समान हैं ।
5. काव्यात्मक पदावली से अर्थ बोध सामान्य से अधिक आत्म साक्षात्कृत होने से बिम्बात्मक होता है ।
6. काव्य के शब्दार्थों में गुणालंकारता होती है । इससे भावकत्व या साधारणीकरण के कारण ध्वनन या व्यंजकता आ जाती है । अभिनव इसी व्यंजना से काम बना कर नायक के नवीन 'भावकत्व' का निषेध करते हैं । रूढ़िवादी आग्रह नवीन विरोधी होती ही है । इसे हम भक्तिरस के सन्दर्भ में पहले जगन्नाथ द्वारा निर्दिष्ट 'मुनिवचननियन्त्रिता' में दिखा आये हैं ।
7. भोजकत्व भी इन्हें शब्दार्थ में अमान्य है, चूँकि यह चित्त की प्रतीति है । रसास्वाद और भोग, दो भिन्न स्थिति नहीं है । यह अभिन्नता व्यंजना से ही मिल जाती है । रस अभिव्यंग्य और ध्वनि है अतः स्थूलआभासी शब्द 'भोजकत्व' की पृथक् कल्पना अनावश्यक है । सारांशतः संयोग और निष्पत्ति का अर्थ हुआ – अभिव्यक्ति तथा रस व भाव का व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध रस ब्रह्मास्वाद सदृश है । इसकी अभिव्यक्ति होती है । सहृदय चित्त में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव साहित्य सेवन से जाग्रत् और अभिव्यक्त होकर रसनीय हो जाता हैं ।

9.2.07.1 अभिनव की अभिव्यंजना का तात्पर्य : शक्ति और सीमा

कुल मिलाकर देखें तो अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद या अभिव्यंजनावाद को ही आत्यन्तिक मान्यता मिली । इनका सिद्धान्त प्रौढ़ और पुष्ट है । इसी से इसकी स्वीकार्यता मिली । इसका मूल प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन का आनन्दवाद है । संयोग से यही आधुनिक महाकाव्य कामायनी के आनन्दवाद में भी है जिसे पहले उद्धृत किया जा चुका है। इसकी शक्तियों पर पहले विचार करें –

1. सर्वप्रथम इन्होंने ही अपने पूर्ववर्ती तीन व्याख्याकारों – लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के सिद्धान्तों को मूलश: अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया । अन्यथा इनका उल्लेख भी कोई नहीं करता । यहाँ तक कि 'साधारणीकरण' सिद्धान्त के प्रथम प्रस्तोता भट्टनायक का भी उक्त सन्दर्भ मे उल्लेख न हो पाता जिसके पृष्ठाधार पर ही अभिनव गुप्त ने अपने अगले सिद्धान्त का महल खड़ा किया । अतः उक्त तीनों सिद्धान्तों के उद्धारक को इसके प्रथम शोधकर्त्ता का श्रेय रेखांकित होना चाहिए। इस ईमानदारी के लिए उनका काव्यशास्त्र में ऐतिहासिक महत्त्व है ।

2. सहृदय-चित्त में स्थित वासनारूप स्थायीभाव ही रसरूप में द्रवित हो जाता है । इससे त्रैत मिटकर अद्वैत भाव के आ जाने से अनुकार्य, अनुकर्त्ता और सहृदय तीनों का सहभाव एवं सह रससंचार अत्यन्त सुगम मान्य हो गया ।
3. रसास्वाद अन्ततः आनन्दमय – सुख-दुःख -समरस ही हो जाता है । इसे यहाँ सिद्धि मिल गई । नायक तक यह विचार साधनावस्था तक ही था चूँकि उसमें चित्तद्रुति, विकास आदि बातें जुड़ी थीं । अभिनव में इसे पूर्णता मिली ।
4. अभिनव ने अपने दर्शन से आत्मानन्द को लेकर अभिव्यंजना द्वारा इसे काव्यानन्द से जोड़ दिया ।
5. आत्मानन्द से काव्यानन्द के जुड़ जाने पर रसबोध व्यक्तिगत से समष्टिगत हो गया और इस प्रकार 'मैं' 'हम' हो गया, जो साहित्य का चरम लक्ष्य है । डॉ० नगेन्द्र ने इस 11वीं सदी के चिन्तन को 20वीं सदी के समाजवाद से जुड़ने का आभास दिया है । (रस-सिद्धान्त, पृ. 175) इसे समाजशास्त्रीय विचारधारा की अनुसंगति से अलग यदि पूर्वी काव्यानन्दी धारा से – प्रसाद के समरसता सिद्धान्त से जोड़ना रचनानुरूप आलोचना के (ओबजेक्टिव फोरिलेटिव) पश्चिमी सिद्धान्त से भी जुड़ने जैसा हो सकेगा । इस प्रकार पूर्वी-पश्चिमी, आन्तरिक-बाह्य विचारधाराएँ एकान्वित हो जाएँगी । जैसे –

हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमी हैं ।
जीवन-वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है ॥

– (कामा., आनन्द स.)

यह स्थूल साम्यवाद से सूक्ष्म सामरस्यवाद अधिक श्रेयस्कर है ।

इस वैशिष्ट्य के अतिरिक्त, अभिव्यक्ति की कुछ सीमाएँ भी विद्वानों ने बतायीं, वे हैं –

1. इनका पहला खण्डन महिम भट्ट ने किया । वे व्यंजना को स्वीकार न कर विभावादि के साथ रस का सम्बन्ध भाव्य-भावक-सम्बन्ध मानते हैं, अभिनव के अनुसार व्यंग्य-व्यंजक-सम्बनूध नहीं । यह उन्हें अभिनव की अपेक्षा फिर भट्टनायक के मत के समीप ही ले जाता है । चूँकि महिम भट्ट रसवादी हैं और अभिनव ध्वनि / व्यंजनवादी।
2. अभिनव सहृदय के हृदयगत स्थायी भाव जागरण से रसोद्रेक मानते हैं जबकि महिमभट्ट नट या काव्य माध्यम से इसे सहृदय में प्रतिबिम्बित मानते हैं परन्तु आगे अभिनव का मम्मट व विश्वनाथ आदि के मतों में अनुवर्तन हुआ परन्तु विश्वनाथ भट्टनायक और अभिनव के 'सत्वोद्रेक' तथा 'आत्मास्वाद' और रसास्वाद में एकात्मता की व्याख्या के समय मध्यवर्ती विचारक हो जाते हैं । इन दोनों से भिन्न पण्डितराज जगन्नाथ अनेकानेक मतों के उल्लेखों के बावजूद अभिनव गुप्त के मतानुयायी प्रतीत होते हैं । थोड़ा अन्तर यदि है तो वह दर्शनगत है ।

अभिनव गुप्त शैव दार्शनिक थे जबकि जगन्नाथ शंकर अद्वैती। इसी से अभिनव के रस-विवेचन में जहाँ प्रकृति स्वरूपी विभावादि से रस का चैतन्य स्वरूप आनन्द ग्राह्य है वहाँ जगन्नाथ के शुद्ध अद्वैत में प्रकृति निरपेक्ष विभावादि का चैतन्यानन्द ग्राह्य है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-चिन्तन यहीं आकर सिमट गया परन्तु नहीं जगन्नाथ से भी पूर्व रूपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में काव्यशास्त्र से शान्त और शृंगार रस काट कर अपने भक्तिरसशास्त्र में पाँच रस – शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर (शृंगार) रस बनाये।

हिन्दी के रीति आचार्य मूल चिन्तन से विरत रीति अलंकारादि काव्यांगों का ही गतानुगतिक विवेचन करते रहे। रस में केवल उनका ध्यान शृंगारालम्बन नायिका के भेदों-नखशिख छवि आदि पर केन्द्रित रहा। कुछ भक्ति शृंगारी भी रूढ़िबद्ध होकर राधा-कृष्ण शृंगार व हाव-भाव, अष्टयाम आदि चित्रण में निरत रहे। राधा-कृष्ण क्रमश: वर्ण्य से वर्णन प्रणाली में आ गए। 'सुमिरन' तात्त्विक न होकर बहाना भर रहा।

शुक्लजी का मत – इस काव्यरस चिन्तन को आधुनिक युग में शुक्लजी के विवेचन से पुनरुज्जीवन मिला। उस युग के अन्य काव्यशास्त्रियों – कन्हैयालाल पोद्दार, हरिऔध, पण्डित रामदहिन मिश्र, डॉ॰ नगेन्द्र, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ आनन्दप्रसाद दीक्षित, डॉ॰ निर्मला जैन आदि के ग्रन्थों और शोधों से यहाँ चर्चा के केन्द्र में फिर आया जिसमें रस-विवेचन भक्तिरस, साधारणीकरण आदि की पुनर्व्याख्या हुई परन्तु समाजवाद, प्रगतिवाद, क्रोचे के अभिव्यंजनावाद, अस्तित्ववाद, सौन्दर्यशास्त्र, शैलीशास्त्र आदि के आवर्त में यह रसवाद आच्छन्न हो गया जो सम्प्रति शेष है – वह है – साधारणीकरण का सिद्धान्त जिसे भट्टनायक से चलकर अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि संस्कृत काव्यशास्त्रियों के अतिरिक्त हिन्दी के प्रतिनिधि रस-चिन्तकों – आचार्य शुक्ल, डॉ॰ नगेन्द्र, पण्डित रामदहिन मिश्र, डॉ॰ आनन्दप्रसाद दीक्षित आदि सब ने बहुमान देकर तत्सम्बन्धी मीमांसा की। इन्हें हम आगे देखें –

9.2.07.2 साधारणीकरण सिद्धान्त की व्याख्या एवं महत्ता

जैसा कि भट्टनायक के भुक्तिवाद के प्रसंग में पूर्व निवेदन किया गया, उनके मत में ही सर्वप्रथम यह पारिभाषिक शब्द स्वयं उनके द्वारा प्रथमतः प्रयुक्त हुआ। देखें –

काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विद्याभिनयरूपेण, निविड निज मोह संकटता निवारण कारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रस:।

– (अभि.भा., पृ. 462 – 65)

1. अर्थात्, अभिधा के बाद विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत) स्थायी भाव सत्वोद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय संविद् विश्रान्ति (आत्मास्वाद या ब्रह्मास्वाद) सदृश, भोजकत्व व्यापार से आस्वादित होता है।

2. यही भावकत्व शक्ति या व्यापार साधारणीकरण है।
3. यह साधारणीकरण रसास्वाद या भोजकत्व की पूर्ववर्ती दशा है।
4. यह साधारणीकरण ही अभिधाबोध के पश्चात् भावविभावों को विशेष से सामान्य मनोदशा में लाकर द्रवणशील कर देता है जिससे तीसरी चरम दशा – भोजकत्व या रसनिष्पत्ति होती है और सहृदयों को रसानुभूतिजन्य आनन्द मिलता है।
5. इससे निजत्व मोह समाप्त हो जाता है तथा सुख-दुःख-सामरस्य लगता है। इसे 'भावन-क्रिया' भी कहते हैं किन्तु भावन व्यापार व्यापक व्यापार है। इसमें अन्य व्यापारों के साथ साधारणीकरण भी शामिल है। 'व्यापार' शब्द का मुख्य क्षेत्र न्यायशास्त्र है परन्तु काव्यशास्त्र में यह शब्द-शक्ति है। भट्टनायक ने भावन व्यापार की प्रतिष्ठा मीमांसाशास्त्र के आधार पर की। इसके अनुसार काव्य भावक है और रस भाव्य।

अभिनव गुप्त ने भी इसे स्वीकार किया है परन्तु व्यंजना व्यापार द्वारा रसनिष्पत्ति तक वे पहुँचते हैं, भावन व्यापार द्वारा नहीं। वे साधारणीकरण की दो दशाएँ बताते हैं। पहली दशा में विभावादि का व्यक्ति सम्बन्ध छूटता है और दूसरी दशा में सामाजिक का व्यष्टि सम्बन्ध भी छूट जाता है और फिर साथ ही दोनों का साधारणीकरण हो जाने से रस की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है। इस प्रकार साधारणीकरण का अर्थ हुआ – "असाधारण या विशेष का साधारण हो जाना।" विभावादि के साधारणीकरण से तात्पर्य – "निजत्वमोह का छूटना।" यह सामाजिक के वासना रूप में स्थित स्थायी भावों के जागरण से होता है। उन्हें वासना की सनातन स्थिति मान्य हुई और स्थायी भाव का साधारणीकरण हो गया।

उपर्युक्त दोनों मतों की समीक्षा से स्पष्ट है कि नायक भावकत्व द्वारा निजत्वमोह का निवारण और भोजकत्व द्वारा सत्वोद्रेक से 'संविद् विश्रान्ति' में रस भोगदशा देखते हैं। वे सामाजिक की समष्टि सत्ता के साधारणीकरण की बात नहीं उठाते परन्तु अभिनव गुप्त निर्भ्रान्त रूप में व्यंजना व्यापार से इस साधारणीकरण को देश, काल, दृष्टा आदि के बन्धनों से मुक्त कर देते हैं। इस मुक्ति का अर्थ है – सुख-दुःख-चेतना से मुक्ति। यह व्यापक चेतना विभावादि के साथ स्थायीभाव को भी साधारणीकृत कर देती है। अतः काव्यास्वाद भाव दोनों ओर से साधारणीकृत होकर सामूहिक अनुभूति हो जाती है, यही रसदशा है। भावकत्व से तात्पर्य साधारणीकरण ही हो जाता है। विशेष का सामान्य भासना।

9.2.08 आधुनिक विद्वानों का अभिमत

हिन्दी विद्वानों में आचार्य शुक्ल ने इसी सामान्य-विशेष या व्यष्टि-समष्टि दृष्टान्त द्वारा इसे हल करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार – "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है परन्तु उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब पाठकों या श्रोताओं के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं।" (चिन्ता, भाग-I, पृ. 227) अन्तिम महत्त्वपूर्ण बात इन्होंने यह कही है – "लोक-हृदय की यह सामान्य अन्तर्भूमि परख कर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की गई है।" (चिन्ता, भाग-I, पृ. 237) इस प्रकार शुक्लजी का मत विश्वनाथ के निकट तो है,

परन्तु वे 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' के बरअक्स उसे रखकर और भी आधुनिक स्वरूप देते हुए, यूरोपीय विद्वान् इलियट के 'निर्वैयक्तिकता और निस्संगता' सिद्धान्त तथा रिचर्ड्स के 'मूल्य व सम्प्रेषण सिद्धान्त' ('अन्तर्वृतियों के समंजस संगठन') आदि से जोड़ कर मनोवैज्ञानिक स्वरूप दे देते हैं। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' निबन्ध (चिन्ता, भाग-I, पृ. 254-55) में वे कहते हैं – "ज्ञान-प्रसार के साथ-साथ रागात्मिका वृत्ति का यह प्रसार एकीकरण या समन्विति की एक प्रक्रिया है। ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (Trancendt) स्वरूप का संकेत है, रागात्मक हृदय उसके व्यापक (Immanent) स्वरूप का ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय ईश्वर है। किसी व्यक्ति या वस्तु को जानना ही वह शक्ति नहीं है जो उस व्यक्ति या वस्तु को हमारी अन्तस्सत्ता में सम्मिलित कर दे – वह शक्ति है – राग या प्रेम"। (चिन्ता, भाग-1, पृ. 255) उपर्युक्त भावसूत्रों को जोड़कर या अनुस्यत कर ही हम शुक्लजी के 'साधारणीकरण' को समझ सकते हैं, सारांशतः शुक्लजी 'साधारणीकरण आलम्बन धर्म का' मानते हैं। (चिन्ता, पृ. 230) पर जहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं बैठता वहाँ पाठक शीलदृष्टा बना रहता है। वे कहते हैं – "इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।" (चिन्ता, पृ. 232)

वस्तुतः डॉ॰ नगेन्द्र का मत इसी के सर्वाधिक निकट पड़ता है। शुक्लजी जिसे दूसरी कोटि में रखते हैं उसे ही साधारणीकृत करा-कोटिरहित कवि द्वारा नियोजित-विभावादि की कल्पना द्वारा साधारणीकरण मान लेने से कोटि-कल्पना या स्तर-भेद भी स्वतः समाप्त हो जाता है। वे कहते हैं – "रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानव मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है। वर्तमान में रस-सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।" (रस-सिद्धान्त, पृ. 208) वे भाषा के प्रतीकात्मक या भावमय प्रयोग में इसका आधार मानते हैं। इसे पकड़ लेने पर पाठकों को मध्यकालीन काव्य या आधुनिक प्रगतिशील प्रतीकों द्वारा भी भावों के अभियोजन में कोई विसंगति या कठिनाई नहीं आएगी और वे इस लक्षणा या विपरीत लक्षणा – (व्यंजना) में भी अन्तस्संगति बैठा ही लेंगे। फलतः उन्हें रस-बोध में कोई बाधा न होगी।

परन्तु, आज के साहित्य में रागात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता के दबाव व तनाव को ही स्थायी भाव बना देने पर रसानुभूति या साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की मनोदशा में साहित्य से 'सहितस्य' भाव विदा हो रहा है। नई कविता या नया कथा साहित्य 'सर्वहत' की त्रासदी में बेदम है। एक भ्रष्ट तन्त्र सर्वत्र स्वतन्त्र या कहें, स्वच्छन्द, मनोधारा में, नैराश्य में, समष्टि को डुबोए हुए है। ऐसे में इस चिन्तन का आगे बढ़ना सम्भव नहीं लगता। अस्तु, इस विवेचन को यहीं समाप्त किया जाता है।

यद्यपि प्रस्तुत पाठ में साधारणीकरण सिद्धान्त विवेच्य नहीं है तथापि भट्टनायक द्वारा आरम्भित और अभिनव द्वारा अभिव्यंजित होने के कारण इसे आलोच्य विषय बना कर संक्षेप में व्यक्त करना समीचीन है। इन्हें और अधिक समझाने के लिए आधुनिक विद्वानों के – आचार्य शुक्ल और डॉ॰ नगेन्द्र के – मत को भी व्यक्त करना आवश्यक था, जिसका सम्यक् निर्वाह कर इस प्रसंग को सम्पन्न किया जा रहा है। अस्तु

9.2.09 कतिपय पारिभाषिक शब्द और अर्थ

विभाव : रस के कारण विभाव हैं। इसके दो भेद हैं – आलम्बन और उद्दीपन।

आलम्बन : आलम्बन के दो भेद हैं – आश्रय और विषय (आलम्बन)।

आश्रय : जिसके हृदय में कोई भाव जगता है। दुष्यन्त रति भाव का आश्रय है।

विषय : जिसके चलते कोई भाव जगता है। शकुन्तला इस भाव की आलम्बन है।

अनुभाव : भाव जिसमें जगता है, उसके चेहरे पर उस भाव की झलक दीखती है। इसी से आलम्बन को भी महसूस होता है कि उसके बारे में आगे वाला क्या महसूस कर रहा है। यदि दोनों के भाव सम हुए तो वह भाव आगे रस दशा तक बढ़ता है। यह भी दो प्रकार का है – यत्नज और अयत्नज। बाह्य चेष्टाएँ यत्नज हैं तो आँख, ओठ के भाव अयत्नज।

उद्दीपन : उद्दीपन दो प्रकार का होता है – बाह्य वातावरण और बाह्य चेष्टाएँ।

संचारी भाव : इसे व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। यह नामशः अल्पकाल व्यापी है। स्थायी भाव अधिक काल व्यापी भाव है। संचारी स्थायी भाव का छोटा भाई है। जैसे नदी की एक धारा सुपुष्ट और एकमुखी होकर बहती है। तद्वत् स्थायीभाव के सहकारी रूप में संचारी भाव कुछ समूह में आते और फिर जाते रहते हैं। स्वभावतः संचारी भाव 33 या 34 हैं।

स्थायी भाव : स्थायी भाव चित्त में जगने पर अधिक कालव्यापी होते हैं। इनके साथ जब अन्य सहयोगी भाव-विभाव, अनुभाव व संचारी भाव जुड़ते हैं तो रस संचार होता है। इनकी संख्या 9 मानी गई है। इन्हीं से 9 प्रमुख रस बने हैं। आगे चलकर विद्वानों ने इसकी भी संख्या 11 तक कर दी। इसमें वात्सल्य और भक्ति 16वीं सदी के गौड़ीय वैष्णवों ने जोड़ा। पुनः पाँच भक्तिरस बने।

सौन्दर्य : कला का यह प्राण तत्व है। इससे चमत्कार उत्पन्न होता है जिससे चित्त आह्लादित होता है। यह भी दो दृष्टियों से व्याख्यायित हुआ – आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ रचनाओं में जो सौष्ठव निर्मित होता है, उसका प्रभाव मनोमुग्धकारी होता है। इस रमणीयता को पाश्चात्य विचारकों ने साहित्य से भी जोड़ा। अब रसानुभूति की अपेक्षा कलात्मक रमणीयता को ही साहित्य के आस्वादन का उपजीव्य माना जाने लगा है।

अनुकार्य : नाटकों में (काव्यों में भी) जो वर्ण्य विभाव (जैसे –राम-सीता, दुष्यन्त-शकुन्तला) होते हैं, नट (अनुकर्त्ता) उनकी वाणी, वेशभूषादि का अनुकरण करता है। वो जिसका अनुकरण किया जाए, वह अनुकार्य हुआ।

अनुकर्त्ता : नाटकों में (काव्यों में भी) आदि में नट या पात्र जिसका (मूल नायकादि का) अनुकरण करें वह अनुकर्त्ता कहलाता है।

सामाजिक	:	यह नाटक में दर्शक और काव्यादि में सहृदय, प्रेक्षकादि कहलाता है।
अभिमान	:	यह अनुकर्त्ता कहलाता है।
भावन	:	भावकत्व व्यापार का साधारणीकरण, भावों की कल्पनात्मक प्रतीति।
भावकत्व	:	इसे शक्ति के रूप में सर्वप्रथम भट्टनायक ने अभिसंज्ञात किया। इस शक्ति से पात्र, परिस्थिति अपने-पराये की भेदबुद्धि से ऊपर उठ जाते हैं। विशेष सामान्य हो जाता है।
भोज्य-भोजक-सम्बन्ध	:	विभावादि भोजक हैं और रस भोज्य है।
व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध	:	विभावादि व्यंजक है और रस व्यंग्य है।
निर्वैयक्तिकता	:	व्यक्ति सम्बन्ध से छूटने पर जो भावन दशा (साधारणीकृत) होती है, वही निर्वैयक्तिकता है।

9.2.10 बोध प्रश्न

1. रस की परिभाषा दीजिए।
2. करुण रस के आस्वाद पर प्रकाश डालिए।
3. भट्ट लोल्लट रस की मूल स्थिति किसमें मानते हैं ?
4. भट्ट नायक के साधारणीकरण / भावकत्व का तात्पर्य बताइए।
5. अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद की क्या विशेषताएँ हैं ?
6. साधारणीकरण से आचार्य शुक्ल का क्या अभिप्राय है ?
7. साधारणीकरण से डॉ॰ नगेन्द्र का क्या मन्तव्य है ?
8. शंकुक रस की स्थिति किसमें मानते हैं ?

9.2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. नाट्यशास्त्र – भरत, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी
02. पुराण संहिता (सं.) – चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी
03. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – सं. : डॉ॰ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
04. रस-सिद्धान्त – डॉ॰ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
05. काव्य-दर्पण – पण्डित रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना
06. हिन्दी भक्तिरसामृत सिंधु – प्रधान सं. : डॉ॰ नगेन्द्र , सं. : डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक (भूमिका) हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
07. रस-मीमांसा – पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, सं. : पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र, ना.प्र. सभा, काशी
08. हिन्दी साहित्य कोश – प्रधान सं. : डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी-1
09. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

10. रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ॰ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली’49
11. चिन्तामणि (भाग – 1, 2), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग’62
12. भक्ति रस शास्त्र, डॉ॰ तपेश्वरनाथ, द्वितीय संस्करण, मानस प्रकाशन, नौगछिया, भागलपुर’25
13. साहित्य-चिन्तन, डॉ॰ तपेश्वरनाथ, प्रदीप प्रेस, भागलपुर – 1972
14. साहित्यायन, डॉ॰ तपेश्वरनाथ, भाषा साहित्य संस्थान, इलाहाबाद’98
15. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, डॉ॰ निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
16. मधुर रस : स्वरूप और विकास, डॉ॰ रामस्वार्थ चौधरी, राजकमल प्रकाशन, पटना, दिल्ली
17. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, डॉ॰ आनन्द प्रकाश दीक्षित, पूना – 1960
18. मध्यकालीन धर्म साधना, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद’1962, तृतीय संस्करण

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 9 : रस सिद्धान्त

इकाई –3 : रस और साधारणीकरण, सहृदय की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

9.3.0 उद्देश्य कथन
9.3.1 प्रस्तावना
9.3.2 रस बोध और रसात्मक प्रतीति
9.3.3 रस और साधारणीकरण
9.3.3.1 साधारणीकरण का अभिप्राय
9.3.3.2 आचार्य भट्टनायक का मत
9.3.3.3 आचार्य अभिनवगुप्त का मत
9.3.3.4 आचार्य विश्वनाथ का मत
9.3.3.5 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत
9.3.3.6 बाबू श्यामसुन्दरदास का मत
9.3.3.7 पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी का मत
9.3.3.8 डॉ॰ नगेन्द्र का मत
9.3.4 सहृदय की अवधारणा
9.3.4.1 सहृदयता
9.3.4.2 समान हृदय
9.3.4.3 हृदय सहित
9.3.5 पाठ-सार
9.3.6 शब्दावली
9.3.7 बोध प्रश्न
9.3.8 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

9.3.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ 'रस और साधारणीकरण' तथा 'सहृदय की अवधारणा' पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के आलोक में 'रस बोध' और 'रसात्मक प्रतीति' की व्याख्या कर सकेंगे।
ii. रस के निहितार्थ साधारणीकरण के विभिन्न मतों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iii. सहृदय की अवधारणा का विवेचन कर सकेंगे।

9.3.1 प्रस्तावना

हिन्दी काव्य-चिन्तन तथा समीक्षा के प्रतिमान कालक्रमानुसार न केवल परिवर्तित हुए अपितु अपनी पूर्ववर्ती समीक्षा परम्परा के गुणसूत्रों के साथ विकसित हुए। इस आलोक में रस सिद्धान्त यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में प्राचीनतम सिद्धान्त है तथापि इसे व्यापक प्रतिष्ठा बाद में प्राप्त हुई। यही कारण है कि अलंकार सिद्धान्त को रस सिद्धान्त से प्राचीन माना जाने लगा। रस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि (200 ई.पू.) माने जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन किया तथा रससूत्र प्रस्तुत किया। उनके अनुसार – "जिस प्रकार अनेक व्यंजनों और औषधियों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।"

जैसे गुड़ आदि द्रव्यों तथा औषधियों आदि से षट् रस उत्पन्न होते हैं वैसे ही अनेक भावों के उपगत होने से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है। रस बोध और रस प्रतीति के निहितार्थ साधारणीकरण का सिद्धान्त व सहृदय की अवधारणा समझना आवश्यक है। चूँकि, साधारणीकरण के बिना रसानुभूति हो ही नहीं सकती इसलिए रस निष्पत्ति को साधारणीकरण के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

9.3.2 रस बोध और रसात्मक प्रतीति

भारतीय विचारक यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य 'अभाव' का नहीं, बल्कि 'स्वभाव' का आकांक्षी है और यह लक्षित स्वभाव नित्य, निरतिशय तथा आनन्दमय है। भारतीय चिन्तकों ने प्रायः इसी अवधारणा को केन्द्र में रखकर व्यवहार, परमार्थ तथा काव्य के लगभग सभी दिशाओं में मनन किया है। यही वजह है कि व्यवहार और शास्त्र के अतिरिक्त 'काव्य' में जिन भारतीय विचारकों ने 'रस' की महत्ता को प्रतिष्ठित किया है, वह सब अकारण नहीं है। इसी को तैत्तिरीय उपनिषद् में 'रसो वै स:' कहा गया है। इस प्रकार काव्य द्वारा होने वाला रसात्मक बोध स्वभाव बोध ही प्रतीत होता है। रसात्मक बोध के लिए 'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित है –

यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैभ: व्यंजनैरोषधिभिश्चस षाडवादय: रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता: अपि स्थायिनो भावा रसत्वामाप्नुवन्ति इति।

अभिप्राय यह कि जिस प्रकार व्यंजन, औषधि तथा द्रव्य (गुड़) से संस्कृत भोज्य पदार्थगत षाडव आदि रस निष्पन्न होते हैं उसी प्रकार विभावादि से उपगत होकर भी स्थायी भाव रस-रूपता प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न को खाता हुआ निर्मल चेतस् पुरुष रस का आस्वादन करता है और हर्ष आदि का भी अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार नाना भाव व अभिनय से व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय से युक्त स्थायीभाव का प्रेक्षक रस रूप में आस्वाद ग्रहण करता है तथा उसे हर्ष आदि की अनुभूति भी होती है।

एक दीर्घ अन्तराल के बाद नाट्यशास्त्र के टीकाकारों ने अलग-अलग दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में 'रस बोध' का स्वरूप निर्देशन आरम्भ किया। भरत-कृत नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट रसबोध का स्वरूप दार्शनिक छाया से पूरी तरह युक्त है। उनके अनुसार रसना और आस्वाद का फल है – 'हर्षादींश्च'। अभिनव गुप्त का कहना है – 'हर्षांश्चा'। 'रसबोध' के स्वरूप के सम्बन्ध में दशाधिक मतों को संकेत हमें 'लोचन' और 'रसगंगाधर' में भी मिलता है। इनमें केवल लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त आदि जैसे विचारकों के मतों की ही व्याख्या सविस्तार की जाती है जो दार्शनिकता से रंजित हैं। रस बोध के सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं, यथा –

1. भरत नाट्य के सन्दर्भ में रस बोध की चर्चा करते हैं।
2. भामह दृश्य-श्रव्य सामान्य या विशेषतः श्रव्य काव्य के सन्दर्भ में रस बोध की व्याख्या करते हैं।
3. भट्ट लोल्लट मुख्यतः रस की स्थिति या उत्पत्ति लोक में मानते हैं परन्तु गौण रूप से सहृदय पाठक या प्रेक्षक में स्वीकार करते हैं।
4. पण्डितराज ने रसबोध का स्वरूप शांकर, अद्वैत तथा पातंजलि दर्शन के आलोक में स्पष्ट किया है। उनके अनुसार सहृदयता सहकृत भावना विशेषवश विभावादि की समुदित प्रतीति से एक अलौकिक व्यापार का आरम्भ होता है। यह बोध अन्तःकरण की वृत्तिस्वरूप नहीं है बल्कि उससे अवच्छिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप है।
5. शंकुक के अनुसार रस बोध प्रत्यक्ष दृष्ट होकर भी उतना आस्वादकर नहीं हो सकता जितना कवि द्वारा अनुप्रयुक्त शब्द द्वारा ज्ञात होकर, शब्द की अभिधा शक्ति से ज्ञात होकर उतना चामत्कारिक नहीं हो सकता जितना काव्योपयोगी अनुमिति की प्रक्रिया से।
6. मम्मट ने बौद्ध योगाचार दर्शन का सहारा लेकर रस बोध के स्वरूप को और निखारने की कोशिश की है। उनके अनुसार जिस प्रकार योगाचार ज्ञान को आकारवान् मानते हैं तथा जैसे वहाँ ज्ञान और उसका आकार अभिन्न हैं, वैसे ही आवरण भंग होने से प्रकाशमय आत्मा अपने ही स्वरूप आनन्द को स्वाकारवत् अभिन्न बनाता है।
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस बोध को हृदय की मुक्त दशा के रूप प्रतिष्ठित करते हैं।
8. डॉ॰ नगेन्द्र रसबोध को संवेगों का व्यवस्थीकरण मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने रस बोध को व्यापक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से जोड़ दिया है।

रस बोध का विषय जटिल और प्रदीर्घ है। जहाँ प्राचीन आचार्य 'रस' की विवेचना आत्मवादी दार्शनिक भूमिका पर करते हैं, वहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विचारक रस की व्याख्या मनोविज्ञान के सन्दर्भ में करते हैं और उसकी परिधि मनोमय कोश तक ही सीमित करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार काव्य की प्रक्रिया में जहाँ रसयिता व्यक्तिगत भावभूमि से ऊपर उठकर लोक सामान्य की भावभूमि पर अधिष्ठित रहता है। वहाँ पार्यन्तिक प्रतीति में उद्वेग का अनुभव नहीं होता। उद्वेगमय प्रतीति का कारण हृदय या चेतना की बद्ध दशा है। आचार्य शुक्ल रसात्मक प्रतीति की दो शर्तें स्वीकार

करते हैं – पहली, व्यक्तित्व का विलयन या विगलन तथा दूसरी, सामग्री का साधारणीकरण। आचार्य शुक्ल प्रकृति और मानव के बीच स्थित राग को भी स्थायी और उसकी परिणत दशा को रस मानते हैं, इसलिए विभाव-विचार के सन्दर्भ में वे प्रत्यक्ष रूप विधान की भी व्याख्या करते हैं।

9.3.3 रस और साधारणीकरण

रस सिद्धान्त के आलोक में भारतीय चिन्तन के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उसने अपने विचार एवं व्यवहार की लम्बी साधना प्रक्रिया में 'स्वन-भाव' का अन्वेषण कर लिया है। भारतीय मानव चिन्तन, साहित्य और परम्परा में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, शाश्वत सुख चाहता है और ऐसा शाश्वत सुख चाहता है जिसमें व्यवधान न हो। वस्तुतः यही 'स्व-भाव' का मूल है तथा हमारा सम्पूर्ण विकास इसी 'स्व-भाव' की ओर जाने में है। रस और साधारणीकरण की सैद्धान्तिक प्रक्रिया एवं व्यवहार के मूल में भी प्रायः यही भाव निहित है। साधारणीकरण रसास्वाद की प्रक्रिया से पृथक् नहीं है अपितु उससे जुड़ा हुआ है। इस प्रक्रिया से गुजरने पर ही सुमनस्क प्रेक्षक रसास्वाद तक पहुँचने में समर्थ हो पाता है।

9.3.3.1 साधारणीकरण का अभिप्राय

साधारणीकरण का अभिप्राय है – 'सामान्यीकरण'। काव्य का विषय जब साधारण या सामान्य-सा प्रतीत होने लगता है तथा उसके विशेषत्व का पूरी तरह से उन्मूलन हो जाता है तो इस प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहते हैं। साधारणीकरण एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया की आवश्यकता केवल सामाजिक में 'रस' की मुख्यतः स्थिति मानने वालों को ही है। साधारणीकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम भट्ट नायक ने किया। भरत मुनि के रस सूत्र की व्याख्या करते समय उन्होंने एक नए सिद्धान्त 'साधारणीकरण' का प्रतिपादन किया। 'साधारणीकरण' की अर्थगत एवं भावगत विशिष्टताएँ निम्नलिखित हैं –

1. साधारणीकरण रस निष्पति की अवधारणा से अभिन्न एक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक व मनोवैज्ञानिक पहलू है।
2. साधारणीकरण के अभाव में रस एवं काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति सम्भव नहीं है।
3. साधारणीकरण की स्थिति में काव्य में वर्णित स्थायी भाव, विभावादि विशेष न होकर सामान्य प्रतीत होने लगते हैं।
4. विभावादि का अपने-पराये की भावना से मुक्त हो जाना साधारणीकरण है।
5. साधारणीकरण काव्य की अनुभूति का होता है।

9.3.3.2 आचार्य भट्टनायक का मत

'साधारणीकरण' सिद्धान्त के प्रणेता आचार्य भट्ट नायक के अनुसार साधारणीकरण शब्द 'च्वि' प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ है, 'अभूततद्भाव' यानी 'जो पहले जैसा नहीं था वैसा हो जाना।' 'साधारणत्व'

साधारण में हो सकता है लेकिन 'साधारणीकरण' केवल असाधारण का ही हो सकता है । साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए भट्ट नायक कहते हैं –

भावकत्वरसाधारणीकरणं । तेनहि व्यापारेण विभावादय: स्थायी च साधारणी क्रियन्ते ।

अर्थात् भावकत्व ही साधारणीकरण है तथा इस व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है । यहाँ विभावादि में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव सभी शामिल हैं । इस प्रकार विभावादि जब विशेषत्व से स्वतन्त्र होकर सामान्य-से प्रतीत होने लगते हैं, तब उसे साधारणीकरण कहते हैं ।

आचार्य भट्टनायक शब्द रूप काव्य के तीन रूप स्वीकार करते हैं – (i) अभिधा व्यापार, (ii) भावकत्व व्यापार तथा (iii) भोजकत्व व्यापार । इनमें से भावकत्व ही साधारणीकरण है । उदाहरणार्थ साधारणीकरण से पहले पाठक या दर्शक को सीता-राम, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि की अनुभूति व्यक्ति विशेष के रूप में ही होती है लेकिन साधारणीकरण के उपरान्त उपर्युक्त विशेष पात्र केवल नायक-नायिका मात्र रह जाते हैं । कुल मिलाकर साधारणीकरण में उनके विशेषत्व का परिहार हो जाता है ।

9.3.3.3 आचार्य अभिनवगुप्त का मत

आचार्य अभिनव गुप्त साधारणीकरण की आवश्यकता समझते हैं और मानते हैं । वे आचार्य भट्ट नायक से कई बिन्दुओं पर सहमत नहीं हैं । उदाहरण के लिए भट्ट नायक जिस 'अभिव्यक्ति' पक्ष से सहमत नहीं हैं, अभिनव गुप्त उसी का समर्थन करते हैं । 'साधारणीकरण' का भावाशय स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त लिखते हैं –

यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्ध बलादत्यन्तमपसरणे, स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति ।

'साधारणीकरण' की सैद्धान्तिक व्याख्या करते हुए उन्होंने महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है । यथा –

1. भट्ट नायक द्वारा स्वीकृत भावना और भोग नामक दोनों व्यापारों की कल्पना अभिनव आवश्यक मानते हैं और दोनों का अन्तर्भाव व्यंजना में कर लेते हैं ।
2. विभावादि का ही साधारणीकरण नहीं होता अपितु स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है ।
3. स्थायी भाव के साधारणीकरण का मतलब है देशकाल के बन्धनों से मुक्ति । इस प्रकार साधारणीकरण की स्थिति में विशेषत्व का अभाव हो जाता है ।
4. साधारणीकरण की अवस्था में भाव की अनुभूति तो होती है लेकिन वह भाव किसका है, इसका कोई ध्यान नहीं रहता । इस प्रकार विभावादि का ममत्व और परत्व की भावना से पृथक् हो जाना ही साधारणीकरण है ।

5. साधारणीकरण के दो स्तर हैं – पहले स्तर पर विभावादि का व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है जबकि दूसरे स्तर पर सामाजिक का व्यक्तित्व बन्धन नष्ट हो जाता है।
6. विभावादि और स्थायी भाव के साधारणीकरण के साथ-साथ सामाजिक की अनुभूति का भी साधारणीकरण हो जाता है।

9.3.3.4 आचार्य विश्वनाथ का मत

अभिव्यक्तिवाद के विपक्ष में आचार्य विश्वनाथ ने भट्ट नायक की आपत्तियों का निराकरण बहुत ही सरल एवं तार्किक ढंग से किया है –

व्यापारोस्ति विभावादेर्नाम्नासाधारणीकृतिः।
यत्प्रभावेण स्यासन् पाथोथिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मासनं प्रतिपद्यते।

आचार्य विश्वनाथ इस मान्यता को स्थापित करते हैं कि विभावादि सामग्री संकोचक देशकाल, वातावरण आदि के सम्बन्धों से अपरिच्छिन्न रूप में प्रतीत होती है –

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च, तदास्वादे विभावादे परिच्छेदो व विद्यते।

यानी विभावादि का अपने-पराये की भावना से मुक्त हो जाने की प्रक्रिया ही साधारणीकरण है। विभावादि के सम्बन्ध में 'ये मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं', 'दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं', इस प्रकार का विशेषण अनुपस्थित रहता है। आचार्य विश्वनाथ के मत से सहृदय सामाजिक का काव्य में वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है और इसी तादात्म्य बोध के कारण सामाजिक अपने को आश्रय से अभिन्न स्वीकार करने लगता है।

आचार्य विश्वनाथ विशेषीकरण के समापन की स्थिति को साधारणीकरण की स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार आश्रय, आलम्बन, विभावादि, स्थायी भाव आदि सब साधारणीकृत हो जाते हैं। इस प्रकार वे सामाजिकों के चित्त का भी साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। हिन्दी साहित्य के रस विषयक अनुशीलन में 'तादात्म्य' संक्रमण इसी स्रोत से हुआ।

9.3.3.5 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मूलतः रसवादी हैं लेकिन उनका रसवाद परम्परा से कुछ हटकर है। परम्परावादी रस चिन्तन की व्याख्या व विवेचन में जहाँ प्रस्थान बिन्दु वासना-वासित-हृदय-सहृदय है, वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रस्थान बिन्दु विषयवद्ध आश्रय या लौकिक पात्र हैं। 'चिन्तामणि' तथा 'रस-मीमांसा' में साधारणीकरण के आलोक में प्रस्तुत आचार्य शुक्ल के विचारों को निम्नलिखित बिन्दुओं में परिगणित किया जा सकता है –

1. साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।
2. विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि रसमग्न, पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि वे आलम्बन मेरे हैं या दूसरे के।
3. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में सामने नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस प्रकार विषय का इस रूप में लाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।
4. काव्य का सन्दर्भ व विषय हमेशा विशेष रहता है, सामान्य नहीं। वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।
5. साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष आता है, वह जिस प्रकार आश्रय के भाव का आलम्बन होता है वैसे ही अन्य सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव या आलम्बन हो जाता है।
6. व्यक्ति तो हमेशा विशेष ही रहता है परन्तु उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सभी हृदयों के मन में एक ही भाव का उदय कम या अधिक होता है।
7. उत्तम कोटि की रसानुभूति वहाँ होती है जहाँ सहृदय सामाजिक का तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है जबकि मध्यम कोटि की रसानुभूति वहाँ होती है जहाँ सामाजिक काव्य में वर्णित आश्रय का शीलद्रष्टा होता है।

9.3.3.6 बाबू श्यामसुन्दरदास का मत

साधारणीकरण की सैद्धान्तिक व्याख्या करते हुए बाबू श्यामसुन्दरदास ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत की आलोचना की है। इस सम्बन्ध में अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि साधारणीकरण वस्तुतः सहृदय सामाजिक के चित्त का होता है। उनके अनुसार साधारणीकरण की व्याख्या 'मधुमती भूमिका' से की जा सकती है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दरदास की व्याख्या में निहित महत्त्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं –

1. चित्त का एकता और एकलय होने की दशा को साधारणीकरण कहते हैं। इसी के परिणामस्वरूप आलम्बन, व्यक्ति सम्बन्धों से स्वतन्त्र होकर सामान्य किंवा साधारण प्रतीत होने लगता है।
2. चिन्तन की दो दशाएँ होती हैं – (i) वितर्क दशा और (ii) निर्वितर्क दशा।
3. वितर्क दशा में चित्त को वस्तु, वस्तु के सम्बन्ध और वस्तु के ज्ञान सम्बन्धी इन तीनों की अलग-अलग प्रतीति होती है। इसी को शब्द, अर्थ और ज्ञान भी कहते हैं।
4. निर्वितर्क दशा में केवल वस्तु की प्रतीति होती है न कि वस्तु के सम्बन्ध और सम्बन्धी की।
5. मधुमती की भूमिका में पहुँचा हुआ चित्त निर्वितर्क दशा में होता है और उसे केवल वस्तु की ही प्रतीति होती है। साधारणीकरण की तुलना इसी मधुमती भूमिका से की जा सकती है। उदाहरण के लिए, जब सामाजिक का चित्त साधारण की दशा में पहुँच जाता है तब उसे पुत्र की प्रतीति केवल पुत्र के रूप में होती

है, वह किसका पुत्र है, उसका किससे सम्बन्ध है, यह प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन होगा।

बाबू श्यामसुन्दरदास की दृष्टि विषय की अपेक्षा विषयी की ओर अधिक केन्द्रित है। वे सहृदय के चित्त का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। बाबू गुलाबराय ने श्यामसुन्दरदास के साधारणीकरण सम्बन्धी सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए कहा है कि इसमें कोई संशय नहीं है कि रसानुभूति की दशा में सहृदय का चित्त एकतान और एकलय हो जाता है और उसमें अपने-पराये का भेद मिट जाता है किन्तु इस मत में काव्य का विषय पूर्णतः उपेक्षित हो जाता है साथ ही यह भी सन्देह उत्पन्न होता है कि साधारणीकरण होने से चित्तवृत्ति एकतान और एकलय होती है अथवा इसके विपरीत होता है।

9.3.3.7 पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी का मत

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी ने साधारणीकरण की सैद्धान्तिक व्याख्या की है। उनका मानना है कि –

1. भट्ट नायक का साधारणीकरण सिद्धान्त केवल काव्य के सामर्थ्य का व्याख्या न करके दर्शक के सामर्थ्य का भी आख्यान करता है।
2. साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है।
3. साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है और इसमें किसी पात्र विशेष का महत्त्व नहीं होता है।

9.3.3.8 डॉ॰ नगेन्द्र का मत

डॉ॰ नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त' में साधारणीकरण पर पर्याप्त विचार किया है। उन्होंने पूर्व निष्पादित सभी मतों से भिन्न अपना स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार साधारणीकरण वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का होता है। जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह सबके हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति विद्यमान है। चूँकि कवि को लोक हृदय की पहचान होती है इसलिए वह किसी विषय को इस रूप में प्रस्तुत करता है जिससे कि सबके हृदय में अनुभूति जगा सके।

प्रायः जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है और कवि की मानसी सृष्टि है। इस प्रकार आलम्बन के साधारणीकरण का अर्थ है – "कवि की अनुभूति का साधारणीकरण।" इस प्रकार डॉ॰ नगेन्द्र एक मायने में भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के मतों की संपुष्टि करते हैं।

इस प्रकार साधारणीकरण के सन्दर्भ में प्रस्तुत सभी विचार एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। यह निश्चित है कि साधारणीकरण के बिना रसानुभूति नहीं हो सकती।

9.3.4 सहृदय की अवधारणा

काव्य का भरपूर आस्वाद 'सहृदय' ही ग्रहण कर सकता है। काव्य की उपादेयता एवं चरितार्थता सहृदय के हृदय पर ही रचयिता की अनुभूति से संवाद द्वारा प्रकट होती है। दोनों के पार्थक्य बोधक (देश, काल एवं वैयक्तिक सम्बन्ध) उनके एकीभूत चेतना पटल से विगलित हो जाते हैं। इसी कारण आस्वाद को 'विगलित वेद्यान्तर' भी कहा जाता है। 'सहृदय' शब्द का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है –

सहृदयं साम्मनस्यमदिवेषं कृणोमि।

अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद में रस सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। बाद में काव्य-चिन्तकों ने इसके अनेक पर्याय जैसे सुमनस्, सचेतस् आदि प्रस्तुत किए हैं। हालाँकि, प्रयोग में स्थिर 'सहृदय' ही रहा है और व्याख्याकारों ने 'सहृदय' का अर्थ 'समान-हृदय' दिया है। 'समान' के अर्थ में 'स' का विधान आर्ष है। कहा गया है कि –

नायकस्यस कवे: श्रोतु: समानो अनुभवस्ततः।

यानी नायक तो कवि की सृष्टि है। अतः समानता रचयिता और उपभोक्ता के हृदयों की है। क्योंकि, हृदय समान होगा तो अनुभव भी समान होगा और अनुभव का समान होना ही संवाद है, सम्प्रेषण है। प्रायः यह कहा जाता है कि रचनाकार तो रचना करता ही है, साथ ही उपभोक्ता भी अपनी दृष्टि से मूल रचना की पुनः सृष्टि करता है इसलिए रचयिता के हृदय के समान ही यदि उपभोक्ता का सहृदय वाला है तो समान 'सृष्टि' होगी। इस आलोक में आनन्दवर्धन कहते हैं –

तदवत् सचेतसां सो अर्थो वाच्योर्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येमवावभासते॥

सहृदय का झुकाव वाच्यार्थ पर नहीं होता अपितु उसकी तत्त्वग्राहिणी बुद्धि में होता है। उसको ग्रहण करने वाली बुद्धि में प्रतीयमान अर्थ शीघ्र स्फुरित हो जाता है। आनन्दवर्धन के कथन में यह तथ्य उभरता है कि सहृदय की बुद्धि में वही अर्थ प्रतिभाषित होता है जो रचयिता के बोध में रहकर रचना की सृष्टि करता है। इस प्रकार सहृदय की सबसे मार्मिक व्याख्या आनन्दवर्धन करते हैं तथा शब्दों की चारुता के निहितार्थ सहृदय को प्रतिष्ठित करते हैं। वस्तुतः काव्य के अन्तर्तत्त्व 'चारुता' को पकड़ लेने की क्षमता ही सहृदयता है। सहृदयता में चारुता काव्य या रचना की वाचकता और लाक्षणिकता के कारण नहीं आती बल्कि इन दोनों से अतिरिक्त व्यंजकता के कारण आती है। अतः जहाँ-जहाँ व्यंजकता होगी, वहाँ-वहाँ चारुता अवश्य होगी। कालान्तर में अभिनव गुप्त ने 'चारुता' पर भिन्न-भिन्न कोणों से प्रकाश डाला है। ये कोण हैं – चिति, चेत्य और चित्त।

चिति के कोण से देखा जाए तो सहृदयता का अभिप्राय है – 'स्वहृदय-संवाद-भाजकता'। चेत्य पक्ष के आलोक में सहृदयता का स्वरूप है – 'वर्णनीयतन्मीयभवनयोग्यता' और चित्त के कोण से देखा जाए तो सहृदयता

का अर्थ – 'तादात्म्य समापत्तियोग्यता' होता है। सहृदय की विवेचना हेतु सहृदयतायुक्त, समान हृदय और हृदय सहित की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है।

9.3.4.1 सहृदयता

जो दर्शक, प्रेक्षक या श्रोता रसास्वादन के निहितार्थ अपने हृदय को संवाद के क्षेत्र में प्रमाण रूप से मानता हो, मनन करता हो, वह सहृदय कहलाता है। उसकी यही क्षमता सहृदयता है। दूसरे शब्दों में जो अपने हृदय का कवि हृदय के साथ संवाद स्थापित कर लेता है, उसे सहृदय माना जा सकता है। यहाँ 'जो' पर विशेष बल परिलक्षित होता है। क्योंकि, चेत्य या विषय पक्ष पर बल देकर व्याख्या की जाय तो काव्य की प्रस्तुत वर्ण्य सामग्री भावना से ऊपर उठकर चेतना पर छा जाती है और वह पूरी तरह से तन्मय हो जाती है।

9.3.4.2 समान हृदय

'समान हृदय' सहृदयता की वह योग्यता है जिससे उसमें वर्ण्य से चित्त की तन्मयता शीघ्र स्थापित हो जाती है। समान हृदय का सम्बन्ध प्रेषक और प्रेषता की चेतना में समान प्रतिभासित होता है। वाच्यार्थ बोध कोई जटिल प्रक्रिया नहीं है। इसकी अनुभूति सभी करा देते हैं लेकिन शब्दनिष्ठ व्यंजकता समान हृदय में ही सम्भव है।

9.3.4.3 हृदय सहित

सहृदय में 'हृदय' शब्द की अभिधा शैली दृष्टि में 'विमर्श' में स्वीकार की गई है। रसज्ञ सहृदय जिस क्षण रसास्वाद में निमग्न रहता है, उस समय चिति का प्रकाशांश वेद्य-विश्रान्त रहता है और विमर्शांश उद्रिक्त रहता है। 'विमर्श' या 'हृदय' के उदग्र रहने से यही उसकी पहचान बन जाती है। उद्रिक्त विमर्श नामक हृदय से युक्त होने के कारण उसे 'सहृदय' कहा जाता है। 'सहृदय' में 'हृदय' का लाक्षणिक अर्थ भी लिया जाता है। जिसके हृदय में उत्कर्ष हो वही 'सहृदय' है। हृदयगत इस उत्कर्ष के आधान में पाँच कारणों का उल्लेख किया गया है –

1. सुकुमारता : चित्तगत सुकुमारता का आशय उस क्षमता से है जिसकी वजह से परकीय सुख-दु:ख स्वकीय बन जाता है।
2. काव्यानुशीलन : काव्य अनुशीलन की प्रक्रिया में परकीय सुख-दु:ख में तल्लीन होने की क्षमता उत्कृष्ट रूप में हृदय में उभर आती है।
3. प्राक्तन-पुण्य-परिपाक : यह हृदयगत उत्कर्ष का यह तृतीय चरण है।
4. विमल प्रतिमानशीलता : यह हृदयगत उत्कर्ष का चतुर्थ चरण है।
5. हृदय नैर्मल्य : यह हृदयगत उत्कर्ष का पंचम एवं अन्तिम चरण है।

उपर्युक्त पाँच कारणों से व्यक्ति का हृदय उत्कृष्ट हृदय हो जाता है यानी उसके हृदय में उत्कर्ष का आधान हो जाता है और यही उत्कृष्ट हृदय वाला व्यक्ति सहृदय है।

9.3.5 पाठ-सार

प्रत्येक मनुष्य भाव-तादात्म्य द्वारा अपनी अनुभति क्षेत्र के क्षेत्र को व्यापक बनाना चाहता है । वह भेद-विभेद, अनेकत्व को मिटाकर अभेद-एकत्व की स्थापना करना चाहता है । एकत्व स्थापन की वृत्ति ही रस की सैद्धान्तिक विवेचना के अन्तर्गत साधारणीकरण की आधारशिला है । विभावादि का साधारणीकरण हो जाने के उपरान्त सामाजिक के हृदय में स्थित स्थायी भाव भी साधारणीकृत हो जाता है । यही रसाभिव्यक्ति की दशा है ।

9.3.6 शब्दावली

रस	:	आनन्द
साधारणीकरण	:	सामान्यीकरण
निष्पत्ति	:	अभिव्यक्ति
चारु	:	सुन्दर
आलम्बन	:	आधार
मनोमय कोश	:	मानसिक दशा

9.3.7 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. "भावकत्व ही साधारणीकरण है ।" यह मत किसका है ?
   (क) भरतमुनि
   (ख) अभिनव गुप्त
   (ग) भट्ट नायक
   (घ) भट्ट लोल्लट

2. "विभावादि का ममत्व और परत्व की भावना से अलग हो जाना ही साधारणीकरण है ।" यह विचार है –
   (क) अभिनव गुप्त का
   (ख) शंकुक का
   (ग) रामचन्द्र शुक्ल का
   (घ) इनमें से कोई नहीं

3. रस सिद्धान्त किसकी रचना है ?
   (क) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
   (ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ग) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
(घ) डॉ॰ नगेन्द्र

4. सहृदय का अभिप्राय है –
   (क) विशाल हृदय
   (ख) उत्कृष्ट हृदय
   (ग) संकुचित हृदय
   (घ) विशेष हृदय

5. काव्य का भरपूर आस्वाद कौन प्राप्त कर सकता है ?
   (क) सहृदय
   (ख) हृदयरहित
   (ग) दोनों
   (घ) इनमें से कोई नहीं

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. साधारणीकरण से क्या अभिप्राय है ?
2. काव्यानुशीलन के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
3. साधारणीकरण के सम्बन्ध में डॉ॰ नगेन्द्र के मत पर प्रकाश डालिए।
4. "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।" स्पष्ट कीजिए।
5. साधारणीकरण के सन्दर्भ में आचार्य अभिनव गुप्त के मत की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "साधारणीकरण वह प्रक्रिया है जो रसास्वादन के पूर्व सहृदय के चित्त में घटित होती है।" विवेचना कीजिए।
2. सहृदय की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

9.3.8 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शर्मा, देवेन्द्रनाथ, काव्य के तत्त्व, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. सुधांशु लक्ष्मीनारायण, काव्य में अभिव्यंजनावाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
3. त्रिपाठी, डॉ॰ राममूर्ति, भारतीय काव्यशास्त्र : नई व्याख्या, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
4. चौधरी, सत्यदेव, भारतीय काव्यशास्त्र, अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली

5. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, भारतीय काव्यशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
6. त्रिपाठी, राधावल्लभ, भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 9 : रस सिद्धान्त

इकाई – 4 : काव्य की आत्मा और रस, रस की सुख-दु:खात्मकता

इकाई की रूपरेखा

9.4.0 उद्देश्य कथन
9.4.1 प्रस्तावना
9.4.2 काव्यानुशासन एवं काव्यानुशीलन
- 9.4.2.1 काव्य का स्वरूप
- 9.4.2.2 काव्य-विषय एवं काव्य-भाषा
- 9.4.2.3 काव्यानुशासन एवं काव्यानुशीलन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

9.4.3 रस-चिन्तन और रस-विवेचन का वस्तुगत आधार
9.4.4 काव्य की आत्मा और रस
9.4.5 रस की सुख-दु:खात्मकता
9.4.6 पाठ-सार
9.4.7 शब्दावली
9.4.8 बोध प्रश्न
9.4.9 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

9.4.0 उद्देश्य कथन

काव्य की आत्मा के सवाल पर मतैक्य का अभाव है। इस सम्बन्ध में काव्य-चिन्तकों ने निर्माण की दृष्टि से तो विचार किया ही है, साथ ही ग्रहण की दृष्टि से भी पर्याप्त चिन्तन-मनन हुआ है। प्रस्तुत पाठ 'काव्य की आत्मा और रस' तथा 'रस की सुख-दु:खात्मकता' पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. काव्यानुशासन एवं काव्यानुशीलन के सन्दर्भ में काव्य का स्वरूप, काव्य-विषय, काव्य-भाषा तथा काव्यानुशासन एवं काव्यानुशीलन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे।
ii. रस चिन्तन और रस विवेचन के वस्तुगत आधार को समझ सकेंगे।
iii. काव्य की आत्मा और रस के सहसम्बन्धों की व्याख्या कर सकेंगे।
iv. रस की सुख-दु:खात्मककता का विवेचन कर सकेंगे।

9.4.1 प्रस्तावना

भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा या सारसत्ता अथवा केन्द्रीय तत्त्व पर विचार करते हुए जिन पक्षों को सामने रखा है, उन्हें काव्य आत्मवाद सम्बन्धी चिन्तन की परिधि में समझा और व्याख्यायित किया जा सकता है। वस्तुतः काव्य 'उक्ति विशेष' का नाम है। ऐसी 'उक्ति विशेष' जिसमें सौन्दर्य हो, चारुता हो तथा प्रभावित

करने की रसात्मक क्षमता हो। यह सौन्दर्य अथवा चारुता ही काव्य का सार तत्त्व है और इसी से संवलित 'उक्ति विशेष' काव्य है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों ने निर्माण की दृष्टि से जो विचार किया है, उसके परिणामस्वरूप अलंकार, गुण और वक्रता के मतवाद का विकास हुआ है। वहीं ग्रहण की दृष्टि से विचार करने वाले काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि और रस के वाद को जन्म दिया है। हालाँकि, मूल सवाल काव्य की आत्मा का है। इस सन्दर्भ में पौर्वात्य-पाश्चात्य, प्राचीन-अर्वाचीन सभी आचार्य काव्य अथवा कला का मूल तत्त्व 'सौन्दर्य' को मानते हैं और सौन्दर्य का निर्धारक निकष है, 'आह्लाद'। और रस आह्लाद ही तो है। इस प्रकार सारा का सारा काव्य-चिन्तन अन्ततः 'रस' पर आकर केन्द्रित हो जाता है।

9.4.2 काव्यानुशासन एवं काव्यानुशीलन

काव्यानुशासन व काव्यानुशीलन के सन्दर्भ में निर्माण की दृष्टि से विचार किए जाने पर विभिन्न वादों में 'वक्रोक्तिवाद' और ग्रहण करने की दृष्टि से प्रादुर्भूत मतों में 'रसध्वनिवाद' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यदि काव्य की उपमा जैसा कि अभिनव गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि बीज, वृक्ष और फलात्मक परिणति से दी जाए तो यह सहज ही परिलक्षित होता है कि पूरे काव्य का अस्तित्व ही कवि के हृदय से लेकर शब्दात्मक अनुशासन द्वारा सहृदयगत रसात्मक परिणति तक व्याप्त है और रस के विविध अवयव समन्वित होकर ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। काव्य का स्वरूप और उसकी व्याप्ति का संज्ञान होने पर लक्षणा द्वारा उसके किसी खण्ड में उसकी स्थिति मानी जा सकती है। काव्यात्मा के इस व्यापक रूप में 'कवि व्यापार' और 'रसात्मक परिणति' दोनों की ही अनुभूति महत्त्वपूर्ण है। ध्वनि-रसवादी और वक्रोक्तिवादी दोनों ही इस तथ्य से सहमत हैं कि आह्लादमय दशा से ही काव्य की उत्पत्ति होती है और आह्लाद ही में उसकी परिणति होती है।

9.4.2.1 काव्य का स्वरूप

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुसार अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। बाह्य जीवन और जगत् के फलस्वरूप जिस भाव जगत् का निर्माण होता है, वही काव्य में अपनी केन्द्रीय भूमिका रखता है। इसलिए काव्य में ऐसे भावों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए जो सार्वभौमिक एवं शाश्वत हों। भावों का वैविध्य काव्य-विवेचन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। भावों के वैविध्य का अर्थ है, 'मानव जीवन को कविता में उसकी समग्रता में प्रस्तुत करना।' ऐसा तभी सम्भव है जब साहित्यकार बाह्य जीवन के अधिकाधिक सम्पर्क में रहे तथा मनुष्य की प्रकृति तथा स्वभाव से पूर्णतः परिचित हो।

परम्परा से काव्य के सम्बन्ध में चिन्तन करने वाले कवि और विचारक इस बात को कहते आए हैं कि काव्य को किसी भी प्रकार की परिभाषा में बाँध सकना सम्भव नहीं है क्योंकि उससे काव्य के स्वरूप और विकास की दिशाएँ अवरुद्ध और सीमित हो जाती हैं। नई कविता के कवियों, समीक्षकों और विचारकों की भी यही स्थिति है। यद्यपि बदलते सन्दर्भों में काव्य के स्वरूप को व्याख्यायित करने और समकालीन कविता को समझने के लिए आधुनिक काव्य-चिन्तकों द्वारा काव्य को परिभाषाओं में समेटने का व्यापक पैमाने पर प्रयास नहीं हुआ है तथापि

कतिपय उल्लेखनीय प्रयास अवश्य हुए हैं। उदाहरणार्थ जगदीश गुप्त काव्य के स्वरूप पर अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि "मैं कविता को मानवीय चेतना की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप मानता हूँ, उसे मनुष्य मात्र की मातृभाषा कहा गया है। जीवन के गहन से गहन पहलुओं तक उसकी व्याप्ति है इसलिए जीवन की अतल गहराइयों में होने वाले परिवर्तनों की छाया साहित्य में सबसे पहले कविता पर ही पड़ती है।" इसके अनुसार काव्य निश्चय ही मानवीय चेतना की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप है। वस्तुतः कविता हर युग में शब्दों, अर्थों, भावों और विचारों में एक नए संतुलन का परिचय देती रही है।

आन्दोलनधर्मी अतिवादिता को छोड़ दिया जाए तो काव्य के स्वरूप के विषय में आधुनिक काव्य-चिन्तन परम्परा भी पूर्ववर्ती विचारों से बहुत अलग नहीं हैं। फिर भी यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पूर्ववर्ती कविता से नए काव्य के स्वरूप के वैशिष्ट्य का जो प्रतिपादन अज्ञेय ने किया है, अनेक स्थलों पर वह बहुत सारगर्भित और मार्मिक है। उदाहरण के लिए परम्परागत काव्य-चिन्तकों ने जहाँ काव्य के स्वरूप विवेचन में रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है वहाँ अज्ञेय ने चमत्कार की बात कहकर वक्रोक्तिजन्य चमत्कार को मान्यता दी है।

9.4.2.2 काव्य-विषय एवं काव्य-भाषा

काव्य-विषय के चुनाव को लेकर प्रत्येक युग में रचनाकार तथा विचारकों की अपनी धारणाएँ रही हैं। प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि कुछ विशेष काव्य युगों में कविता कुछ विशिष्ट विषयों को लेकर ही सामने आती रही है ताकि उन विषयों से ऐसी संवेदना उत्पन्न की जा सके जो उस काव्य द्वारा आकांक्षित है। हिन्दी कविता ही नहीं, पाश्चात्य काव्य जगत् में भी कभी-कभी तो यहाँ तक निर्देश कर दिया जाता है कि कविता के लिए कौन-से विषय उपयुक्त हैं और कौन-से नहीं हैं।

यदि कवि में सच्ची काव्य प्रतिभा है तो वह सामान्य से सामान्य विषय को भी प्रभावशाली ढंग से अपनी कविता में प्रस्तुत कर सकता है। यही वजह है कि काव्य-विषयों के चयन में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे विचारक की दृष्टि जीवन के समूचे विस्तार और व्यापकता को महत्त्व देती है। द्विवेदीजी काव्य में जीवन और जगत् से सम्बन्धित किसी भी विषय की स्थिति को स्वीकार करते थे तथा किन्हीं खास विषयों तक कविता को सीमित कर देने को वे काव्य की क्षति मानते थे। उदाहरणार्थ द्विवेदीजी ने रीतिकालीन कविता का विरोध इसी आधार पर किया कि वह केवल शृंगार रस तक ही सीमित थी।

काव्य-विषयों और उनके मानवीय अनुभूतियों से जुड़े होने की अनिवार्य शर्त के साथ-साथ काव्यानुशीलन की परम्परा इस बात का भी आग्रह करती है कि केवल काव्य-विषयों का चुनाव अथवा अनुभूति से लगाव ही सार्थक कविता की सृष्टि नहीं कर सकता जब तक कि यह बात स्पष्ट न हो जाए कि आखिर जीवन के जिन प्रश्नों को अथवा चारों ओर फैले हुए मानव जीवन के जिन रूपों को कवि ने अपनी रचना का विषय बनाया है, उसके प्रति उसका अपना दृष्टिकोण क्या है। इस सन्दर्भ में रांगेय राघव ने ठीक ही कहा है कि किसी भी युग का

साहित्य तभी जनमानस में उतरता है जब वह जीवन का सांगोपांग चित्रण करता है। सृष्टि की मूल समस्या, समाज की मूल व्यवस्था, प्रकृति, व्यक्ति और समस्त वस्तुओं का चित्रण साहित्य के आधार क्षेत्र में है। इन सबका चित्रण जब भाव पक्ष से सान्निध्य स्थापित करता है तभी वह काव्य बनता है।

काव्यभाषा व्यापक शब्द है। कविता की भाषा काव्य के प्रतिपाद्य को, उसके भावों को, उसके अर्थ और उसके समूचे परिवेश को, पूरी प्राभाविक क्षमता के साथ उपस्थित करती है। काव्यभाषा ही काव्य के प्रभाव को दीर्घकाल तक स्थिर रखने में सक्षम है।

9.4.2.3 काव्यानुशासन एवं काव्यानुशीलन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

काव्यशास्त्र की सैद्धान्तिक विवेचना करते हुए अलंकारवादी विचारकों ने अलंकार को काव्यकी आत्मा स्वीकार करते हुए उसे काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया है। आचार्य भामह द्वारा प्रतिपादित अलंकार सिद्धान्त में 'अलंकार' को काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार करते हुए उसे काव्य की आत्मा कहा गया है। भामह के अनुसार अलंकार काव्य का प्राणतत्त्व है। वे वक्रोक्ति को अलंकार के मूल में स्वीकार करते हैं। दण्डी, उद्‌भट, भोज, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अलंकार को महत्त्व दिया है। अलंकारवादियों के अनुसार अलंकार काव्य को अलंकृत करने वाला केवल बाह्य तत्त्व ही नहीं है अपितु रस, ध्वनि, गुण, वक्रोक्ति आदि आन्तरिक तत्त्व भी इसके अन्तर्गत समाहित हैं।

रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्यात्मा स्वीकार नहीं किया है। वे अलंकार को एक ऐसा उपादान मानते हैं जो काव्य को केवल सुसज्जित करता है। उनके अनुसार अलंकार काव्य का आवश्यक तत्त्व तो हो सकता है, लेकिन अनिवार्य तत्त्व नहीं।

रस सम्प्रदाय के समर्थक आचार्यों में भरत मुनि, अभिनव गुप्त, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक आदि के नाम लिए जा सकते हैं। भरत मुनि के अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र के आधार पर ही परवर्ती आचार्यों ने रस के स्वरूप पर तथा रस की निष्पत्ति पर विचार किया है जिसके परिणामस्वरूप रस सम्प्रदाय का विकास हुआ। रस सम्प्रदाय में यह मत संस्थापित किया गया कि रस ही काव्य की आत्मा है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने रस विवेचन में अलौकिकता का समावेश किया। उनके अनुसार 'रति' आदि स्थायी भाव पाठक के अन्तःकरण में वासना या संस्कार के रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं जो विभावादि के संयोग से व्यंजनावृत्ति के अलौकिक व्यापार द्वारा 'रस' के रूप में सम्प्रेषित और अभिव्यक्त होते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में रस के परम्परागत विचारों का निरूपण किया है। उनके अनुसार सहृदयों के हृदय में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही विभावादि से संयुक्तहोकर रस रूप को ग्रहण करते हैं।

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन स्वीकार किये जाते हैं। यद्यपि काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द का प्रयोग वामन से पहले भी प्राप्त होता है परन्तु उसका व्यवस्थित स्वरूप और विस्तृत व्याख्या प्रथमतः वामन द्वारा ही प्रस्तुत की गई। आचार्य वामन विशेष प्रकार की पद रचना को रीति कहते हैं। 'विशिष्ट' को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'विशेषो गुणात्मा' यानी विशिष्टता गुण से आती है। काव्य में गुणात्मक पद रचना को रीति कहते हैं। गुणात्मकता से आचार्य वामन का अभिप्राय ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि काव्य गुणों से है। वे अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म मानते हैं जो काव्य की शोभा को अतिशय करने वाला तत्त्व है। वामन गुणों की सत्ता को काव्य हेतु व प्रयोजन में अनिवार्य तत्त्व मानते हैं किन्तु अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते हैं। आचार्य दण्डी जिसे अलंकार कहते हैं, वामन उसी तत्त्व को गुण कहते हैं। काव्यशास्त्रीय विवेचन में रीति सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय भी कहा जाता है। 'रीति' की व्यापकता के कारण आचार्य वामन 'रीति' को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवतम्' में वक्रोक्ति को काव्य का अनिवार्य व आवश्यक तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। किसी बात को सामान्य ढंग से व्यक्त करने में सरसता नहीं आती इसलिए उसे चामत्कारिक ढंग से या विलक्षणता से कहना ही वक्रोक्ति है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि सामान्य मनुष्यों द्वारा अपनाये गए मार्गों से अलग विलक्षणता या वक्रता का आशय लेता है। कथन की यह विलक्षण प्रस्तुति एवं शैली ही वक्रोक्ति है।

आचार्य भामह वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। वे सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार लोक की साधारण कथन प्रणाली से भिन्न उक्ति ही वक्रोक्ति है। भामह ने यह भी कहा कि वक्रोक्तिरहित वाक्य काव्य न रहकर वार्ता मात्र रह जाता है। आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में से एक मानते हुए कहा है कि सादृश्य पर आश्रित लक्षणा (गौणी लक्षणा) ही वक्रोक्ति है। कवि कौशल और काव्य-सौन्दर्य दोनों ही वक्रोक्ति में समाहित हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय को व्यवस्थित करने का श्रेय आनन्दवर्धन को है। 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के रचयिता आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की। ध्वनि सिद्धान्त से पहले काव्यशास्त्र में अलंकार, रस और रीति जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रवर्तन हो चुका था इसलिए ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रबल एवं पुष्ट तर्कों के आधार पर ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए उक्त सभी सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन किया गया। आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ अर्थ स्वयं को तथा अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान को प्रकाशित करता है, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि काव्य कहा है।

ध्वनि सम्प्रदाय की प्रबल मान्यता है कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ यानी प्रतीयमान अर्थ का होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु प्रतीयमान अर्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण होना भी आवश्यक है। इस प्रकार जहाँ व्यंग्यार्थ प्रमुख हो और वाच्यार्थ गौण हो, वहीं ध्वनि मानी जा सकती है।

अभिनव गुप्त मूलतः रसवादी आचार्य थे। रस की सम्यक् पुष्टि के लिए उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को महत्त्व प्रदान किया और सिद्ध किया कि रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। साथ ही उन्होंने यह मत भी स्थापित किया कि रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। इस प्रकार ध्वनि से युक्त रसात्मक काव्य को अभिनव गुप्त सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य मम्मट का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने व्यंजना शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया और ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं में एकरूपता लाने का अभूतपूर्व कार्य किया।

मुकुट भट्ट, प्रतिहारेन्दु राज, भट्ट नायक, कुन्तक, धनंजय, महिम भट्ट आदि आचार्यों ने विभिन्न सन्दर्भों सहित ध्वनि सम्प्रदाय की सारगर्भित आलोचना की है। ध्वनि सम्प्रदाय निश्चय ही अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों से अधिक व्यापक है तथा इसका विवेचन भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किया गया है। चूँकि, ध्वनि द्वारा रस की ही अभिव्यंजना की जाती है, इसलिए ध्वनि रस साधिका अवश्य मानी जा सकती है।

औचित्य का अर्थ उपयुक्त सामंजस्य होता है। रस इस सामंजस्य या संतुलन का नियामक है। इसका महत्त्व न केवल काव्य जगत् में बल्कि व्यवहारिक जगत् में भी है। देशकाल एवं परिस्थिति के अनुरूप औचित्यपूर्ण व्यवहार ही सदाचार कहा जाता है। यही वजह है कि सौन्दर्य एवं कला के क्षेत्र में भी औचित्य का विशेष महत्त्व का है। काव्यशास्त्रीय विवेचन में औचित्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। क्षेमेन्द्र मूलतः ध्वनिवादी विचारक हैं। उन्होंने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' ग्रन्थ में औचित्य को काव्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित किया है तथा उसे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया है।

काव्यशास्त्रीय आलोचक औचित्य को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि काव्य का अंतरंग तत्त्व होते हुए भी औचित्य की महत्ता रस पर टिकी हुई है। रस से पृथक् औचित्य का कोई अस्तित्व नहीं है। औचित्य काव्य का पथ-प्रदर्शक तो हो सकता है लेकिन इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्य क्षेमेन्द्र स्वयं भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि औचित्य का महत्त्व रससिद्ध काव्य के आलोक में है, न कि रसविहीन काव्य में।

9.4.3 रस-चिन्तन और रस-विवेचन का वस्तुगत आधार

रस का सम्बन्ध मानवीय भावों से है। काव्य में भी मानवीय भावों का ही चित्रण होता है। परम्परागत आचार्यों ने रस निष्पत्ति को भाव, विभावानुभाव तथा संचारी भाव का संयोग स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस चिन्तन-प्रक्रिया में लोकजीवन और काव्य के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ और अनिवार्य सम्बन्धों की व्याख्या की है। आचार्य शुक्ल के अनुसार "लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।" शुक्लजी का रस चिन्तन रूढ़ और शास्त्रबद्ध नहीं है फिर भी शास्त्र को उन्होंने छोड़ा नहीं है और अपनी मान्यताओं के अनुसार उसमें संशोधन, परिष्कार तथा विस्तार किया है। शुक्लजी द्वारा की गई कविता की व्याख्या उनके रससम्बन्धी चिन्तन का प्रमाण है। शुक्लजी ने परम्परागत रस चिन्तन को दार्शनिक तथा शास्त्र के बन्धनों से मुक्त कर उसे सहज मानवीय भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। इस सम्बन्ध में डॉ॰ रामाधार शर्मा का कथन उल्लेखनीय है

कि जो रस पहले शास्त्रों में सूख रहा था उसे आचार्य शुक्ल ने एक उदात्त सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित कर युग प्रवर्तक कार्य किया है।

काव्य की आत्मा के प्रश्न को लेकर गहराई से चिन्तन हुआ है। रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदायों ने अपने द्वारा प्रस्तुत केन्द्रीय तत्त्व को काव्य की आत्मा घोषित किया तथापि इन सबका अन्तर्भाव अन्ततः रस सम्प्रदाय में कर दिया गया है और यह तथ्य लगभग मान्य हो गया है कि रस ही काव्य की आत्मा है।

रस चिन्तन और रस विवेचन का वस्तुगत आधार भरतमुनि से लेकर आधुनिक समय तक विस्तृत है। इस विकास-क्रम में नाना प्रकार से रस की व्याख्या की जाती रही है। लेकिन रस को काव्य की आत्मा अथवा काव्य का सर्वोच्च प्रतिमान मानने के पक्ष में प्रायः सभी आचार्य और विचारक एकमत रहे हैं। रस विवेचन की व्याख्याएँ चिन्तन के कई सोपान सूचित करती हैं। भरतमुनि का रस विवेचन पहला सोपान है। भरत के रससूत्र की अनेक व्याख्याएँ हुई। उन व्याख्याओं के आधार पर जो नई विचार सरणियाँ स्पष्ट हुई, उन्होंने अपना-अपना एक स्पष्ट दार्शनिक आधार ग्रहण किया। वे दार्शनिक आधार भाववादी दर्शन के आधार हैं। यहाँ आकर रस तत्त्व और उससे मिलने वाला आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर की कोटि तक पहुँच जाता है। इस तरह रस विवेचन का यह दूसरा सोपान है। मध्यकाल में रस चिन्तन के क्षेत्र में कुछ नए आयाम जुड़ते हैं और रस को अधिकाधिक शास्त्रीय भूमिका से सम्बद्ध कर दिया जाता है। इसे रस विवेचन का तीसरा सोपान कहा जा सकता है। आधुनिक युग में रस चिन्तन और इसकी व्याख्या नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण करती है। मनोवैज्ञानिकता का आग्रह यहाँ प्रबल हो उठता है। इसे रस विवेचन का चौथा सोपान मान सकते हैं। इस प्रकार भरतमुनि से लेकर अद्यतन किये गए रस चिन्तन और रस विवेचन को भाववादी दार्शनिक चिन्तन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि कहा जा सकता है।

9.4.4 काव्य की आत्मा और रस

काव्य की आत्मा का अभिप्राय उस सार तत्त्व से है जिसके सद्भाव से कवित्व का उत्थान और असद्भाव से कवित्व का पतन होता है। नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्ट लिखा है कि –

इतिवृत्तं तु नाट्यस्यशरीरं परिकीर्तितम्।

अर्थात् नाट्य का इतिवृत्ति यदि शरीर है तो रस निश्चय ही उसकी आत्मा के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। केवल नाट्यशास्त्र में ही नहीं बल्कि श्रव्य काव्य के क्षेत्र में भी भारतीय काव्यशास्त्रियों ने एक स्वर से रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

काव्य की आत्मा के सन्दर्भ में दो मत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – (i) वक्रोक्तिवाद तथा (ii) रसध्वनिवाद। इस सन्दर्भ में आनन्दवर्धन, कुन्तक और अभिनव गुप्त के विचार अधिक सारगर्भित और उल्लेखनीय हैं। ग्रहण की दृष्टि से विचार करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि ग्राहक (ग्रहणकर्त्ता) रसावेश में कवि की प्रतिभा का आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। आचार्य कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति अलंकार का मूल है और यही

वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। उन्होंने स्पष्ट किया कि स्वाभावोक्ति वर्ण्य विषय या काव्य है जिसे अलंकार्य भी कहा जा सकता है तथा इसे वक्रोक्ति से अलंकृत किया जा सकता है।

ध्वनि और रस का जैसा प्रभाव कुन्तक पर है वैसा ही अनिवार्य प्रभाव कुन्तक का अभिनव गुप्त पर भी दृष्टिगत होता है। कुन्तक की भाँति अभिनव गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि काव्यगत सौन्दर्य का मूल माध्यम है – वक्रता या वक्रोक्ति। अन्य काव्याचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि साधारण जन की जीवनानुभूति और कवि जन की काव्यानुभूति में अन्तर सही शब्द से अनुभूति का एकरस होना और न ही होना है। आचार्य शुक्ल भी विभाव संयोजन को ही कवि का प्रमुख कर्म मानते हैं तथा उसी को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय काव्य-चिन्तन काव्य की आत्मा के आलोक में एक ही केन्द्रीय (मूल) तत्त्व 'काव्यानुभूति-सौन्दर्यानुभूति-आह्लादमय-अनुभूति-रसानुभूति' को स्वीकृति प्रदान करता है। वक्रोक्तिवादी और रसवादी दोनों चिन्तन परम्पराओं में ग्रहण की दृष्टि से अनेक समानताएँ सहज ही परिलक्षित होती हैं। रसवादी या ध्वनिरसवादी सहृदयनिष्ठ परिणति को केन्द्र में रखकर विचार करते हैं और वक्रोक्तिवादी निर्माता कविगत अलंकरण प्रकिया पर अपने को केन्द्रित रखकर विचार करते हैं। काव्य की उत्कृष्टतम भूमि रसवत्ता को दोनों ही समान महत्त्व देते हैं।

काव्य को पढ़ने या श्रवण करने से जिस सुख और आनन्द की अनुभूति होती है उसे ही काव्यशास्त्रियों ने 'रस' की संज्ञा दी है। काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। पाठक या श्रोता के हृदय में स्थित स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होकर उसे आनन्द प्रदान करता है। रस के अभाव में काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। रस की अनुभूति ही पाठक या श्रोता को आनन्दमग्न करके भाव समाधि में पहुँचा देती है। 'रस' काव्य का अंतरंग तत्त्व है, बाह्य तत्त्व नहीं। काव्य के अन्य सभी तत्त्व रस के ही उपादान हैं। रस ही काव्य का प्रमुख तत्त्व या काव्य की आत्मा है। आचार्य विश्वनाथ ने रस की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है, यथा –

1. रस आस्वाद स्वरूप है, आस्वाद्य नहीं।
2. रस की उत्पत्ति सत्त्वगुण के उद्रेक से होती है।
3. रस ब्रह्मानन्द सहोदर है।
4. रसानुभूति अलौकिक होती है।
5. रस चिन्मय है।
6. रस अखण्ड है।
7. रस की अनुभूति तन्मयता की स्थिति में होती है।
8. रस लोकोत्तर चमत्कार है।

9.4.5 रस की सुख-दु:खात्मकता

रस की सुख-दु:खात्मकता के सन्दर्भ में काव्यशास्त्रीय चिन्तन तथा समीक्षा के प्रतिमान न केवल परिवर्तित हुए अपितु अपनी पूर्ववर्ती समीक्षा-परम्परा के गुणसूत्रों के साथ विकसित भी हुए हैं। काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने रस को अनिवार्यतः आनन्दमय माना है। उन्होंने रस की विवेचना एवं विश्लेषण दार्शनिक पृष्ठभूमि पर की। वे रस की परिधि में ही आत्मा के चिदानन्दमय रूप को भी समाविष्ट करते हैं। लेकिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस की व्याख्या मनोविज्ञान के सन्दर्भ में की है। उन्होंने रस को सुख-दु:ख की उभयात्मक दशा के रूप में व्याख्यायित किया है। आचार्य शुक्ल शृंगार और करुण की पार्यन्तिक प्रतीति को परस्पर भिन्न मानते हैं। यदि शृंगार सुखात्मक है तो करुण दु:खात्मक कोटि का रस है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि करुण दु:खात्मक कोटि का है तो उसे रस की श्रेणी में व्याख्यायित करना, स्वीकार करना कहाँ तक न्यायसंगत है। आचार्य शुक्ल इस शंका का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार चूँकि, हृदय की मुक्तावस्था रसदशा है और काव्य इसी की शब्दमयी अभिव्यक्ति है। इसलिए हृदय की मुक्तावस्था से उनका अभिप्राय अर्जन-विसर्जनपरक, लाभ-हानिपरक, राग-द्वेषमय, सुख-दु:ख तथा अपने-पराये की भावना से स्वतन्त्र चेतना से है। इस मुक्त हृदय की भूमि को 'मानुष-भाव' की भूमि कह सकते हैं। यही हमारा 'स्व' भाव है तथा इसी का मानस साक्षात्कार 'रस दशा' है।

रस विषयक चेतना राग-द्वेष या अपने-पराये के भावात्मक बन्धन से मुक्त रहती है। उसमें उस प्रकार का उद्वेग नहीं रहता जैसा कि व्यवहार में राग-द्वेषबद्ध चेतना का विषय होने से होता है। उद्वेगक दु:खमय अनुभूति का कारण चेतना का राग-द्वेष युक्त होना है। काव्य की प्रक्रिया में रचयिता व्यक्तिगत भावभूमि से ऊपर उठकर लोक सामान्य की भावभूमि पर अधिष्ठित हो जाता है। वहाँ पार्यन्तिक प्रतीति में उद्वेग का अनुभव नहीं होता। करुण रस के आनन्द का हेतु का कारण साधारणीकरण द्वारा प्राप्त आनन्दावस्था है। रस की सुख-दु:खात्मकता की प्रतीति पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने 'व्यक्तित्व का विलयन या विगलन' तथा 'सामग्री के साधारणीकरण' की शर्तों को स्वीकार किया है। इस स्थिति के परिणामस्वरूप व्यक्ति के मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ उसके रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा और निर्वाह होता है। प्रत्येक व्यक्ति भाव तादात्म्य द्वारा अपनी अनुभूति के क्षेत्र को व्यापक बनाना चाहता है। वह भेद-विभेद, अनेकत्व को मिटाकर अभेद-एकत्व की स्थापना करना चाहता है। एकत्व स्थापन की वृत्ति ही साधारणीकरण का आलम्बन है। रसास्वाद को इसी सन्दर्भ में ग्रहण किया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने काव्यशास्त्रीय रस चिन्तन में लोककल्याण व लोकहित के सन्दर्भ को महत्त्व दिया है।

9.4.6 पाठ-सार

रस ही जीवन का आनन्द है। आत्मा के विकास, उल्लास, संवेदनशीलता और संस्कारशीलता के लिए रस अनिवार्य है। विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के माध्यम से दर्शक, पाठक या श्रोता अपने ही स्थायी भावों का आस्वादन करते हुए रस का आनन्द प्राप्त करता है। रचना तथ्य और चिन्तन का संग्रहालय नहीं है, वह पाठक

या श्रोता को संवादी मनःस्थिति में लाने के लिए रची जाती है। और, ऐसा तभी सम्भव है जब रचनात्मक और प्रभावी मनोदशा के चित्रण में कवि का अभिनिवेश हो। आनन्दवर्धन रस की सुख-दुःखात्मकता के मध्य इसी मनोदशा विशेष का विवेचन करते हैं। इसी मनोदशा विशेष में लाने के लिए कवि अनुरूप अर्थ और शब्द की संयोजना करता है। जीवन में अनुभूत सत्य व्यक्तिगत सत्य है, उसे काव्योचित रूप में परिणत होने के लिए आवश्यक है कि वह स्व पर अनुभूत सामान्य विशेषताओं से मण्डित हो तभी संवाद की स्थिति पैदा हो सकती है। जीवनानुभूति पर आधृत होते हुए भी काव्यानुभूति अन्ततः 'निजता' का परिहार करती हुई आत्मपरिष्कार करती है। आचार्यों ने ऐसी परिणत रचनाओं से प्रसूत रसात्मक प्रतिमान की व्याख्या में साधारणीकरण की बात की है। काव्य की आत्मा और रस की चिरन्तनता देश कालजयी सामान्यीकृत रूप में ही संभावित है।

9.4.7 शब्दावली

वृत्ति	:	व्यापार
आस्वाद	:	आनन्द
अनुकार्य	:	मूल पात्र
निष्पत्ति	:	अभिव्यक्ति
सानुभूति	:	रस की अनुभूति

9.4.8 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. काव्य के आस्वादन में उद्वेग उत्पन्न करने वाला कारक कहलाता है –
   (क) काव्य की आत्मा
   (ख) काव्य प्रदोष
   (ग) काव्य दोष
   (घ) काव्य न्यूनता

2. निम्नलिखित में काव्य तत्त्व नहीं है –
   (क) व्यक्तित्व
   (ख) भाव
   (ग) कल्पना
   (घ) बुद्धि

3. निम्नलिखित में कौन-सा काव्य का हेतु नहीं है?

(क) प्रतिभा
(ख) व्युत्पत्ति
(ग) समाधि
(घ) प्रस्तुतीकरण क्षमता

4. रस गंगाधर किसकी रचना है?
(क) चिन्तामणि
(ख) केशव
(ग) भट्ट लोल्लट
(घ) पण्डितराज जगन्नाथ

5. भरतमुनि प्रतिपादित सिद्धान्त है –
(क) औचित्य सिद्धान्त
(ख) रस सिद्धान्त
(ग) विरेचन सिद्धान्त
(घ) वक्रोक्ति सिद्धान्त

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'काव्य की आत्मा' से क्या अभिप्राय है?
2. काव्य-विषय के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
3. रसानुभूति से क्या आशय है?
4. रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक किसे माना जाता है?
5. "रस काव्य का अंतरंग तत्त्व है।" स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "रस काव्य की आत्मा है।" विश्लेषण कीजिए।
2. 'रस की सुख-दु:खात्मकता' की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

9.4.9 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शर्मा, देवेन्द्रनाथ, काव्य के तत्त्व, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. सुधांशु लक्ष्मीनारायण, काव्य में अभिव्यंजनावाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
3. त्रिपाठी, डॉ॰ राममूर्ति, भारतीय काव्यशास्त्र : नई व्याख्या, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

4. मिश्र, विद्यानिवास, सहृदय, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
5. चौधरी, सत्यदेव, भारतीय काव्यशास्त्र, अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली
6. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, भारतीय काव्यशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
7. त्रिपाठी, राधावल्लभ, भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 10 : औचित्य सिद्धान्त

इकाई – 1 : औचित्य : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप, औचित्य के भेद

इकाई की रूपरेखा

10.1.0 उद्देश्य कथन
10.1.1 प्रस्तावना
10.1.2 औचित्य : अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप
10.1.3 औचित्य सिद्धान्त : विवेचन
10.1.4 औचित्य के भेद
10.1.5 औचित्य सिद्धान्त : चिन्तन परम्परा
10.1.6 पाठ-सार
10.1.7 बोध प्रश्न

10.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि –

i. औचित्य शब्द से क्या तात्पर्य है।
ii. औचित्य सिद्धान्त का स्वरूप क्या है।
iii. औचित्य के कितने भेद हैं।
iv. औचित्य सिद्धान्त पर विभिन्न आचार्यों के क्या-क्या मत हैं।

10.1.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक काव्य-सिद्धान्त जिस प्रखरता से प्रतिष्ठित हुए वह काव्य-विवेचन से पर्याप्त भिन्न है। यहाँ विभिन्न आचार्यों ने सैद्धान्तिक आधार पर पूर्व में स्थापित सिद्धान्तों का तार्किक खण्डन-मण्डन किया है। वे अनवरत नवीन आधार-भूमि की खोज करते रहे। अनेक मूल ग्रन्थ अपने सम्पूर्ण रूप में अनुपलब्ध थे जिससे सिद्धान्तों की क्रमबद्धता खोजना सरल नहीं रहा। आचार्य मम्मट ने विभिन्न सिद्धान्तों को 'काव्यप्रकाश' में समेटकर इन्हें एक सूत्र में प्रतिपादित करने का सफल प्रयास किया। इस समय तक ध्वनि-सिद्धान्त उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुका था। आचार्य क्षेमेन्द्र इसी बिन्दु पर 'औचित्य विचार चर्चा' लेकर अवतरित हुए। सहज भूमि पर आधारित औचित्य-विवेचन आश्चर्यजनक रूप में मौलिक था। साथ ही, यह चर्चा तब तक के काव्य-विवेचन में एक समीकृत चिन्तन-धारा के सन्धान की चेष्टा भी थी।

10.1.2 औचित्य : अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

औचित्य का अर्थ होता है, 'उचित का भाव'। रचना से प्रभाव तक जो भी उचित हो उसे ग्रहण कर लेना और जो अनुचित हो उसे त्याग देना ही औचित्य है। दूसरे शब्दों में औचित्य का अर्थ है, 'उपयुक्त सामंजस्य'।

औचित्य को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र थे। यद्यपि मूल रूप से क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी आचार्य थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य को व्यापक काव्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया है –

औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

अर्थात् रस से सिद्ध होने पर ही काव्य सिद्ध होता है और उस समय स्थिर जीवन के रूप में औचित्य का जन्म होता है। औचित्य के बिना रस की सत्ता सम्भव ही नहीं है।

औचित्य का कितना महत्त्व है, यह कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि से लेकर आज तक अनगिनत काव्याचार्यों ने औचित्य के महत्त्व पर विशिष्ट बल दिया है। भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में नायक के स्वरूप अभिनय, वेशभूषा आदि के लिए औचित्य की आवश्यकता पर स्पष्ट संकेत किया है –

वपोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो वेषानुरूपश्च गतिः प्रचारः।
गति प्रचारानुगतम् च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्चा कार्यः॥

अर्थात् अवस्थानुसार वेश, वेशानुरूप क्रिया तथा गति प्रचार के अनुरूप पाठ्य और पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए।

काव्यशास्त्र में औचित्य की स्थिति 'नाट्यशास्त्र' से भले ही स्वीकृत की जाए परन्तु इसका स्वतन्त्र रूप से सर्वप्रथम वर्णन आचार्य आनन्दवर्धन ने ही किया। उन्होंने रस संचरण में औचित्य के छह प्रकार माने। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विशद् एवं व्यवस्थित विवेचन किया और काव्यात्मा के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की। औचित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है –

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किलयस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तरदौचित्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के सदृश होती है उसे उचित कहते हैं। 'उचित' भाव ही औचित्य है। 'अन्य वस्तुत के सदृश' होने से तात्पर्य है, 'अन्य वस्तुओं की सापेक्षिक स्थिति के अनुकूल होना।' संसार की कोई वस्तु अपनी स्वतन्त्र स्थिति में न ही सुन्दर है न ही असुन्दर है। अन्य वस्तुओं के साथ संगति या सामंजस्यकी

स्थिति में ही वह सुन्दर प्रतीत होती है। इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने किसी एक तत्त्व को महत्त्व न देकर सभी तत्त्वों के संतुलन और सामंजस्य पर बल देकर काव्य-चिन्तन को व्यापक सन्दर्भ प्रदान किया है। औचित्य पर बल प्रदान कर आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य को जीवन-मूल्यों के निकट प्रतिष्ठापित किया है। औचित्य जीवन को भी सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण करता है। सामाजिक मर्यादा की प्रतिष्ठा का आधार भी औचित्य ही है।

10.1.3 औचित्य सिद्धान्त : विवेचन

साहित्य में औचित्य तत्त्व व्यवस्था और अनुशासन के साथ सौन्दर्य संगति के लिए मान्य रहा है। मनुष्य की विवेक बुद्धि ग्राह्य और अग्राह्य वस्तु के प्रति अपनी स्वतन्त्र क्षमता के अनुरूप कार्य करती है। इस दृष्टि से उचित का चुनाव और पालन ही औचित्य है। लोक व्यवहार और सामाजिक आचरण के लिए भी औचित्य का महत्त्व स्वीकार किया गया है। यही आचरण की कसौटी पर मनुष्य के चरित्र का निर्धारण करता है। औचित्य का यह सामाजिक / समाजशास्त्रीय पक्ष ही उसे विस्तृत फलक प्रदान करता है। साहित्य की रचनाधर्मिता सामाजिक एवं सांस्कृतिक सहृदयों के लिए होती है। आत्म-अभिव्यक्ति लोक अभिव्यक्ति के कारण ही पुष्ट होती है। औचित्य के व्यावहारिक पक्ष की जब भी बात की जाती है उसका सामाजिक महत्त्व स्पष्टतया परिलक्षित होने लगता है।

औचित्य की महत्ता सौन्दर्य की दृष्टि से भी स्वीकार की गई है। कालिदास की शकुन्तला इसलिए सुन्दर है कि जिस अंग प्रदेश में जितना सौन्दर्य होना चाहिए उतना ही सौन्दर्य उस अंग प्रदेश में उपस्थित है –

यथाप्रदेशंविनिविशितेन।

संस्कृत काव्यशास्त्र में औचित्य एक व्यापक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है जिसकी आवश्यकता प्रायः सभी सिद्धान्तों में परिलक्षित होती है। औचित्य का न होना अनौचित्य माना गया है जिसके कारण काव्यदोषों की एक लम्बी शृंखला काव्यशास्त्र में पायी जाती है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त वस्तुतः औचित्य पर विचार और उसकी विस्तृत चर्चा है। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'औचित्य विचार चर्चा' है। संस्कृत के आचार्यों की विशेषता यह होती है कि उनका कोई भी सिद्धान्त रूढ़ नहीं है। वह निरन्तर गतिशील बना रहता है जिससे उसमें नये विचारों को जोड़ने और घटाने की स्थिति विद्यमान रहती है। बिना औचित्य के काव्य में जीवन का संचार नहीं होता है उसमें अलंकार और गुण का सन्निवेश चाहे जितना हो। आचार्य क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट किया है कि अलंकार तभी अलंकार हैं जब वे यथोचित हों। इसी प्रकार गुण भी तब ही गुण होते हैं जब वे उचित स्थान पर प्रयुक्त हों। यहाँ यथोचित से तात्पर्य है कि पात्र, स्थिति, देशकाल और विषयवस्तु के अनुरूप ही काव्यात्मक तत्त्वों का उपयोग होना चाहिए। उपयोग की मात्रा भी औचित्य का निर्धारण करती है। औचित्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पार्णो नूपुरबंधनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपों करुण नाऽयांतिके हास्यताम ?
औचित्ये न बिना रुचिं प्रतनुते नोऽलंकृतिर्नोगुणः ॥

अर्थात् कण्ठ (गले) में करधनी, नितम्ब पर दीप्तिमान हार, हाथों में नूपुर की योजना, चरण में केयूर पाश के बन्ध तथा शौर्यपूर्वक झुके हुए शत्रु पर करुणा करने से कौन व्यक्ति उपहास का पात्र नहीं हो सकता ? ठीक इसी प्रकार औचित्य के अभाव में न तो अलंकार और न ही गुण शोभा उत्पन्न कर सकते हैं।

क्षेमेन्द्र का स्पष्ट मानना है कि काव्य के अलंकार केवल अलंकार मात्र ही हैं जो केवल बाह्य उपकरण हैं। गुण भी केवल गुण ही हैं अर्थात् वे अन्तरंग होने पर भी काव्य के जीवन का सम्पादन नहीं कर सकते। रस के कारण ही काव्य में आनन्दानुभूति की उत्पत्ति होती है। ऐसे रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है –

अलंकारास्त्वलंकाराः गुणाएव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥
औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य।
तेन विनास्य गुणालंकार युक्तस्यापि निर्जीवत्वात्॥
रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य।
धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः ॥

औचित्य का विचार काव्य से सम्बद्ध सभी तत्त्वों के साथ किया गया है। काव्यास्वाद के लिए तीन आवश्यक कार्य स्वीकार किये जा सकते हैं – (i) सृजन, (ii) आलोचन और (iii) आस्वादन। इन्हीं तीन बिन्दुओं को आधार बनाकर ही औचित्य पर विचार होता रहा है।

10.1.4 औचित्य के भेद

'औचित्य विचार चर्चा' में आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेदों पर चर्चा की है। इनका मानना है कि औचित्य के भेद अनन्त हैं तथा काव्य के प्रत्येक अंग और उपांग पर इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के मुख्य 27 भेदों के विवेचन अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। ये निम्नलिखित हैं –

01. पदौचित्य :

काव्य में पद या शब्द की महत्ता है। शब्द से ही काव्य रचना होती है। क्षेमेन्द्र का मानना है कि तिलक के समान एक ही उचित पद को धारण करने वाली सूक्ति समुचित एवं उत्कृष्ट स्थान में शोभाशाली होकर अद्भुत एवं मनोहर हो जाती है। शब्द प्रयोग या शब्द व्यवहार ही कवि की भाषा-शैली के प्रमाण और उसके कवित्व की क्षमता के मापदण्ड होते हैं।

02. वाक्यौचित्य :

आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि औचित्यपूर्ण रचित वाक्य काव्य मनीषियों के सदा अनुकूल होता है –

औचित्यं रचितं काव्यम्, सततं सम्मतं सताम्।

– (औचित्य विचार चर्चा, 12)

पद की तरह वाक्य की महत्ता भी असंदिग्ध है। वाक्य से पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति होती है और उसमें अर्थ की अन्विति आ जाती है। शब्दों के योग जिस भाव या रूप की सृष्टि करते हैं उनका प्रभाव खण्ड चित्रों के रूप में नहीं अपितु एक व्यवस्थित, शृंखलाबद्ध अखण्ड प्रक्रिया में समाहित होता है। यही प्रक्रिया वाक्य के रूप में पूर्ण होती है।

03. प्रबन्ध औचित्य :

जिस रचना में समग्र प्रबन्ध का तात्पर्य अनुरूप और सादृश्य होता है तो वहाँ सहृदयों के चित्त को चमत्कृत करने की शक्ति होती है। क्षेमेन्द्र ने प्रबन्धौचित्य के लिए कालिदास के मेघदूत का एक श्लोक उद्धृत किया है –

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञामोघा परमधिगुणा नाधमं लब्धकामा॥

– (मेघदूत पूर्वमेघ, श्लोक - 6)

कालिदास के मेघदूत का यक्ष सन्देश-निरूपण करते समय मेघ के कई रूपों का स्मरण कर रहा है। वह मेघ के पुष्कर और आवर्तक जैसे उच्च वंश की प्रशंसा करता है। द्वैत का प्रधान पुरुष मानकर मेघ की कामरूपता का भी वर्णन करता है। यह इच्छित मेघ कहीं भी आ-जा सकता है। यज्ञ ऐसे ही दूत को चुनता है जो अलका तक अपनी निर्विघ्न यात्रा पूरी कर सके। यक्ष मेघ को अपने विषय में बताते हुए विधि के विधानवश अपनी भार्या से दूर हो गया है। बन्धुत्व में समानता होती है।

04. गुणौचित्य :

काव्य के ओज, प्रसाद, माधुर्य और सौकुमार्य आदि गुण तभी भव्यता के साथ प्रस्फुटित होते हैं जब ये प्रस्तुत अर्थानुरूप प्रयोग किये जाते हैं। अर्थ पर दृष्टि रखकर ही काव्यों में गुणों का सन्निवेश किया जाता है। जिस

प्रकार वीर पुरुष की ओजस्वी उक्तियों में ओज गुण विशेष प्रभावशाली होता है उसी प्रकार विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यंजना के लिए माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों का निवेश सर्वथा सुन्दर होता है।

05. अलंकारौचित्य :

'औचित्य विचार चर्चा' में क्षेमेन्द्र ने अलंकारौचित्य के सम्बन्ध में कहा है कि प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलंकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है जैसे पीन स्तनों पर रखे हुए हार से हरिणी-सी आँखों वाली सुन्दरी। अलंकार भी सरस काव्य में ही शोभायमान होते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का वास्तविक अर्थ सौन्दर्य माना गया है। काव्यशास्त्र में 'रमणीयता' शब्द का प्रयोग भी सौन्दर्यात्मक भाव के अर्थ में हुआ है।

06. रसौचित्य :

आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस के निर्वाह में औचित्य की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माना है। वे मानते हैं कि जैसे वसन्त अशोक के वृक्ष को अंकुरित कर देता है, वैसे ही औचित्य से युक्त रस सहृदयों के मन को आह्लादित और अंकुरित कर देता है। औचित्य से समन्वित शृंगार आदि रस सहृदयों के चित्त में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान स्थापित कर लेते हैं।

07. क्रिया-औचित्य :

काव्य में क्रिया की शक्तियों को पहचानते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने क्रिया के व्यावहारिक रूपों पर ध्यान दिया है। जैसे किसी सज्जन व्यक्ति की क्रिया उसके आचार, गुण, व्यवहार-कुशलता आदि का परिचय प्रदान करती है वैसे ही काव्य में भी यदि क्रिया का प्रयोग उचित ढंग से हो तो काव्य में गुण संगति और व्याप्ति स्वयं उपस्थित हो जाती है। क्षेमेन्द्र का मानना है कि क्रिया के उचित होने पर जैसे सुजन में गुण, आचार एवं साधुता मानी जाती है तो उसी प्रकार यदि काव्य में क्रियापद ठीक हो तो वह काव्य गुणमय, संगीतमय तथा प्रशस्त माना जाता है।

08. कारकौचित्य :

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य विवेचन के प्रसंग में आठवें औचित्य के रूप में कारक को लिया है। काव्य में व्याकरण के महत्त्व का तात्पर्य ही है, 'काव्य में भाषा के महत्त्व की शुद्धता, समीचीनता और अनुकूलता।' व्यक्ति की समस्त क्रियाएँ कारकों के सहयोग से ही फलीभूत होती हैं। उचित कारकों की पारस्परिक संगति से वाक्यों में एक विशिष्ट प्रकार का निखार आ जाता है। परम्परागत कुलीनता और ऐश्वर्य उदार चरित्र के संयोग से विभाजित हो उठते हैं। तात्पर्य यह है कि कारकों के साथ वाक्य की शोभा बढ़ जाती है।

09. लिंगौचित्य :

लिंगौचित्य को काव्यभाषा के तन्त्र की दृष्टि से उपयोगी होने के साथ ही भाषा के प्रयोग में भी लिंग का औचित्य स्वीकार किया गया है। लिंगवाचक शब्द से भी मनुष्य के चित्तों का गहरा सम्बन्ध है। भावों को अभिव्यक्त करने के लिए कवि जब अनुकूल शब्द चुनता है तो इस प्रकार के शब्दों का लिंग विधान जरूरी होता है। उचित लिंग का प्रयोग होने से काव्य में चारुता के साथ विशिष्ट सौन्दर्यानुभूति का अनुभव होता है।

10. वचनौचित्य :

क्षेमेन्द्र ने औचित्य-चर्चा के प्रसंग में व्याकरण के 'वचन' को महत्त्व दिया है। काव्यशास्त्र में व्याकरण-शास्त्र, भाषा-शास्त्र का उपयोग किस प्रकार किया जाए कि शब्द-प्रयोग, वाक्य-प्रयोग एवं वर्णन की सुन्दरता स्पष्टतः परिलक्षित होने लगे।

11. विशेषण-औचित्य :

काव्य-रचना में कवियों ने सदैव विशेष और अधिक गुणों का आदर किया है। कम की अधिक से तुलना करना और विशिष्टता की खोज ही आलंकारिक उक्ति का सृजन करती है। इसी आधार पर काव्य में उपमा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों की कल्पना की गई है। आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि समुचित विशेषणों के प्रयोग से विशेष्य की शोभा उसी तरह बढ़ जाती है जिस प्रकार गुण से उदार सज्जन की शोभा अधिक गुण वाले मित्रों से और निखर जाती है। विशेषण की खोज वस्तुतः श्रेष्ठता की खोज है। श्रेष्ठ गुणों की खोज से ही देवत्व या नायकत्व की प्रतिष्ठा होती है इसीलिए नायकों में सामान्य व्यक्ति से अधिक गुणों की अपेक्षा की गई है।

12. उपसर्ग-औचित्य :

उपसर्ग को अंग्रेज़ी में (Prefix) कहते हैं। इस शब्द का अर्थ है – समीप, जोड़ा हुआ। अतिरिक्त जोड़ने को ही उपसर्ग माना गया है। कालान्तर में किसी शब्द या क्रिया के पहले जोड़े हुए शब्द को उपसर्ग कहा गया। उपसर्ग के औचित्य पर चर्चा में क्षेमेन्द्र का मानना है कि योग्य उपसर्ग के संसर्ग से निष्प्रभ गुणों वाली सूक्ति वैसे ही उदीयमान और वृद्धिगत दिखाई देती है जैसे कि सन्मार्ग पर गमन करने से सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

13. निपात-औचित्य :

औचित्य भेद के विभिन्न प्रसंग व्याकरण-शास्त्र से जुड़े हुए हैं। काव्यशास्त्र में व्याकरण-शास्त्र, तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि शास्त्रों और अनुशासनों का यथास्थान उपयोग किया गया है। निपात-औचित्य के लिए क्षेमेन्द्र का मानना है कि 'च' आदि उपादेय निपातों का जब उचित पद के साथ सम्बन्ध कर दिया जाता है तो काव्य की अर्थ संगति स्पष्ट हो जाती है।

14. कालगत-औचित्य :

क्षेमेन्द्र ने कालगत औचित्य के निर्वाह से अर्थोत्कर्ष द्वारा चारुता का प्रवेश स्वीकार किया है। यह उसी प्रकार सम्भव है जैसे लोगों को आकृष्ट करने वाले भूषणों से सज्जनों का शरीर सुशोभित होता है।

15. देशौचित्य :

क्षेमेन्द्र ने देशगत औचित्य का उपयोग काव्यात्मक अभिव्यक्ति की रुचिरता, काव्यभाषा और काव्यार्थ संवाद की दृष्टि से किया है। वस्तु और दृश्य के साथ एकात्मता और परिचय की प्रतीति के लिए देशगत औचित्य का प्रयोग होता है।

16. कुलौचित्य :

कुलौचित्य का सम्बन्ध लोकजीवन से सम्बन्धित होता है। कुल से बढ़ाया हुआ औचित्य विशेष उत्कर्ष का कारण होता है जैसे काव्यपुरुष प्रायः सहृदयों को प्रिय होता है।

17. व्रतौचित्य :

लोकजीवन से काव्य के सन्दर्भ को स्थिर करने के लिए व्रतौचित्य की कल्पना की गई है। सद्व्रत विषयक औचित्य के निर्वाह से काव्यार्थ साधुवाद का पात्र बन जाता है और विशेष विधानवश जनमानस को संतुष्ट कर देता है।

18. तत्त्वौचित्य :

क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य-रचना में तात्त्विक बातों की उद्भावना होती है। इससे काव्य अधिक उपयोगी, चित्ताकर्षक और लोकोपयोगी होता है।

19. सत्त्वौचित्य :

आचार्य क्षेमेन्द्र ने सत्त्वगत औचित्य के विषय में कहा है कि कवि की वाणी में पात्र की सत्त्व वाणी विवेकानुमोदित सुधीजनों को उदात्त चरित्र की तरह अपूर्व चमत्कार प्रदान करती है।

20. अभिप्राय औचित्य :

काव्य की सहज प्रेषणीयता को स्थापित करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने अभिप्राय औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है। काव्य की सफलता इसमें है कि वह सीधे सहृदय के चित्त में अपना स्थान स्थापित कर ले।

21. स्वभावौचित्य :

रचनाकार की अन्तर्वृत्ति और अन्तर्दृष्टि के लिए क्षेमेन्द्र ने स्वभावौचित्य की स्थापना की है। स्वभाव से तात्पर्य है, 'अपना भाव या मानसिक विचार'। परम्परागत भावनाओं से मनुष्य इस स्वभाव को अर्जित करता है। जैसे सहज सौन्दर्य आकर्षक होता है वैसे ही स्वभावगत औचित्य काव्यात्मक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को बढ़ा देता है।

22. सार-संग्रह औचित्य :

आचार्य क्षेमेन्द्र सार-संग्रहगत औचित्य के द्वारा काव्य-फल के निश्चित अर्थ का संकेत करते हैं। कवि अपने काव्य द्वारा अभीष्ट सत्य को यदि सही ढंग से प्रस्तुत कर पाता है तभी वह पाठकों तक प्रेषणीय बन पाता है। सार-संग्रह कवि के जीवनव्यापी अनुभवों का कोष होता है।

23. प्रतिभौचित्य :

कवि की प्रतिभा का उचित प्रयोग जब काव्य को चमत्कृत कर देता है तो वहाँ पर प्रतिभौचित्य का पालन होता है। उस स्थिति में कविता अधिक प्रभावशाली और व्यंजक हो जाती है।

24. अवस्थागत औचित्य :

अवस्थागत औचित्य का निर्वाह सौन्दर्य-बोध के लिए किया जाता है। सौन्दर्य की विशेषता उसकी समानुरूपता के अनुरूप होती है। सौन्दर्य को सभी अवस्थाओं में महत्त्व दिया जाता है।

25. विचारौचित्य :

काव्य में उचित विचारों का समावेश कर उसे सुन्दर और ग्राह्य बनाना ही विचारौचित्य है। औचित्य की दृष्टि से विचार-विश्लेषण और आत्ममंथन का सूचक है। विचार में पुनरुत्पादन की क्षमता होती है।

26. नामौचित्य :

भारतीय काव्यशास्त्र में नाम विषयक औचित्य के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया गया है। आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि कर्म के अनुरूप नाम के द्वारा गुण एवं दोष को व्यवस्थित रूप से व्याख्यायित किया जा सकता है। ठीक वैसे ही जैसे कर्म के अनुसार यदि किसी व्यक्ति का नाम रख दिया जाए तो वह उचित प्रतीत होता है। ध्यान दिया जाए तो नाम सांसारिक परिचय का एक आवश्यक साधन है।

27. आशीर्वचनौचित्य :

आशी: विषयक औचित्य को आशीर्वचनौचित्य या आशीर्वादौचित्य के रूप में स्वीकार किया गया है। आशीर्वाद से जैसे अभ्युदय होता है वैसे ही काव्य तभी सम्मान का पात्र होता है, जब उसका पूर्ण अर्थ विद्वानों और सहृदयों के हृदय में प्रस्फुटित एवं पल्लवित होने लगे।

10.1.5 औचित्य सिद्धान्त : चिन्तन परम्परा

भारतीय काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास-क्रम में औचित्य सिद्धान्त विवेचन की एक समृद्ध विचार परम्परा परिलक्षित होती है। विभिन्न आचार्यों ने औचित्य सिद्धान्त पर अपने-अपने अनुरूप मत प्रस्तुत किये हैं। प्रमुख मत इस प्रकार हैं –

आचार्य भरत का मत :

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत का विवेचन रस सिद्धान्त पर आधारित है। आचार्य भरत ने रस की दृष्टि से अनुरूपता और अननुरूपता पर विचार करते हुए औचित्य को अनुरूपता के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य भामह का मत :

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य भामह ने चारुता की दृष्टि से औचित्य पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रवृत्तियों में विचार किया है। औचित्य के लिए उन्होंने न्याय और युक्तता जैसे नाम प्रदत्त किये हैं। आचार्य भरत के अनुरूप भामह लोक स्वभाव को औचित्य का प्रेरक तत्त्व स्वीकार करते हैं।

आचार्य दण्डी का मत :

अलंकारवादी आचार्य दण्डी औचित्य के सम्बन्ध में विधिदर्शित मार्ग द्वारा संयम के साथ-साथ अनौचित्य के परिहार का भी संकेत करते दिखाई देते हैं।

आचार्य वामन का मत :

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन दोष की परिभाषा गुण-विपर्यय के रूप में करते हैं। वे दोष को काव्य-सौन्दर्य के लिए त्याज्य मानते हैं। वामन स्पष्टतः औचित्य का विचार न करके परोक्ष रूप से दोषों की चर्चा करते हैं।

आचार्य रुद्रट का मत :

आचार्य रुद्रट लोक मर्यादा को औचित्य के रूप में स्वीकार करते हैं। रसानुकूल भाषा की दृष्टि से रुद्रट ने औचित्य का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन का मत :

आचार्य आनन्दवर्धन औचित्य के प्रतिष्ठापक आचार्य की तरह काव्य के रसबंध में औचित्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने रसाभिव्यक्ति के लिए काव्य में औचित्य की आवश्यकता पर महत्त्व दिया है। इनके औचित्य विवेचन के निम्नलिखित पक्ष हैं – (i) अलंकारौचित्य, (ii) गुणौचित्य, (iii) संघटनौचित्य, (iv) प्रबन्धौचित्य, (v) व्याकरणौचित्य, (vi) नीत्यौचित्य और (vii) रसौचित्य।

10.1.6 पाठ-सार

आचार्य क्षेमेन्द्र का 'औचित्य सिद्धान्त निरूपण' भारतीय काव्य-परम्परा और समाजशास्त्रीय परम्परा का विकास है। साहित्य में औचित्य का कार्य 'उचित का आरोपण' से है। यह उचित आरोपण सौन्दर्य, संगति, व्यवस्था और अनुशासन को व्यवस्थित करता है जिससे काव्य के नैतिक मूल्यों के साथ ही सौन्दर्यात्मक पक्षों का सामंजस्य दिखलाई देता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य के प्रकारों की चर्चा की है और बताया है कि काव्य के अंगों और उपांगों पर औचित्य का व्यापक प्रभाव है। 'औचित्य विचार चर्चा' में क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विभिन्न भेदों का विवेचन किया है। औचित्य भाषा और व्यवहार का उचित सामंजस्य है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति जब सामाजिक मानदण्डों और सहृदय की कसौटी पर खरी उतरती है तभी वह स्थायी आनन्द प्रदान करती है। औचित्य की खोज शाश्वत आनन्द की प्राप्ति की खोज है।

10.1.7 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. औचित्य को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले आचार्य हैं –
   (क) आनन्दवर्धन
   (ख) क्षेमेन्द्र
   (ग) वामन
   (घ) दण्डी

2. 'औचित्य विचार चर्चा' के रचनाकार हैं –
   (क) भरत मुनि

(ख) दण्डी
(ग) अभिनव गुप्त
(घ) क्षेमेन्द्र

3. आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार औचित्य के कितने भेद हैं ?
(क) 12
(ख) 06
(ग) 18
(घ) 27

4. क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य के मुख्य कितने भेद हैं ?
(क) 27
(ख) 56
(ग) 06
(घ) अनन्त

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. औचित्य के अर्थ को परिभाषित कीजिए।
2. औचित्य के कितने भेद हैं ? नामोल्लेख कीजिए।
3. उपसर्ग औचित्य के बारे में बताइए।
4. गुणौचित्य की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. औचित्य सिद्धान्त का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।
2. औचित्य सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/

❖❖❖